ॐ

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला–नवम पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

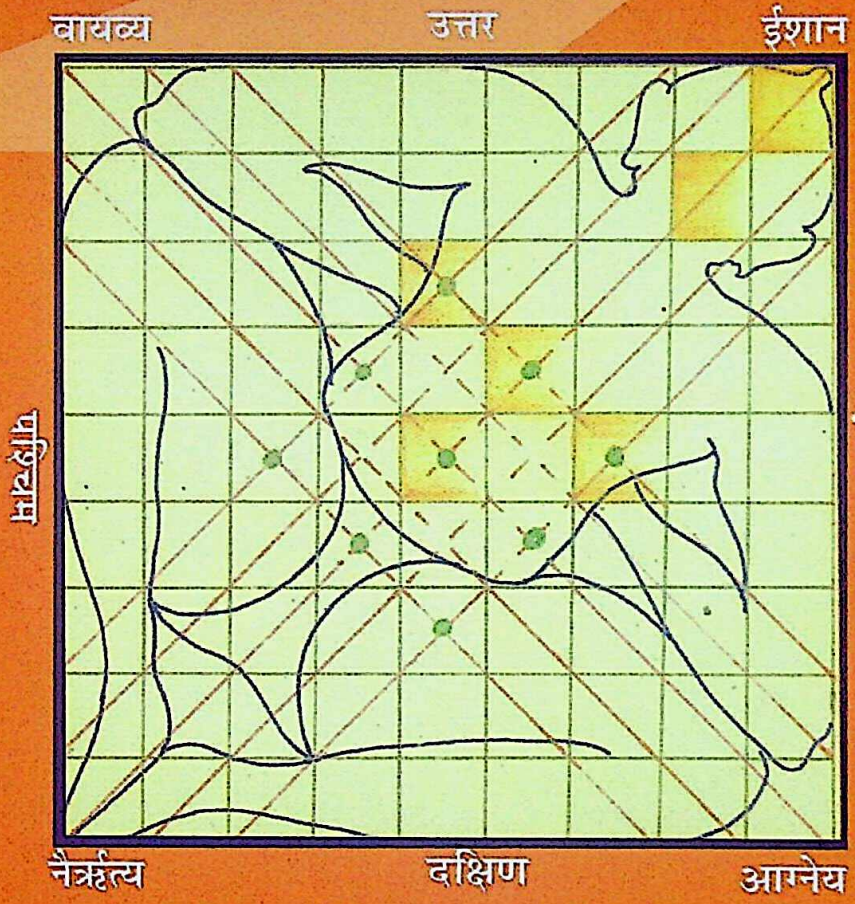

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली-110016

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला–नवम पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

प्रधान सम्पादक
प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय
कुलपतिः

सम्पादक
प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी
आचार्य एवं अध्यक्ष

वास्तुशास्त्र विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
नव देहली–११००१६

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रकाशक–
वास्तुशास्त्र विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली–११००१६

सन्दिर्भित शोधपत्रिका
ISSN :- 0976-4321

© प्रकाशक

संस्करण – २०१६

मूल्य २००/–

प्रकाशक की लिखित पूर्वानुमति के बिना इस ग्रन्थ के किसी भी अंश का अनुवाद या किसी भी रूप में उपयोग करना सर्वथा वर्जित है।

मुद्रक:
अमर प्रिंटिंग प्रैस
दिल्ली–११०००९
९८७१६९९५६५, ८८०२४५१२०८

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पुरोवाक्

भारतीय चिन्तन धारा सर्वदा ज्ञानान्वेषण हेतु अभिप्रेरित करती रही है। ज्ञान अक्षुण्ण एवं नित्य है परन्तु यह ज्ञान उस नवनीत के सदृश है, जो मूलरूप में तो दुग्ध में विद्यमान होता है, लेकिन उसकी प्राप्ति के लिए दुग्ध को दधि में परिवर्तित कर आलोडित करना पड़ता है। वेद न केवल भारत के, अपितु समस्त विश्व के ज्ञानकोश हैं। वेदों में निहित ज्ञान ही किसी न किसी रूप में आज भी इस सृष्टि में दृष्टिगोचर होता है। वेदों से ही अनेक शास्त्रों का प्रणयन हुआ है। वास्तुशास्त्र भी इन्हीं में से एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र है। अथर्ववेद के उपवेद स्थापत्यवेद के रूप में प्राचीन काल से ही विद्वज्जनों में यह शास्त्र अत्यन्त समादृत रहा है। वेदों में वर्णित गृह, यज्ञशाला, पर्णशाला प्रभृति सुन्दर संरचनाएं वास्तुशास्त्र की प्राचीनता एवं उसके प्रति तत्कालीन समाज की अभिरुचि को अभिव्यक्त करती हैं। वैदिक-ऋषि ने वास्तोष्पति के रूप में गृह की चेतना तथा आध्यात्मिक स्वरूप को कल्याणप्रद मानकर उसकी उपासना की है। वे वास्तोष्पति से नित्य अभ्युदय चाहते हुए गृह एवं उसमें निवास करने वाले प्राणियों के कल्याण की कामना करते हैं।[1] वास्तुशास्त्र का शुल्वसूत्रों से बड़ा गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि भवननिर्माण में भू-मापन एवं रेखाचित्रण का महत्वपूर्ण अवदान है। इसके लिए अत्यन्त निपुणता की आवश्यकता होती है। इसीलिए उत्तम शिल्पि व स्थपति के लक्षण को कात्यायन इस प्रकार कहते हैं-

संख्याज्ञः परिमाणज्ञः समसूत्रनिरञ्छकः।
समभूमौ भवेद्विद्वान् शुल्बवित् परिपृच्छकः।।[2]

पुनः उनका कथन है-

शास्त्रबुद्ध्या विभागज्ञः परशास्त्रकुतूहलः।
शिल्पिभ्यः स्थपतिभ्यश्चाप्याददीत मतीः सदा।।[3]

---

1. द्रष्टव्य ऋग्वेद सं. 5/4/21/1-3
2. कात्यायन शुल्वसूत्र सप्तमीकण्डिका सूत्र 03
3. कात्यायन शुल्वसूत्र सप्तमी कण्डिका सूत्र 06

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मानव की मूलभूत आवश्यकताओं में भोजन एवं वस्त्र के उपरान्त निवास स्थान ही महत्त्वपूर्ण है। सर्वप्रथम मानव ने सुरक्षा की दृष्टि से पत्थर, लकडी इत्यादि को जोड़कर अपने लिए जिस आवास की परिकल्पना की, वही परिकल्पना कालक्रमानुसार नियमों व सिद्धान्तों में सुबद्ध होकर स्थापत्य या वास्तुशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुई। वास्तुशास्त्र में दिशा एवं देश के अनुरूप गृहादि निर्माण की प्रविधियों के नियम विवेचित हैं। प्राकृतिक शक्तियों एवं पंचमहाभूतों के तारतम्य व उनके समुचित प्रबन्धन द्वारा प्राणिमात्र की शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं में वृद्धि करने, साथ ही प्राणिमात्र को स्वस्थ व गतिशील बनाये रखने के सदुद्देश्य से वास्तुनिर्माण के मानक सिद्धान्तों का प्रतिपादन वास्तुशास्त्र के प्राचीनाचार्यों ने किया है। वस्तुतः यह शास्त्र मानव की गृहादि सम्बन्धी भौतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने हेतु अस्तित्व में आया है।

प्राचीनकालीन चौंसठ कलाओं में भी वास्तुविद्या की परिगणना प्रतिमादि शिल्प के रूप में प्राप्त होती है।[4] आज भी वास्तुकला (आर्किटेक्चर) के रूप में यह विद्या विख्यात है। यह विद्या वास्तुकला के रूप में जहाँ एक ओर इसके भौतिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती है, वहीं दूसरी ओर भौतिक स्वरूप के साथ साथ आध्यात्मिक स्वरूप को भी अभिव्यक्त करती है। जब तक कला, विज्ञान आदि भौतिक कार्य सुविचारों एवं आदिदैविक धारणाओं के द्वारा नियन्त्रित रहते हैं, तब तक वे जन कल्याणकरी होते हैं परन्तु जैसे ही ये कुविचारों द्वारा प्रभावित होने लगते हैं तो ये जगद्विध्वंसकारी भी बन जाते हैं। अतः कुविचारों पर नियन्त्रण के लिये सद्विचारों से परिपूरित आध्यात्मिक ज्ञान आवश्यक है। भौतिकता को आध्यात्मिकता से नियन्त्रण के सन्दर्भ में वास्तुशास्त्र में ही एक उदाहरण मिलता है कि शिवांशभूत वास्तुपुरुष भी अपेक्षित कार्य सम्पन्न करने के उपरान्त विश्वभक्षण के लिये उद्यत हुआ, जिसे शिवाज्ञा से पंचचत्वारिंशद् (45)देवगणों ने नियन्त्रित किया, इन्हीं देवगणों का वास्तुपुरुष पूजन के अवसर पर वास्तुमण्डल में अधिष्ठातृदेवों के रूप में पूजन होता है, जो नित्य वास्तु को नियन्त्रित कर कल्याण करते हैं। अतः पौराणिक मतानुसार शिव एवं अन्धकासुर संग्राम के समय शिव के स्वेदबिन्दु से वास्तुपुरुष की उत्पत्ति हुई है, जिसको पैंतालीस देवताओं ने पृथिवी पर अधोमुख कर स्थापित किया।[5] इसीलिए वास्तुपदविन्यास के पैंतालीस अधिष्ठातृदेव हैं, जो नित्य वास्तु

4. द्रष्टव्य शुक्रनीतिसार चतुर्थ अधयाय तृतीय प्रकरण एवं कामसूत्र प्रथम साधारणाधिकरण तृतीयाध्याय
5. मत्स्यपुराण अध्याय 252/5-14

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

का कल्याण करते हैं। अतः शास्त्रोक्तपद्धति के अनुसार गृहादिसंरचनाओं के निर्माण होने पर ही ये सुरक्षा एवं सुविधा प्रदान करने के साथ ही आध्यात्मिक उन्नति, सुख व शान्ति भी प्रदान करते हैं। यदि किसी कारण विशेष से गृहनिर्माण के कुछ नियमों का पालन नहीं हो पाता है तो किस प्रकार वास्तुदोष का शमन किया जाय? यह मार्ग भी शास्त्र ही प्रशस्त करता है, क्योंकि प्रसिद्ध है-

यथाबाणप्रहाराणां कवचं वारणं भवेत्।
तद्वदेवोपघातानां शान्तिर्भवति वारणम्।।[6]

वास्तुशास्त्र के मानकग्रन्थों, यथा-विश्वकर्मप्रकाश, मयमतम्, बृहत्संहिता, समरांगणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा आदि, के विधिवत् पठन पाठन से ही प्राचीन भारतीय वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान हो सकता है। इसी उद्देश्य से वास्तुशास्त्र विभाग की स्थापना (सन् 2013) विद्यापीठ में की गई थी। अपनी स्थापना से अब तक के अल्पकाल में ही वास्तुशास्त्र विभाग शास्त्री, आचार्य, विशिष्टाचार्य, विद्यावारिधि, पी. जी. डिप्लोमा,एडवांस डिप्लोमा एवं प्रमाणपत्रीय डिप्लोमा पाठ्यक्रमों के सफलतापूर्वक संचालन के साथ ही विशिष्ट व्याख्यानों का आयोजन आदि अत्यन्त सराहनीय कार्य कर रहा है। इसी सातत्य में उत्तम शोधलेखों से विभूषित 'वास्तुशास्त्रविमर्श' नामक सन्दर्भित शोधपत्रिका का सम्पादन वास्तुशास्त्र विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी विगत वर्षों से बड़े मनोयोग से करते आ रहे हैं। सम्प्रति वास्तुशास्त्र विमर्श के इस नवम पुष्प को सुधी पाठकों के कर-कमलों में सादर समर्पित करते हुए अत्यन्त आनन्द का अनुभव हो रहा है। वास्तुशास्त्र विभाग इसी प्रकार आगे भी समाज की सेवा में अनवरत लगा रहे, इसी शुभकामना के साथ मैं प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी एवं उनके सहयोगियों को इस महनीय कार्य के लिए साधुवाद देता हूँ। आशा है कि इस ज्ञानदीप के प्रकाश से आलोकित होकर वास्तुशास्त्र से सम्बन्धित कई अन्धविश्वास एवं समाज में व्याप्त भ्रम नष्ट होंगे। शमिति।

गुरुपूर्णिमा, वि.सं. 2073
दिनांक 19.07.2016

प्रो. रमेशकुमारपाण्डेय
कुलपति

---

6. भविष्यपुराण, 1/56/30

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सम्पादकीय

विश्वानि देवसवितर्दुरितानि परासुव, यद्भद्रं तन्न आसुव।।[1]

हे समस्त जगत के उत्पादक! समग्र ऐश्वर्य एवं सुखों के दाता सर्वशक्तिमान् सूर्यदेव! आप हमारे समस्त दु:खों एवं पापों को दूर कर जो कुछ भी अच्छा व कल्याणकारी हो, उसे हमें प्राप्त करवायें।

सूर्य अपनी किरणों से जिस प्रकार अन्धकार को दूर करता है, उसी प्रकार ज्ञान हमारे अन्त: करण में छिपे हुये अंधेरे को नष्ट कर देता है। अत: विद्वज्जन सर्वदा ज्ञान की उपासना करते हैं। ज्ञान की मुख्यत: दो शाखाएं हैं विद्या और अविद्या। विद्या आध्यात्मिक ज्ञान एवं अविद्या भौतिकज्ञान है, परन्तु दोनों के सम्मिश्रण से ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त सकता है क्योंकि भौतिक व आध्यात्मिक ज्ञान पृथक् पृथक् रहने पर निष्फल हो जाता है। इसी कारण हमारे आचार्यों ने भौतिक व आध्यात्मिक दोनों से ही संपृक्त ज्ञान को श्रेयस्कर मानकर प्रत्येक शास्त्र को इन दोनों से आबद्ध किया है। यजुर्वेद के चालिसवें अध्याय में इस सन्दर्भ का बहुत सारगर्भित वर्णन उपलब्ध होता है। [2]

वास्तुशास्त्र के मुख्यत: तीन भेद होते हैं-स्थापत्य, शिल्प एवं चित्र । स्थापत्य कला अत्यन्त प्राचीन है। उत्तर वैदिक काल में स्थापत्य को उपवेद के रूप में प्रख्यात वैदिक ऋषि कात्यायन ने स्वीकार करते हुए कहा है कि **'...अथर्ववेदस्य स्थापत्यवेद उपवेद:।'**[3] वैदिक काल में स्थापत्य के अन्तर्गत नगरस्थापना, गृहस्थापना, प्रासादस्थापना एवं जलस्थापना का वर्णन मिलता है। उत्तरवर्ती काल में वास्तुशास्त्र के प्रख्यात आचार्य राजा भोजदेव ने अपने ग्रन्थ समरांगण सूत्रधार में भी वैदिक परम्परा का अनुशरण करते हुए स्थापत्य के चार प्रकार कहे हैं **'चतु:प्रकारं स्थापत्यम्.....'**।[4] चार प्रकार के स्थापत्य में नगर, मानव, देव एवं जलस्थापत्य का वर्णन मिलता है। इसी का विस्तार करते हुये पुन:

---

1. यजुर्वेद 30/03
2. यजुर्वेद 40/12
3. चरणव्यूह पृ. 71, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, संस्करण -2001
4. सम.सूत्र. 10/77

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

समरांगणसूत्रधार कार ने पैंतालिसवें अध्याय में चार प्रकार के स्थापत्य को आठ अङ्गों में विभक्त किया है। यथा-

प्रोक्तं चतुर्धा स्थापत्यं वास्तुतत्वस्य सिद्धये ।
ब्रूमस्तदेव चेदानीमङ्गैः संयुक्तमष्टभिः ।।[5]

समरांगण सूत्रधार कार ने स्थापत्य के आठ अङ्गों को निम्नवत् व्याख्यायित किया है।[6] यथा-

1. **वास्तुपुरुषविकल्पना**-वास्तु पुरुष का सम्बन्ध वास्तुपद् विन्यास (साइट पलान) से है इसे ही वास्तुयोजना (रेखाचित्र निर्माण एवं प्लानिंग आफ हाउस) भी कहते है।

2. **पुरनिवेश**-पुरनिवेश के अन्तर्गत द्वारविन्यास, मार्गविन्यास, प्राकारनिवेश (रक्षाविधान), अट्टालकनिवेश, प्रतोलीनिवेश, जनभवननिवेश, देवायतननिवेश, पुरजनविहारस्थान आदि का वर्णन किया गया है।

3. **प्रासादनिवेश**-प्रासादनिवेश के अन्तर्गत मन्दिरनिर्माणादि प्रक्रिया का विवेचन और मन्दिर से सभी उपांगों के निवेश का वर्णन किया जाता है।

4. **ध्वजोच्छ्रति**-ध्वजोच्छ्रति का अभिप्राय इन्द्र ध्वज उत्थान से है।

5. **राजनिवेश**-राजप्रासाद से सम्बन्धित सभी भवन, जैसे- राजनिवास, रनिवास, राजदरवार, अश्वशाला, गजशाला आदि।

6. **जनभवन**-सभी वर्ण वर्ग के अनुरूप बसाई गई बसतियां एवं भवन आदि।

7. **यज्ञमण्डप**-यज्ञ में उपयोग आने वाले सभी विन्यास, जैस- यज्ञवेदी, यज्ञमानशाला आदि ।

8. **राजशिविर**-राजशिविर विन्यास एवं दुर्ग संरचना आदि।

समरांगणसूत्रधार[7] ने कहा है कि सभी प्रकार की स्थापना को व्यवस्थित करने के लिए स्थपति को वास्तुविद्या के आठ अङ्गों (१. सामुद्र २. गणित ३. ज्योतिष ४. छन्दस्

5. सम.सूत्र. 45/01
6. सम.सूत्र. 45/02-10
7. सम.सूत्र. 44/3-4

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

५. सिरा-ज्ञान ६. शिल्प ७. यन्त्र ८. कर्मविधि) का ज्ञाता होना चाहिए तभी वह वास्तुसम्मत स्थापत्य की स्थापना कर सकता है।

ब्राह्मण काल में शिल्प शब्द नृत्य गीत तथा वाद्य के लिए प्रयुक्त होता था यथा-**त्रिविधो शिल्पं, नृत्यं गीतं वादित्रमिति**[8] कालान्तर में नृत्यादि ललितकला के अन्तर्गत परिगणित होने लगे। रामायण में 'शिल्प' व 'कला' इन दोनों शब्दों को भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। यथा - **'नाना शिल्पकलाश्च'**[9]।

इस युग में शिल्पियों का प्रमुख कार्य यज्ञवेदियों का निर्माण करना[10] तथा मार्ग बनाना[11] था। कालान्तर में शिल्पियों के अन्तर्गत स्थपति (भवन-निर्माता), सूत्रग्राही (बढई), तक्षक (मूर्तिकार) और मृण्मर्मज्ञ (कुम्भकार) आदि भी गिने जाने लगे। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में विश्वकर्मा के नौ पुत्रों को 'शिल्पकारिणः' नाम से संबोधित किया गया है, जिनके नाम थे - १. मालाकार (माली) २. कर्मकार (लुहार) ३. शंखकार (शंख पर काम करने वाला) ४. कुविन्दक (कोरी या जुलाहा) ५. कुम्भकार (कुम्हार) ६. कांसकार (कसेरा) ७. सूत्रधार (बढ़ई) ८. चित्रकार और ९. स्वर्णकार (सुनार)। अग्निपुराण में एक सहस्र शिल्पों का निर्देश है और उन्हें जीविकोपार्जन का माध्यम बताया गया है[12]। इन पुराणग्रन्थों में चित्रकला को शिल्प का ही एक अंग मानकर उसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में प्रयुक्त 'शिल्प' शब्द अनेकार्थक है। पाणिनी ने अष्टाध्यायी में शिल्प शब्द को चारु (ललित) और कारु(उद्योग) दोनों के लिए प्रयोग किया है। आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के 'धर्मस्थीय' नामक अधिकरण में कारुक शिल्पियों की नामावली और उनके कार्यो की तालिका दी है।

ज्योतिषशास्त्र के त्रिस्कन्धमर्मज्ञ आचार्य वराहमिहिर द्वारारचित बृहत्संहिता के 53,56,57,58 और 79 अध्यायों में वास्तु, शिल्प और कला का सुन्दर विवेचन किया गया है। शिल्पशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थों की संख्या अनुमानतः दो सौ से अधिक है। शिल्प के

---

8. कौषीतकी ब्रह्मण २९/५
9. रामायण १/३०१/५
10. रामायण ,बाल 14/25
11. रामायण बाल 79/13
12. अग्निपुराण 28/40-42-

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ग्रन्थों का उद्धार करने वाले विद्वानों में म. म. पं. गणपति शास्त्री का नाम उल्लेखनीय है। उनके द्वारा शिल्पशास्त्र पर सम्पादित ग्रन्थों के नाम हैं–1. वास्तुविद्या 2. मयमतम् 3. मनुष्यालयचन्द्रिका 4. शिल्परत्नम् और 5. समरांगणसूत्रधार । प्राचीन शिल्पशास्त्र के विधानों के अनुसार मूर्त्तियों का निर्माण करने वाले उडीसा के वर्तमान शिल्पकारों के पास आज भी अनेक महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थ इस विषय पर उपलब्ध होते हैं, जैसे– भुवनप्रवेश, शिल्पसदाजय, शिल्पशास्त्र आदि। म. म. पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी की पुस्तक मध्यकालीन भारतीय संस्कृति में (पृ. 107,1951) 1. वास्तुसौख्य 2. अपराजित वास्तुशास्त्र 3. प्रासादानुकीर्तन, 4. चक्रशास्त्र, 5. चित्रपट, 6. जलार्गल, 7. पक्षिमनुष्यालयलक्षण 8. रथलक्षण 9. विमानविद्या 10. विमानलक्षण 11. विश्वकर्मीय 12. कौतुक लक्षण 13. मूर्तिलक्षण 14. प्रतिमाद्रव्यादि वचन 15. सकलाधिकार 16. सारस्वतीय समरांगण सूत्रधार 17. विश्वकर्मीयशिल्प आदि अनेक शिल्पविषयक ग्रन्थों की नामावली दी गई है।

द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल जी ने भोज के समरांगण सूत्रधार पर शोधकार्य किया व उसे पांच खण्डों में प्रकाशित कराया। इस शोध प्रबन्ध में उन्होने शिल्पशास्त्र पर यथासंभव समस्त सामग्री का विश्लेषण किया है। इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में उन्होंने शिल्पशास्त्र विषयक 194 ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की है। मानसार में 32 शिल्प के आचार्यों का उल्लेख हुआ है। शिल्प विषयक ग्रन्थों की रचना विश्वकर्मा से लेकर लगभग 16 वीं शताब्दी तक निरन्तर होती रही। श्री कुमार का 'शिल्परत्न' इस कड़ी का अन्तिम प्रौढ़ ग्रन्थ है, जिसकी रचना 16 वीं शताब्दी में हुई।

शिल्पग्रन्थों में वार्ता, शिल्प, व्यवसाय, राजनीति, धर्मशास्त्र, पशुपालन और अर्थशास्त्र आदि अनेक विषयों का एक साथ समन्वय है। इनमें से कुछ ग्रन्थों में चित्रकर्म पर भी चर्चायें प्राप्त होती है। उन ग्रन्थों में विश्वकर्मप्रकाश, मयमतम्, मानसार, चित्रसूत्र, चित्रलक्षण, चित्रकर्म, शिल्पशास्त्र, समराङ्गणसूत्रधार, कलाविलास, मानसोल्लास, वृतान्तप्रकरण और शिल्पकलादीपिका प्रमुख हैं। इनमें भी विष्णुधर्मोत्तरपुराण का चित्रसूत्र, नग्नजित् का 'चित्रलक्षण' भोज रचित 'समरांगणसूत्रधार' व सोमेश्वर का मानसोल्लास विशेष हैं। तिब्बत से प्रकाशित तजूर ग्रन्थमाला के 123 खण्डों में चार खण्ड शिल्पविषयक है। ये शिल्पसंबंधी चार ग्रन्थ है– 1. दशतलन्यग्रोध परिमण्डल बुद्ध प्रतिमा 2. संबुद्धभाषित प्रतिमालक्षण विवरण 3. प्रतिमामानलक्षण 4. चित्रलक्षण । चित्रकला पर चित्रलक्षण ही

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रौढ रचना है। उसके मंगलाचरण में कहा गया है कि वह विश्वकर्मा और नग्नजित् द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों का संग्रह है।

ऋग्वेद में भृगुऋषि के वंशजों को लकडी के काम का विशेषज्ञ बताया गया है, जिसका उपयोग वे अपने अवकाश के समय किया करते थे।[13] ऋग्वेद में चर्म पर अग्निदेव का चित्र अंकित किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[14] ऋग्वेद में विशाल(बृहत्तर), सुनहरी (हिरण्यमयी), द्वारदेवियों (द्वारादेवी:) को यज्ञशालाओं की चारों चोखट पर अंकित करने का वर्णन है।[15] यज्ञशालाओं के द्वारों पर स्वर्णांकित इन देवी आकृतियों को पाणिनी ने 'प्रतिकृति' कहा है। इन प्रतिकृतियों की पूजारी (अर्चावान्) पूजा करते थे और वे ही उनकी आजीविका का साधन थे इस संबध में ऋग्वेद की दो ऋचायें[16]बडे महत्व की हैं। इस प्रकार ऋग्वेद काल से ही कला के प्रमाण प्राप्त होते हैं। उपनिषदों में तो वर्णन है कि ब्रह्म की आनन्दमय सत्ता सोलह कलाओं द्वारा उद्भासित है- यह पृथिवी कला है, यह अन्तरिक्ष कला है, यह द्यु-लोक कला है, यह समुद्र कला है, अग्नि कला है, सूर्य कला है, विद्युत कला है[17], ब्रह्म का प्राण कला है, चक्षु कला है, श्रोत्र कला है और मन भी कला है[18]। विद्यारण्य मुनि रचित पञ्चदशी वेदान्त दर्शन की महानतम कृति के रुप में विश्रुत है। इस ग्रन्थ के 'चित्रदीप' संज्ञक छठे प्रकरण में चित्रशास्त्र के विधानों के अनुसार ब्रह्मतत्व पर विचार किया गया है, उन्होंने वेदान्त के गूढतम सिद्धान्तों को समझाने के लिए चित्रकला जैसे माध्यम को अपनाया है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार कला, कला के लिए नहीं है, उसका उद्देश्य तो मनुष्य को अपने आप में सीमित न रखकर उसे परम तत्व की ओर ले जाना है। जिससे परमानन्द प्राप्ति हो सके वही श्रेष्ठ कला है।

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला परा।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥[19]

इस प्रकार चित्रकला की परम्परा वैदिककाल से प्रारम्भ होकर विकसित होती गई। जिसका उत्तरोत्तर साहित्य में विस्तार प्राप्त होता है। रामायण व महाभारत काल तक चित्र,

13. ऋग्. 10/39/14
14. ऋग्. 1/1/45
15. ऋग्. 1/1/5
16. (9/5/5) (10/110/5)
17. छान्दोग्य 4/5/2 4/7/3
18. छान्दोग्य 4/8/3
19. उद्धृत भारतीय चित्रकला, वाचस्पति गैरोला, पृ. सं. 77

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

स्थापत्य एवं शिल्पकला के विभिन्न अंगों का अनेक उपांगों में पूर्ण विकास हो चुका था। इसी परम्परा में पुराणों (हरिवंश, अग्नि, मत्स्य, स्कन्ध, गरुड, पद्म, विष्णुधर्मोत्तर आदि), अष्टाध्यायी, अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र कालिदास की रचनाओं, कामसूत्र, बृहत्संहिता, कादम्बरी, हर्षचरित, दशकुमारचरित, कुट्टनीमत, तिलकमञ्जरी, कथासरित्सागर, काव्यप्रकाश एवं नैषधचरित आदि में इनका उत्तरोत्तर विकास दृष्टिगोचर होता है।

संस्कृत साहित्य की परम्परा के अतिरिक्त यदि पुरातात्विक अवशेषों के आधार पर विचार किया जाय तो स्पेन, फ्रांस, दक्षिण रोडेशिया, पेरु, अलास्का, लौसेक्स और भारत आदि संसार के विभिन्न देशों में आदि युग की चित्रांकित गुफायें प्राप्त हुई हैं। प्रागैतिहासिक मानव ने किस प्रकार अपनी संस्कृति, सभ्यता और भाव-विचारों का विकास किया, इन चित्रों के माध्यम से वे तथ्य प्रकाश में आ चुके हैं। भारत में मध्यप्रदेश के आदमगढ, भीमबैठका, रायगढ, बिहार के चक्रधरपुर, सिहंनपुर, होशंगाबाद और मिर्जापुर के लिखुनिआं, कोहर तथा भल्डरिया आदि स्थानों से ये चित्र प्राप्त हुए हैं। ये चित्र नाना प्रकार के हैं। जैसे -हाथी, चीता,बाघ, रीछ, वराह, हरिण आदिका आखेट करते हुए मनुष्य, धनुष बाण को लेकर दो दलों में संघर्ष, पशु चराते चरवाहे, बैल, घोडे, कुत्ते, बकरी, गभिर्णी गाय, छत्ते से मधु निकालते हुए मानव आदि अनेक चित्र हैं। इसके उपरान्त भारत में सिन्धु नदी घाटी सभ्यता में शिलाओं, मृत्तिकापात्रों पर अंकित फूल, पत्ती, जीव-जन्तुओं तथा मानव की कलाकृतियां प्राप्त होती हैं। सिन्धु घाटी की चित्रमय मुहरें भारतीय कला के प्रथम जीवित प्रमाण हैं। हडप्पा और मोहनजोदडों से प्राप्त कांसे की तन्वंगी नर्तकी प्रस्तरीय धड़, वृषभ और वह मुहर जिस पर पशुओं के बीच त्रिशूलधारी मानव आसन लगाकर बैठा है, ये सभी अतीतकालीन भारत की कला के प्रति अभिरुचि के अमिट प्रमाण हैं। प्राचीन समय में लिपियों का विकास भी चित्रों से ही आरम्भ हुआ। सिन्धु घाटी की लिपि भी पूर्ण रूप से चित्रमय है। आज भी चीन की भाषा चित्ररूप में ही लिखी जाती है। इस प्रकार मनुष्य की चित्ररूप में भावाभिव्यक्ति प्राचीनतम भी है व अद्यतन भी। आज चित्रों का विशाल संसार हमारे चारों ओर विद्यमान है। जो कि आने वाले समय में और भी विस्तार को प्राप्त होगा। सभी कलाओं में चित्रकला को बहुत से आचार्यों ने सर्वोत्तम स्थान प्रदान किया है। भारतीय समग्र ज्ञान का मापन पुरुषार्थ चतुष्टय के ध रातल में ही किया जाता है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भारतीय चिन्तन में कोई भी शास्त्र, कला या विज्ञान पुरुषार्थ चतुष्टय के विना ग्राह्य एवं पठनीय नहीं होता। भारतीय समाज में चित्रों का सर्वाधिक महत्त्व है गृहों की सजावट एवं धार्मिक क्रिया कलाप में चित्रों के विना कुछ भी सम्भव नहीं है। इसी को आधार मानते हुये अनुमानतः वास्तुशास्त्र के आचार्यों ने अपने मानक ग्रन्थों में वास्तुसज्जा के रूप में योज्यायोज्य के नाम से स्वतन्त्र अध्याय में गृहों एवं देवालयों में चित्रों को लगाने के शुभाशुभ का विचार किया है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के चित्रसूत्र प्रकरण में वर्णन मिलता है कि कलाओं में चित्रकला सर्वोत्तम है। चित्रकला की साधना से धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूपी सभी पुषार्थो की प्राप्ति होती है। घरों एवं पूजास्थलों में चित्रलेखन एवं चित्रसंयोजन के अतिरिक्त मंगलकामना करना असम्भवसा प्रतीत होता है। यथा-

कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम्।
मांगल्यं प्रथमं ह्येतद् गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्।।[20]

अतः स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल से ही वास्तुशास्त्र भारतीय समाज में अत्यन्त सम्मानित रहा है। जीवन को सुव्यवस्थित एवं सुसंस्कृत बनाने में वास्तु रूपी विज्ञान एवं कला का सर्वाधिक योगदान रहा है। वास्तुशास्त्रानुरूप निर्मित उत्तम गृहादि ही सुख-समृद्धि एवं चतुर्वर्गफल प्राप्ति में सहायक होता है। योग्य एवं कुशलस्थपति के विना गृह में आनन्द, स्फूर्ति, कार्यक्षमता, सुख, शान्ति की कामना करना व्यर्थ है। सम्प्रति समाज में सम्यक् शास्त्रीय स्थपतियों का अभाव सर्वत्र दिखाई देता है। सैद्धान्तिक पक्ष में निपुण वास्तुशास्त्री व्यावहारिक पक्ष से अधिकांशतः अपरिचित होते हैं तथा क्रियापक्ष में निपुण शिल्पी प्रायः कला के सैद्धान्तिक पक्ष से अनभिज्ञ होते हैं। सम्प्रति संस्कृतभाषा में निबद्ध वास्तुशास्त्र के मानकग्रन्थों का अध्ययन एवं प्रचार-प्रसार प्रायः समाज में नहीं दिखाई देता है। इसी लिए इस शास्त्र के सम्यक् शास्त्रीय ज्ञानाभाव के कारण समाज को भयंकर परिणाम भुगतने पड़ रहे हैं। इस शास्त्र के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक दोनों पक्षों के अध्ययन अध्यापन में श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) का वास्तुशास्त्र विभाग निरन्तर क्रियाशील है। इसी दृष्टि से विद्वानों शोधार्थियों एवं जिज्ञासुओं के निबन्धों से सुसज्जित **वास्तुशास्त्रविमर्श** का प्रकाशन विगत कई वर्षो से विभाग द्वारा अनवरत किया जा रहा है।

---

20. चित्रसूत्रम् 43/38 उद्धृत भारतीय चित्रकला, भूमिका वाचस्पति गैरोला, पृ. सं. 13

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इस **वास्तुशास्त्र विमर्श** के नवम पुष्प के प्रकाशन के शुभावसर पर मैं सर्वप्रथम संस्कृत व संस्कृति के संरक्षक परमश्रद्धेय यशस्वी कुलपति महोदय प्रो. रमेशकुमार पाण्डेय जी को सादर अभिनन्दन पूर्वक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनके सन्मार्गनिर्देशन एवं संरक्षकत्व में वास्तुशास्त्र विभाग का यह पुष्प सुधी पाठकों के करकमलों में समर्पित है। इस अवसर पर मैं पुण्यस्मरण पूर्व कुलपति स्व. प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी एवं पूर्व ज्योतिषविभागाध्यक्ष स्व. प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी जी को श्रद्धासुमन समर्पित करता हूँ, जिनके शुभाशीर्वाद से वास्तुशास्त्रविभाग पल्लवित एवं पुष्पित हो रहा है। इस प्रकाशन कार्य में कुशल प्रशासक कुलसचिव डॉ. विजयकुमार महापात्र का सराहनीय योगदान रहा है, एतदर्थ मैं उन्हें कृतज्ञता पूर्वक धन्यवाद देता हूँ। इसी सन्दर्भ में शोध एवं प्रकाशन समिति के सदस्यों (त्रिस्कन्धज्योतिषशास्त्र के मूर्धन्यविद्वान् प्रो. ओंकारनाथ चतुर्वेदी, पं. रामदेव झा एवं ज्योतिष विभाग के डॉ. सुशीलकुमार डॉ. रश्मिचतुर्वेदी) तथा अन्य विभागीय समस्त विद्वानों को भी हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ, जिनके सत्परामर्श एवं सहयोग से **वास्तुशास्त्रविमर्श** का यह पुष्प प्रकाशित हो सका। मुद्रणकार्य हेतु अमर प्रिंटिंग प्रेस एवं अन्य सभी सहयोगी सुहृदजनों का हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। शमिति।

प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी
अध्यक्ष वास्तुशास्त्रविभाग

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शोध एवं प्रकाशन समिति

1.	प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी, वास्तुशास्त्र विभागाध्यक्ष	अध्यक्ष
2.	प्रो. ओंकारनाथ चतुर्वेदी	सदस्य
3.	प्रो. रामदेव झा	सदस्य
4.	डॉ. सुशील कुमार	सदस्य
5.	डॉ. रश्मि चतुर्वेदी	सदस्य

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

विषयानुक्रमणिका

1. नाट्यगृहशिल्पविधानम्	**प्रो. हंसधरझा** आचार्योऽध्यक्षश्च, ज्योतिषविभागः राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, भोपालपरिसरः (म.प्र.)	1-6
2. गृह्यसूत्रेषु वास्तुशान्तिविधानम्	**डॉ. मुष्टि वेंकटनागपवनकुमारशर्मा** सहाचार्य आपस्तम्बपौरोहित्यविभागः, श्रीवेंकटेश्वरवेदविश्वविद्यालयः, तिरुपतिः (आ.प्र.)	7-11
3. देवप्रासादविज्ञानम्	**डॉ. देशबन्धुः** सहायकाचार्यः, संस्कृतविभागः, डॉ. भीमरावअम्बेडकरविश्वविद्यालयः, आगरा (उ.प्र.)	12-18
4. वास्तुनि दार्शनिकतत्त्वानि	**डॉ. सच्चिदानन्दस्नेही** सहायकाचार्यः (सर्वदर्शनम्), ज.ना.ब्र.आदर्शसंस्कृतमहाविद्यालयः, लगमा, रामभद्रपुरम्, दरभंगा, (बिहार)	19-27
5. भूखण्डीकरणविधिः	**डॉ. मुरलीकृष्ण टि.** अं.का.शिक्षक, रा.सं.संस्थान्, राजीवगान्धीपरिसरम्, (कर्नाटकः) शृंगेरी	28-31
6. पिण्डसाधनविमर्श	**डॉ. गणेशत्रिपाठी** शोधच्छात्रः, काशीहिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी (उ.प्र.)	32-35
7. वैदिकवाङ्मये वास्तुविद्यायाः दिग्दर्शनम्	**श्री शिवप्रसादरैना** शोधच्छात्रः, श्रीला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठम्, नवदेहली-16	36-44
8. जीर्णादिशिवलिङ्गन्यासविधानम्	**श्रीविजयकुमारः** शोधच्छात्रः, रा.सं.संस्थानम्, भोपालः परिसरः, भोपालः (म.प्र.)	45-61

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

9. ग्रामविन्यासः	**श्री गणेशदत्तचतुर्वेदी** शोधच्छात्रः, श्रीला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठम्, नवदेहली-16	62-44
10. मनुष्यालयचन्द्रिका : ग्रन्थविमर्शः	**श्री दीपकवशिष्ठः** शोधच्छात्रः, श्रीला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठम्, नवदेहली-16	75-80
11. भूगर्भस्थजलान्वेषणविधिः	**श्रीनवीनपाण्डेयः** शोधच्छात्रः, श्रीला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठम्, नवदेहली-16	81-93
12. वनस्पतिमहत्त्वम्	**डॉ. रामबाबूपाण्डेयः** आ. तु. सर्वोदयविद्यालयः, छत्तरपुरम् नवदेहली	94-99
13. दिनमान	**पं.देवनारायण झा** सेवानिवृत्त अध्यापक, झिटकहिया, मुजफ्फरपुर, बिहार	100-104
14. सांस्कृतिक धरोहर एवं परिवर्तन	**डॉ. वागीश शर्मा 'दिनकर'** प्राचार्य, आर.एस.एस.(पी.जी.) कॉलेज, पिलखुवा, हापुड़ (उ.प्र.)	105-112
15. वास्तुशास्त्र की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि	**डॉ. अशोक थपलियाल** सहायकाचार्य, ज्योतिषविभाग, रा.सं.संस्थान, श्रीरघुनाथकीर्तिपरिसर, देवप्रयाग, उत्तराखण्ड	113-119
16. वास्तुसौख्यम् : ग्रन्थविमर्श	**डॉ. प्रवेश व्यास** अं.का.शिक्षक, रा.सं.संस्थान, जयपुर परिसर, जयपुर, राजस्थान	120-127
17. कुण्ड-मण्डप का वास्तुशास्त्रीय स्वरूप	**डॉ. रामेश्वर दयाल शर्मा** अं.का.शिक्षक, रा.सं.संस्थान, जयपुर परिसर, जयपुर, राजस्थान	128-135

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

18. दिग्ज्ञान	**डॉ. सुरेश शर्मा**, संविदा अध्यापक, श्री माता वैष्णो देवी गुरुकुल, कटरा, जम्मू	136-139
19. वास्तुसम्मत शयनकक्ष	**डॉ. रीतिका जैन** **श्री योगेन्द्रशर्मा** शोधच्छात्र, श्रीला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठ, नई दिल्ली	140-154
20. शिशुपालवध महाकाव्य में वास्तुशास्त्रीय चिन्तन	**श्री पीयूष पाण्डेय** शोधच्छात्र दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	155-158
21. मापन विधान	**श्री कन्हैया कुमार झा** शोधच्छात्र, श्रीला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठ, नई दिल्ली	159-164
22. शिक्षण में वास्तुशास्त्र का वैशिष्ट्य	**श्री वीरेन्द्र सिंह चौधरी** शोधच्छात्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	165-172
23. देवीप्रतिमा विमर्श	**कु. रितिका अग्रवाल** शोधच्छात्र, श्रीला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठ, नई दिल्ली	173-180
24. Energy conservation and open spaces in Building	**डॉ. मुनीष शर्मा** सहाचार्य, कालेज ऑफ आर्किटेक्चर, आई.ई.टी., भड्डल, रोपर, पंजाब	181-188

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

नाट्यगृहशिल्पविधानम्

प्रो. हंसधरझाः

'इहादिर्नाट्ययोगस्य नाट्यमण्डप उच्यते'।[1] श्लोकार्धेऽस्मिन् नाट्यप्रसङ्गे नाट्यगृहस्य प्राथम्यं प्रतिपादितम् भरतमुनिना। नाट्यशास्त्रे हि द्वितीयाध्याये विशेषेण नाट्यगृहविषयकं विवेचनं कृतं भरतेन। तत्र मुख्यरूपेण विकृष्टं चतुरस्रं त्र्यस्रं चेति त्रिविधं नाट्यगृहं प्रतिपादिम्। यथा-

त्रिविधः सन्निवेशश्च शास्त्रतः परिकल्पितः।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव तु मण्डपः।।[2]

तत्प्रत्येकमपि ज्येष्ठमध्यमकनिष्ठभेदैस्त्रिविधाम्। यथा-

तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथाऽवरम्।
प्रमाणमेषां निर्दिष्टं हस्तदण्डसमाश्रयम्।।[3]

एवं नवविधेषु नाट्यगृहेषु विकृष्ट-चतुरस्र-त्र्यस्र-नाट्यगृहाणामेकैकस्य प्रकारस्य वर्णनमुपलभ्यते नाट्यशास्त्रे। तत्र विकृष्टनाट्यगृहं वर्णयता भरतेन लिखितं यदस्य पूर्वापरं दैर्ध्यं चतुःषष्टिहस्तमितं, दक्षिणोत्तरा च विस्तृतिर्द्वात्रिंशद्धस्तमिता भवेत्। तद् यथा-

चतुःषष्टिकरान्कुर्याद् दीर्घत्वेन तु मण्डपम्।
द्वात्रिंशतं च विस्तारान् मर्त्यानां यो भवेदिह।।[4]

एवमुपर्युक्तदैर्ध्यविस्तारपरिमितभूमौ सर्वप्रथमं शास्त्रोक्तविधानेन खातं कृत्वा ततः शिलान्यासं भित्तिं च विधाय स्तम्भस्थापनं कुर्यादित्युक्तम्। यथा-

भित्तिकर्माणि निर्वृत्ते स्तम्भानां स्थापनं ततः।[5]

एवं नाट्यगृहभूमेराग्नेय्यादिषु चतुर्षु कोणेषु चत्वारो दृढाः स्तम्भा ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रसंज्ञकाः स्थापयितुं निर्दिष्टाः। तेषु च स्तम्भेषु क्रमशः श्वेत-रक्त-पीत-नीलपदार्थानामुपयोगो भवतिस्म। यथा[6]-

---

1. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 3
2. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 8
3. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 9
4. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 20
5. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 50

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रथमे ब्राह्मणस्तम्भे सर्पिः सर्षपसंस्कृते।
सर्वशुक्लो विधिः कार्यो दद्यात्पायसमेव च॥

ततश्च क्षत्रियस्तम्भे वस्त्रमाल्यानुलेपनम्।
सर्वं रक्तं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च गुडौदनम्॥

वैश्यस्तम्भे विधिः कार्यो दिग्भागे पश्चिमोत्तरे।
सर्वं पीतं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च घृतौदनम्॥

शूद्रस्तम्भे विधिः कार्यः सम्यक् पूर्वोत्तराश्रये।
नीलप्रायं प्रयत्नेन कृशरा च द्विजाशनम्॥

अपि च -

पूर्वोक्तब्राह्मणस्तम्भे शुक्लमाल्यानुलेपने।
निक्षिपेत्कनकं मूले कर्णाभरणसंश्रयम्॥

ताम्रं चाधः प्रदातव्यं स्तम्भे क्षत्रियसंज्ञके।
वैश्यस्तम्भस्य मूले तु रजतं सम्प्रदापयेत्॥

शूद्रस्तम्भस्य मूले तु दद्यादायसमेव च।
शेषेष्वपि च निक्षेप्यं स्तम्भमूले तु काञ्चनम्॥

अत्र ध्यातव्यमिदमस्ति यन्नाट्यगृहनिर्माणेक्रमे आचार्यभरतेन तत्सर्वमपि नियमपालनं निर्दिष्टं यत् खलु वास्तुरचनाक्रमे ज्यौतिषशास्त्रीयं विधानमपेक्षितं भवति। एवं विहितसूत्रेण विहितमुहूर्तेषु खातखननं शिलान्यासं भित्तिनिर्माणञ्च विधाय पूर्वोक्तस्य समग्रस्य क्षेत्रस्य पूर्वापरं भागद्वयं विधेयम्। तत्र यः पूर्वार्धभागः स प्रेक्षकाणामुपवेशनाय प्रेक्षागृहत्वेन व्यवस्थापितः। अपरार्धभागश्च योऽवशिष्टस्तस्य पुनः पूर्वापरं भागद्वयं विधाय तत्र पश्चिमार्धे नेपथ्यगृहं निर्धारितम्। भागस्यास्योपयोगः पात्राणां कृते वेशभूषोपयोगार्थं भवति स्म। अथ च नेपथ्यञ्च प्रेक्षागृहञ्चान्तरा योऽवशिष्टो भागस्तस्यापि पूर्वापरौ समौ विभागौ विधाय, तत्र प्रेक्षागृहसंलग्नभागस्योभयपार्श्वतः अष्टहस्तात्मकौ चतुस्रभागौ विहाय मध्ये योऽवशिष्टः षोडशाष्टहस्तपरिमितदैर्ध्य-विस्तारविशिष्ट आयताकारको भागः रङ्गपीठत्वेन निर्दिष्टः। अथ च नेपथ्यभागसंलग्नमवशिष्टं भागं त्रिधा विभज्य मध्यभागेऽष्टहस्तात्मके चतुरङ्गेरङ्गशीर्षस्य कल्पनास्ति। रङ्गशीर्ष रङ्गपीठञ्चोभेऽपि नटवर्गाय नाट्यप्रयोगप्रदर्शनार्थं व्यवस्थापिते आस्ताम्। यथा-

चतुःषष्टिकरान कृत्वा द्विधा कुर्यात्पुनश्च तान्।
पृष्ठतो यो भवेद् भागो द्विधाभूतस्य तस्य तु ॥

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सममर्धविभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्।

पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत्।
विभज्य भागान् विधिवद् यथावदनुपूर्वशः।।[7]

रङ्गपीठस्योभयतो यौ चतुरस्रौ तयोश्चतुर्षु कोणेषु चत्वारश्चत्वारः स्तम्भा निर्मीयन्ते स्म। यथा- **चतुःस्तम्भसमायुक्ता वेदिकायास्तु पार्श्वतः।**[8] स्तम्भा एते विशेषेणोन्नता भवन्ति स्म। एतेषामुपरि गजपरिष्टोम (हौदा) इव सूच्याग्रस्तम्भा भवन्ति स्म। भागद्वयमिदं मत्तवारिणीपदेनाख्यातम्। यथा-

रङ्गशीर्षस्य पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता रङ्गपीठप्रमाणतः।।[9]

अनयोरुपयोगः कक्ष्यारूपेण भवति स्म। मत्तवारिण्योराधारभूमी रङ्गपीठञ्चेत्युभेऽपि सम्मुखस्थप्रेक्षागृहभूमितः सार्धैकहस्तमिते उन्नते भवेतामित्युक्तं नाट्यशास्त्रे। यथा-

अध्यर्धहस्तोत्सेधेन कर्तव्या मत्तवारिणी।
उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रङ्गमण्डपम्।।[10]

अथ च नेपथ्यभूमिं रङ्गपीठं चान्तरा रङ्गशीर्षाख्यको भागो भवित स्म, यत्र हि षड्दारुमयाः स्तम्भा भवन्ति स्म। एतत्स्तम्भविषये विवेचयताऽभिनवगुप्तेन लिखितं यत्- **'नेपथ्यभित्तिलग्नौ स्तम्भौ अष्टहस्तान्तरावन्योन्यं निवेश्य तयोस्सम्मुखं तदपेक्षया चतुर्हस्तान्तरं स्तम्भद्वयं तेषामधस्तनं कार्यं स्तम्भद्वयमिति षट'।**[11] अर्थाद्रङ्गशीर्षस्य चतुर्षु कोणेषु चत्वारः स्तम्भा भवन्ति स्म। तथा तत्रोभयपक्षयोः स्थितयोर्द्वयोरपि स्तम्भयोः साक्षान्मध्यभागयोरेकैकः स्तम्भो भवति स्म। मन्ये एतन्निर्दिष्टयोः स्तम्भयोस्तथा नेपथ्यसंलग्नयोः स्तम्भयोः सहाय्येन मृच्छकटिकवर्णितोद्दामच्छदिः, अथवा रत्नावल्यां निर्दिष्टप्रासाद इत्यादिकस्य प्रदर्शनं क्रियते स्म। अथवा भागाविमौ पीठस्य साक्षात्पृष्ठस्थित्वात् प्रसङ्गवशादत्रैव तिरस्करणीं प्रयुज्यैककालावच्छेदन भिन्नो भिन्नो द्वौ प्रसङ्गौ प्रदर्श्येते स्म। यथा भवभूतेरुत्तररामचरिते एकस्मिन्नेव काले रामवासन्त्योस्तथा सीतातमसयोः पृथक्-पृथक् पारस्परिकवार्तालापयोः प्रसङ्गौ स्तः। मन्ये, एवम्भूतयोः प्रदर्शनमत्रोभयोर्भागयोरेकस्मिन्नेव काले क्रियते स्म, येन तौ द्वापि युग्मौ परस्परदृष्टौ न स्याताम्, परं प्रेक्षकाणां दृष्टगौ भवेतामिति। अथ चात्र रङ्गशीर्षस्य भूमिरन्यभागापेक्षया किञ्चिदुन्नता भवति स्म।

---

6. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 53-59
7. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 40-42
8. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 105
9. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 70
10. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 71
11. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 39

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

समुन्नतं समञ्चैव रङ्गशीर्ष तु कारयेत्।
विकृष्टेरून्नतं कार्यं चतुस्त्रां समं तथा।।[12]

एवम्मध्यमनाट्यगृहेऽत्र द्वाराणि पञ्च भवन्ति स्म, यत्रैकं प्रेक्षकाणां प्रवेशायापराणि च नाट्यपात्राणां प्रवेशाय भवन्ति स्म। एवमत्र भरतमुनिप्रतिपादितं मध्यमविकृष्टनाट्यगृहं समासेन प्रतिपादितम्। तत्र ज्येष्ठविकृष्टनाट्यगृहस्य दैर्ध्यं ह्यष्टोत्तरशतमितं तथा कनिष्ठविकृष्टनाट्यगृहस्य द्वात्रिंशद्धस्तमितं कथितम्। तद् यथा

अष्टाधिकं शतं ज्येष्ठं चतुःषष्टिस्तु मध्यमम्।
कनीयस्तु तथा वेश्म हस्ता द्वात्रिंशदिष्यते।।[13]

मण्डपस्य विशालाधिक्ये सति प्रेक्षका बहुविधदृष्टिभेदान् प्रयान्ति, नैव च पाठमेव सम्यक्तया श्रोष्यन्तीति धियाऽचार्येण भरतमुनिना मध्यमप्रकारस्य नाट्यगृहस्य प्राधान्यं प्रतिपादितम्। यथा–

प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान् मध्यममिष्यते।
यावत्पाठ्यं च गेयं च तत्र श्रव्यतरं भवेत्।।[14]

अथ च विकृष्टस्येव चतुरस्रस्यापि नाट्यगृहस्याष्टोत्तरशतादिहस्तभेदेन त्रिविधत्वं प्रतिपादितं भारते नाट्यशास्त्रे। तत्र त्रयाणां प्रकाराणां मध्ये द्वात्रिंशद्धस्तात्मकस्य समचतुरस्रस्य कनिष्ठाख्यस्य नाट्यगृहस्य वर्णनं प्राप्यते। यथा–

अष्टहस्तं तु कर्तव्यं रङ्गपीठं प्रमाणतः।
चतुरस्त्रं समतलं वेदिकासमलङ्कृतम्।।[15]

एवं नाट्यगृहस्यास्य वर्णनक्रमे भरतस्याभिप्रायं स्पष्टीकुर्वद्भिर्विविधटीकाकारैर्वैविध्यं प्रतिपादितम्। तत्राभिनवगुप्तेनोल्लिखितं वार्तिककारश्रीशङ्कुकमतमत्र विविच्यते। श्रीशङ्कुकः कथयति– 'अष्टाभिर्भागैः सर्वतःक्षेत्रं विभज्यते येन चतुरङ्गफलकवत् चतुःषष्टिकोष्ठं भवति। तत्र मध्यमकोष्ठचतुष्के रङ्गपीठं सर्वतोऽष्टहस्तम्। तस्य पश्चिमे भागे प्राक्पश्चिममेव द्वादशहस्तं दक्षिणोत्तरे द्वात्रिंशतत्करं क्षेत्रमवशिष्यते। यद् रङ्गपीठत्वेन स्वीकृतं तद् द्विहस्ताष्टकमेव। यदवशिष्टं क्षेत्रं तन्मध्याद्रङ्गपीठनिकटगतं प्राक्पश्चिमतश्चतुर्हस्तं, विस्तारेण द्वात्रिंशद्धस्तं क्षेत्रम्। तस्माद् विभज्यते तावत्प्रमाणम्। एवं पश्चिमभागेऽपि विभज्य रङ्गशीर्षकसंस्थानं रङ्गशिरः कुर्यात्। ततोऽपि पश्चिमे नेपथ्यगृहम्' इति।[16] एवं निर्धारिते

---

12. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, पृष्ठ 41
13. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 10
14. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 24
15. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 104
16. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, (गो.बा.के) पृष्ठ 42

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पीठादिके रङ्गपीठस्य चतसृषु दिक्षु दशानां स्तम्भानां स्थापनं कर्तव्यमिति भरतस्याभिप्रायं स्पष्टीकुर्वता श्रीशङ्कुकेन लिखितं यत्- **'कोणचतुष्टये तावच्चत्वारः। तत्राग्नेयस्तम्भाच्चतुर्हस्तान्तरो दक्षिणः स्तम्भः। तथैव नैऋतस्तम्भाद्द्वितीयः। एवमुदीच्यामपि स्तम्भद्वयम्। पूर्वभागे आग्नेयेशानदिग्गतात् स्तम्भद्वयाच्चतुर्हस्तान्तरं स्तम्भद्वयमिति षट्। कोणगाश्चत्वार इति दश। एतद् बहिः सामाजिकानामासनानि'** इति।[17] एवं स्थापितेषु दशसु स्तम्भेषु पुनश्चतुर्दशानां स्तम्भानां स्थापनमभीष्टं भरतस्य। तत्र प्रथमं षण्णां स्तम्भानां स्थापनं श्रीशङ्कुकेन निम्नलिखितप्रकारेण स्पष्टीकृतम्। यथा- **'रङ्गपीठस्य दक्षिणतो निवेशितस्तम्भद्वयाच्चतुर्हस्तान्तरावन्योन्यमष्टहस्तान्तरौ द्वौ। तत आग्नेयस्तम्भसम्मुखो योऽन्यस्तु पूर्वस्तम्भः ततश्चतुर्हस्तान्तरं दक्षिणं स्तम्भं कुर्यादेवमुत्तरत्रापि'**[18] पुनश्चावशिष्टानामष्टानां स्तम्भानां स्थापनक्रमं व्यनक्ति श्रीशङ्कुकः- **'दक्षिणभित्तेरुदग्भागे चतुर्हस्तान्तरं पूर्वस्थापितस्तम्भाद् भित्तेश्चौकं स्तम्भं दद्यात् पूर्वम्। एवम् उत्तरभित्तेः दक्षिणदिग्भागे। ततः पूर्वभित्तेश्चतुर्हस्तान्तरौ रङ्गभागद्वयानुसारेण। ततोऽपि चतुर्हस्तान्तरौ द्वौ'**[19] एवमाहत्य नाट्यगृहेऽत्र प्रयुज्यमानाः स्तम्भाश्चुर्विंशतिः। तत्र प्रतीयते यत् प्रेक्षकासनोपयुक्तानां चतुर्दशानां स्तम्भानामुन्नतत्वं सोपानमिव रङ्गपीठाच्चतुर्हस्तमितादूरतो भित्तिं प्रति वर्धते क्रमश इति। मण्डपेऽत्रापि विकृष्टमण्डप इव पञ्चद्वाराणि भवन्तीति बहूनामभिप्रायः। परमत्राभिनवगुप्तानुसारं नेपथ्याद्रङ्गपीठं प्रवेष्टुं प्रेक्षकद्वारसम्मुखं षष्ठमपि द्वारं, येन सूत्रधारो नटी च प्रविशतः स्म।

अथ च तृतीयं खलु भरतकथितं नाट्यगृहं त्र्यस्राख्यं यद्धि विकृष्टमिव ज्येष्ठमध्यमकनिष्ठभेदेन त्रिधा। परमत्रापि भरतो दैर्ध्यादिकमनुक्त्वैवत्र्यस्राख्यं नाट्यगृहं वर्णितवानस्ति। तद् यथा-

त्र्यस्रं त्रिकोणं कर्तव्यं नाट्यवेश्मप्रयोक्तृभिः।
मध्ये त्रिकोणमेवास्य रङ्गपीठं तु कारयेत्।।[21]

श्लोकस्यास्य भावं स्पष्टयताऽभिनवगुप्तेन लिखितं यत् - 'विकृष्टचतुरस्रमानद्वयमेव भवति। मध्ये च त्रिकोणमेव रङ्गपीठम्। तथैव रङ्गशिरः। नेपथ्यगृहञ्च'। अर्थात् त्र्यस्रमिदं नाट्यगृहं त्रिभुजाकारकं भवति। तत्र मध्ये रङ्गशीर्ष रङ्गपीठं नेपथ्यगृहं च त्रिकोणात्मकानि तथा प्रेक्षागृहं चतुर्भुजाकारकं भवतीति भावः। एवमत्र त्र्यस्रनाट्यगृहवर्णनक्रमे पुनरावृत्तिर्न स्यादिति धिया वक्ति मुनिर्भरतः-

विधिर्यश्चतुरस्रस्य भित्तिस्तम्भसमाश्रयः।
स तु सर्वः प्रयोक्तव्यस्त्र्यस्रस्यापि प्रयोक्तृभिः।।[22]

---

17. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, (गो.बा.के) पृष्ठ 43
18. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, (गो.बा.के) पृष्ठ 43
19. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, (गो.बा.के) पृष्ठ 44
20. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, (गो.बा.के) पृष्ठ 45
21. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 108
22. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 110

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तात्पर्यमिदं यच्चतुरस्रेऽपि सर्वोऽपि विधिरनुष्ठेयः। अर्थाच्चतुरस्रनाट्यमण्डपस्य कृते यद् भित्तिविषये स्तम्भविषये वा विधानं विहितं तदेवात्रापि त्र्यस्रनाट्यमण्डपेऽवगन्तव्यमिति भावः। वस्तुतो भारतेऽस्मिन्नाट्यशास्त्रे प्रेक्षागृहविषयकं विशदं खलु राजते विवेचनम्। तत्र निर्माणक्रमे भित्तिस्थापनं स्तम्भस्थापनमित्यादिकं सर्वमपि शास्त्रोक्तपूजनादिविधानेनैव कार्यमित्याह। यथा–

श्रूयतां तद् यथा यत्र कर्तव्यो नाट्यमण्डपः।
तस्य वास्तु च पूजा च यथा योज्या प्रयत्नतः।।[23]

पुनश्च–

सर्वलक्षणसम्पन्ने कृते नाट्यगृहे शुभे।
गावो वसेयुः सप्ताहं सह जप्यपरैर्द्विजैः।।

ततोऽधिवासयेद् वेश्म रङ्गपीठं तथैव च।
मन्त्रपूतेन तोयेन प्रोक्षिताङ्गो निशागमे।।[24]

अत्र हि नाट्यगृहादिषु विविधानि मनोहराणि चित्राणि लेख्यानि, विविधाश्चानुलेपाः प्रयोक्तव्या इत्यादिकं बहुविलक्षणतया विवेचितं, परमत्र निबन्धे विस्तरभिया नोल्लिखितम्।

---

23. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 22, श्लोक 06
24. भरतनाट्यशास्त्रम्, अध्याय, 3, श्लोक 1–2

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गृह्यसूत्रेषु वास्तुशान्तिविधानम्

डॉ.मुष्टि वेङ्कटनागपवनकुमारशर्मा

इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकोपायं यो बोधयति स वेद इति वेदस्य लक्षणम्। वेदबोधित-श्रेयस्साधनताको हि धर्म इति धर्मलक्षणम्। वेदोऽखिलो धर्ममूलमिति स्मृत्या अलौकिकोपायबोधकोऽयं वेदराशिः धर्ममूलक इति ज्ञायते। धर्मश्च वेदप्रमाणकं श्रेयस्साधनं कर्म इत्युच्यते। तत्कर्म द्विविधं प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदात्। तदाह मनुः –

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्मचोदितम्।
इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥[1]

एवमेवायं धर्मः प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदाद्द्विधा वर्तते। आचारव्यवहारादिः प्रवृत्तिधर्मः, यतिधर्म-मोक्षोपाय-आत्मविचारादिः निवृत्तिधर्मः। प्रवृत्तिधर्मोऽपि श्रौतस्मार्तभेदेन द्विधा वर्तते। ज्योतिष्टोमादिर्यागः श्रौतः। स्मार्तस्तु षड्विधः – वर्णधर्म आश्रमधर्मो वर्णाश्रमधर्मो गुणधर्मो निमित्तधर्मो साधारणधर्मश्चेति। षोढा विद्यमानस्य स्मार्तधर्मस्य परिरक्षणं गृह्यसूत्रोक्त-कर्मणामनुष्ठाननैव भवतीत्यत्र नास्ति संदेहः। दृश्यन्ते बहूनि गृह्यसूत्राणि वेदशाखासम्बद्धानि विज्ञायन्ते च बहवो गृह्यधर्माः। गृह्यमित्ययं शब्दः गृहसम्बन्धेन क्वचित्प्रयुज्यते। तत्र सगृहो गृहमागतः इत्यत्र प्रथमगृहशब्दः भार्यापरः, द्वितीयः शालापरः। गृहे वर्तमानाग्नौ क्रियमाणसंस्कारबोधकत्वात् गृह्यमिति अस्य सूत्रस्य नाम। ये गर्भाधानादिसंस्काराः गृह्यसूत्रेषूक्ताः वर्तन्ते ते सर्वेऽपि गृह एवानुष्ठेयानि। अत एव सर्वेष्वपि गृह्यसूत्रेषु वारं वारं अगारशब्दः प्रयुक्तः।

उक्तं च मानवगृह्यसूत्रव्याख्याने – **उक्तानि नित्यानि साधनानि शालाग्निसहितानि इदानीं महायज्ञा वक्तव्यास्ते च गृहे भवन्ति तेन गृहकरणं तावदाह-अवसानं समं समूलम् – अवस्यन्ति समाप्नुवन्ति श्रौतस्मार्तकर्माणि यस्मिंस्तदवसानम्**[2] इति। एवमेव तत्तत्सूत्रप्रणेतृभिः महर्षिभिरपि गृहनिर्माण- प्रवेश-वास्तुपूजादीनि विधानानि विशेषतया उपदिष्टानि वर्तन्ते।

भूलक्षणं द्वारकल्पनं च

तत्र खादिरगृह्यसूत्रे गृहनिर्माणार्थं वर्णविशेषेण भूविशेषः उक्तः। यथा –गौरे भूमिभागे ब्राह्मणः, लोहिते क्षत्रियः, कृष्णे वैश्योऽवसानं जोषयेदिति[3]। समराङ्गणसूत्रधारे च किञ्चिद्भेदेन एवमेव

1. म.स्मृ. अ.12, श्लो. 88-89
2. मा.गृ. सू. अ.व्या. पृ.167
3. खा.गृ.सू. प.4, खं.2, सू. 6

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भूलक्षणमुक्तं वर्तते। तथाहि-

सिता रक्ता च पीता च कृष्णा चैव क्रमान्मही।
विप्रादीनां हि वर्णानां सर्वेषामथवा हिता।।[4]

तथा गोभिलगृह्यसूत्रे स्थललक्षणं वास्तुशास्त्राभिन्नमुक्तम्। यथा- यत्र समा भूमिः वर्तते, कृतस्य वेश्मनः नदीतीरतटाकभेदवृक्षपातमार्गादिभ्यो विनाशः यत्र न स्यात्, प्राङ्मुखा उदङ्मुखा वा आपः यत्र गच्छन्ति, यत्र अकटुका ओषधयस्स्युः तादृशीभूमिः गृह्णीयादिति। एवं दर्भसंमितो देशः ब्रह्मवर्चसकामस्य, बृहत्तृणयुतः देशः बलकामस्य, मृदुतृणदेशः पशुकामस्य शुभो भवतीत्युक्तम्। तत्र द्वारकल्पने च फलमभिहितं वर्तते। यशस्कामो बलकामश्च प्राग्द्वारं, पुत्रपशुकामः उदग्द्वारं, सर्वकामः दक्षिणद्वारं कुर्यादिति। **न प्रत्यग्द्वारं कुर्वीतेति**[5] निषेधश्च तत्रैव कृतः। गृहस्य चतुर्दिक्षु वृक्षनियमः विशेषेण नियमितः। यथा अश्वत्थं पूर्वस्यां दिशि, प्लक्षं दक्षिणस्यां, न्यग्रोधं प्रतीच्यां, औदुम्बरमुदीच्यां च वर्जयेदिति। तत्रेदं प्रमाणम्-

वर्जयेत्पूर्वतोऽश्वत्थं प्लक्षं दक्षिणतस्तथा।
न्यग्रोधमपराद्देशात् उत्तराच्चाप्युदुम्बरम्।।[6]

उक्तं च वराहमिहिरकृतायां बृहत्संहितायां वास्तुविद्याध्याये-

याम्यादिष्वशुभफला जातास्तरवः प्रदक्षिणेनैते।
उदगादिषु प्रशस्ताः प्लक्षवटोदुम्बराश्वत्थाः।।[7]

अतः उत्तरादिदिक्षु प्लक्षादिवृक्षयुक्तं गृहं कल्पयेदिति विज्ञायते।

भूपरीक्षा

यथा वास्तुशास्त्रे गृहनिर्माणार्थं प्रशस्ता भूमिः विहिता तथैव गृह्यसूत्रेष्वपि प्रोक्ता। तत्र आश्वलायनगृह्यसूत्रे भूपरीक्षा एवं दृश्यते। यस्मिन्देशे गृहनिर्माणं कर्तु यजमानश्चिकीर्षति तं देशं गत्वा जानुमात्रमवटं खात्वा अवटादुद्धृतैरेव पांसुभिः पुनस्तं पूरयेत्। पांसुराशिः गर्ताधिकश्चेत् गृहनिर्माणं शुभमिति, समे मध्यममिति, न्यूने गर्हितं भवति[8]। तथा चान्या परीक्षा उपदिष्टा-गृहनिर्माणप्रदेशे गर्तं खात्वा सूर्यास्तमयानन्तरं तं गर्तमद्भिः पूरयेत्। परस्मिन्दिने सूर्योदयानन्तरं गर्तं परीक्षेत्। गर्ते किञ्चिदुदकमस्तिचेत्तत्र गृहनिर्माणं शुभं भवति। आर्द्रं चेन्मध्यमं भवति। शुष्कं चेद्गर्हितं भवतीति

4. स.सू. अ.8, श्लो.48
5. गो.गृ.सू. प्र.4, खं.7, सू.17
6. गो.गृ.सू. प्र.4, खं.7, सू.20
7. बृ.सं. अ.52, श्लो. 83
8. आ.गृ.सू. अ.2, खं.8, सू.2-3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सूत्रकारस्याभिप्रायः[9]।

गृहनिर्माणविधिः

मन्त्रयुक्तः गृहनिर्माणविधिः गृह्यसूत्रेषु प्रपञ्चितः। तत्र आपस्तम्बगृह्यसूत्रे विधिरयमभिप्रेतः। यथा-यत्र गृहनिर्माणं क्रियते तं देशं समं कृत्वा **स्योना पृथिवी**[10] इत्यनेन मन्त्रेणाभिमन्त्र्य, गृहस्थूणानां गर्तान् प्रागादिषु प्रदक्षिणं कर्मकारैः खातयित्वा, प्राग्द्वारे गृहे सति दक्षिणां द्वारस्थूणां **इहैव तिष्ठ निमिताः, आत्वा कुमारस्तरुण**[11] इत्येताभ्यां द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां द्वारदक्षिणगर्ते प्रतिष्ठाप्य, ताभ्यामेव मन्त्राभ्यां द्वारस्योत्तरगर्ते उत्तरां द्वारस्थूणां निधाय, ततः इतराः गृहस्थूणाः खननक्रमेण तूष्णीं गर्तेषु प्रतिष्ठापयेत्। एवं सर्वास्ववहितासु सत्सु स्थूणास्वाधीयमानम् अगारस्तूपं **ऋतेन स्थूणावधिरोह**[12] इति यजुषा अभिमन्त्रयते। एवं निर्मितमगारं मन्त्रलिङ्गमनुसृत्याभिमन्त्रयेत्। तथाहि-

ब्रह्म च ते क्षत्रं च पूर्वे स्थूणे अभिरक्षतु	-	प्राचीं स्थूणां प्राङ्मुखो भूत्वा
यज्ञश्च दक्षिणाश्च दक्षिणे	-	दक्षिणां स्थूणां दक्षिणाभिमुखो भूत्वा
इषश्चोर्जश्चापरे	-	पश्चिमां स्थूणां पश्चिमाभिमुखो भूत्वा
मित्रश्च वरुणश्चोत्तरे	-	उत्तरां स्थूणां उत्तराभिमुखो भूत्वा
धर्मस्ते स्थूणा राज श्रीस्ते स्तूपः	-	मध्यमां स्थूणां मध्यमाभिमुखो भूत्वा अभिमन्त्रयेत्।

एवं वास्तुशास्त्रमनतिक्रम्य गृहनिर्माणं कृत्वा ततः गृहप्रवेशं कुर्यात्।

गृहप्रवेशविधिः

नवागारप्रवेशविधिरप्यापस्तम्बेन स्पष्टमुपदिष्टः। तथाहि- पूर्वोक्तविधिना गृहनिर्माणं कृत्वा वास्तुशास्त्रोक्तदिशा ज्योतिश्शास्त्रोक्तमार्गेण च नवागारप्रवेशार्थं सुमुहूर्तं निश्चित्य प्रवेशः कर्तव्यः।

तथा च -

अकपाटमनाच्छन्नमदत्तबलिभोजनम् ।
गृहान्न प्रविशेदायुर्विपदामाकरं हि तत्॥[14]

इत्युक्तत्वात् आदौ तत्तद्देवेभ्यः पूजा ब्राह्मणैः कारयितव्या। पूजाक्रमश्च ज्योतिस्तत्त्वे उक्तः। तथाहि-

---

9. आ.गृ.सू. अ.2, खं.8, सू.4-3
10. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.2
11. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.3,4
12. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.5
13. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.6-11
14. आपस्तम्बीयपञ्चदशकर्मानुक्रमणिका- पृ. 378

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गणेशं गन्धपुष्पाद्यैर्लोकपालानथ ग्रहान्।
पूजयेत् क्षेत्रपालांश्च क्रूरभूतांश्च बाह्यतः॥
ब्रह्माणं वास्तुपुरुषं तद्गेहस्थाश्च देवताः॥[15]

एवमेव एतेषां पूजाकालश्च उपदिष्टः। नवागारप्रवेशात्पूर्वं या वास्तुशान्तिः अनुष्ठीयते सा दिवैव कर्तव्या। रात्रौ गृहप्रवेशे क्रियमाणे सत्यपि प्रातः वास्तुशान्तिं कृत्वा रात्रौ प्रवेशः करणीयः। यदि उषःकाले प्रवेशः क्रियते तदा पूर्वस्मिन्दिने प्रातः वास्तुशान्तिं कुर्यात्। तथाहि–

वास्तुशान्तिर्दिवैवोक्ता प्रवेशस्तु निशि क्वचित्।
गृहप्रवेशप्रारम्भदिनमासादिकैः शुभः॥[16]

एवं गृहप्रवेशनात्पूर्वमेव शून्यगृहाधिष्ठानां देवानां पूजा कर्तव्या। तदकरणे प्रत्यवायश्च उक्तं च महाकपिलपञ्चरात्रे –

सर्वेषां किल वास्तूनां नायकाः परिकीर्तिताः।
असम्पूज्य हि तान् सर्वान्प्रासादादीह कारयेत्॥
अनिष्पत्तिर्विनाशस्स्यादुभयोर्धर्मधर्मिणोः ॥[17]

एवं गृहाधिष्ठातृदेवताभ्यः ब्राह्मणमुखेन पूजां कारयित्वा यजमानः स्वकीयमौपासनाग्निं पालाशमयेन इध्मेन प्रज्वाल्य ज्वलन्तमग्निम् **उद्ध्रियमाण उद्धर**[18] इत्यनेन यजुषा उद्धृत्य अह्नि गृहप्रवेशे सति **रात्रौ यदेनः कृतमस्ति पापम्** इति, रात्रौ गृहप्रवेशे **अह्ना यदेनः कृतमस्ति पापम्** इति पठित्वा, **इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो**[19] इत्यनेन यजुषा गृहप्रवेशं कुर्यात्। ततः **अमृताहुतिममृतायाम्**[20] इत्यनेन मन्त्रेण तमौपासनाग्निं अगारस्योत्तरपूर्वदेशे संस्थाप्य, तस्य दक्षिणतः दर्भेषु **अन्नपते**[21] इत्यनेन मन्त्रेण व्रीहीन् संस्थाप्य, तस्मिन्नुदकुम्भं तूष्णीं प्रतिष्ठाप्य, अरिष्टा अस्माकम्[22] इत्यनेन मन्त्रेण चतुर्भिः कलशैः उदकुम्भे जलं संस्थाप्य, उदकुम्भे ऊर्ध्वाग्रं कूर्चं विनिक्षिपेत्। ततः **वास्तोष्पते प्रतिजानीहि, वास्तोष्पते शग्मया, वास्तोष्पते**[23] **प्रतरणो नः, अमीवहा वास्तोष्पते** इत्येतैर्मन्त्रैः वास्तुपुरुषमावाह्य षोडशोपचारैरभ्यर्च्य तैरेव मन्त्रैः सकृद्धोमं कृत्वा, होमशेषं परिसमाप्य, **शिवँ**

15. गो.गृ.सू. भ.ना. व्या. पृ.838
16. आपस्तम्बीयपञ्चदशकर्मानुक्रमणिका– पृ. 378
17. गो.गृ.सू. भ.ना.व्या. पृ.838
18. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.12
19. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.13
20. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.14
21. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.15
22. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.16
23. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.18–21

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शिवम्[24] इत्यनेन यजुषा सकृदुपात्तेन उदकुम्भेन अगारमन्ततः त्रिः प्रदक्षिणं निरन्तरधारया परिसेचनं कुर्यात्। गृहान्तराले एवं क्रियते चेत् भूतप्रेतादिभ्यः शान्तिः भवतीति ज्ञायते। अत्र वास्तुशास्त्रोक्तमार्गेण एकाशीतिपदवास्तुमण्डले तत्तद्देवानावाह्य पूजादिकं क्रियते। एवं शास्त्रोक्तविधिना वास्तुपूजाकरणेन **आधयो व्याधयो ग्रहा उपसर्गाश्चपहन्युः**[25] इति बोधायनवचनात् सर्वारिष्टनिवारणद्वारा मङ्गलावाप्तिर्भवति।

वास्तुशान्तिविधानम्

गृह्यसूत्रेषु समस्तामयदोषनिवारणार्थं वास्तुशमनविधानं प्रोक्तं वर्तते। वास्तुशान्तिरैषा च प्रतिमासं, ऋतौ, संवत्सरे वा आपूर्यमाणपक्षे पुण्यनक्षत्रे कार्या। तथा च – अपामार्गशिरीष-पलाशोदुम्बरेष्वन्यतमेन गृहं बद्ध्वा मानोमहान्तम्, मानस्तोके इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां अगारं सम्मार्जयेत्। ततः दर्भमुष्टिमुपसंगृह्य पञ्चगव्यद्रव्येण यत इन्द्र भयामहे, स्वस्तिदा इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां संप्रोक्षयेत्। ततः नवधान्यानि कृणुष्व पाजः प्रसितिमित्येतेनानुवाकेन गृहे संप्रकीर्य, वास्तोष्पते प्रतिजानीहि, वास्तोष्पते शग्मया इत्याभ्यां द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां प्रधानहोमं कृत्वा, वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणां इत्यनुवाकेन उपहोमं कृत्वा गायत्रीमन्त्रेण सहस्रवारं होमं कुर्यात्। ततो होमशेषं परिसमाप्य पुण्याहवाचनं कृत्वा ब्राह्मणानन्नेन परितोषयेत्। एवं वास्तुशान्तिः क्रियते चेद्गृहशान्तिः वंशाभिवृद्धिश्च भवतीति, सर्पराक्षसतस्करादिभयं न भविष्यतीति, ग्रहपीडा, व्याधपीडा च न संभवतीति बोधायनेनोपदिश्यते। तथाहि-

एवं प्रयुञ्जानो महान्तं पोषं पुष्यति बहवः
पुत्रं भवन्ति न च बालाः प्रमीयन्ते न।
ग्रहव्याधयो गृह्णन्ति न दंष्ट्रिणो घातयेयुर्न
तस्करसर्पराक्षसपिशाचा बाधन्ते।।[26]

अतः सकलशुभमङ्गलावाप्तये गृहाभिवृद्ध्ये च यथावकाशं वास्तुशान्तिः कर्तव्या इत्यवगम्यते। एवं गृह्यसूत्रेषु गृहनिर्माणविधिः, गृहप्रवेशविधिः वास्तुपूजाविधिश्च यथा वास्तुशास्त्रे उपदिष्टः तथैवोक्तः वर्तते। वास्तुशास्त्रोक्तविधिना गृहनिर्माणादिकरणार्थं स्वस्वगृह्यसूत्रज्ञानमपेक्षितं वर्तते। यतोहि गृह्यसूत्रेषु तद्विधानानि सम्यक्तया प्रतिपादितानि वर्तन्ते। गृह्यसूत्राज्ञाने कर्तुं न शक्यते प्रयोगः। प्रयोगाभावाच्छास्त्रमपि निरुपयोगं भवति। तथैव केवलगृह्यसूत्रपठनेन प्रयोगज्ञानेन च नास्ति महानुपयोगः। वास्तुज्ञानाभावात् प्रयोगज्ञानस्यापि निरुपयोगत्वात्। अतः द्वयोः ज्ञानमत्यन्तमावश्यकं भवति। एवं वास्तुशास्त्रं, गृह्यसूत्रोक्तविधिं च सुपरिशील्य गृहनिर्माणादिकरणेन सर्वेषाम् इष्टप्राप्तिरनिष्टपरिहारश्च जायते। तेन विश्वशान्तिः भवति।

24. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.22
25. बो.गृ.सू. प्र.3, अ.5, सू.8
26. बो.गृ.शे.सू. प्र.1, अ.19, सू.8

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गणेशं गन्धपुष्पाद्यैर्लोकपालानथ ग्रहान्।
पूजयेत् क्षेत्रपालांश्च क्रूरभूतांश्च बाह्यतः॥
ब्रह्माणं वास्तुपुरुषं तद्गेहस्थाश्च देवताः॥[15]

एवमेव एतेषां पूजाकालश्च उपदिष्टः। नवागारप्रवेशात्पूर्व या वास्तुशान्तिः अनुष्ठीयते सा दिवैव कर्तव्या। रात्रौ गृहप्रवेशे क्रियमाणे सत्यपि प्रातः वास्तुशान्तिं कृत्वा रात्रौ प्रवेशः करणीयः। यदि उषःकाले प्रवेशः क्रियते तदा पूर्वस्मिन्दिने प्रातः वास्तुशान्तिं कुर्यात्। तथाहि–

वास्तुशान्तिर्दिवैवोक्ता प्रवेशस्तु निशि क्वचित्।
गृहप्रवेशप्रारम्भदिनमासादिकैः शुभः॥[16]

एवं गृहप्रवेशनात्पूर्वमेव शून्यगृहाधिष्ठानां देवानां पूजा कर्तव्या। तदकरणे प्रत्यवायश्च उक्तं च महाकपिलपञ्चरात्रे –

सर्वेषां किल वास्तूनां नायकाः परिकीर्तिताः।
असम्पूज्य हि तान् सर्वान्प्रासादादीह कारयेत्॥
अनिष्पत्तिर्विनाशस्स्यादुभयोर्धर्मधर्मिणोः ॥[17]

एवं गृहाधिष्ठातृदेवताभ्यः ब्राह्मणमुखेन पूजां कारयित्वा यजमानः स्वकीयमौपासनाग्निं पालाशमयेन इध्मेन प्रज्वाल्य ज्वलन्तमग्निम् **उद्ध्रियमाण उद्धर**[18] इत्यनेन यजुषा उद्धृत्य अह्नि गृहप्रवेशे सति **रात्रौ यदेनः कृतमस्ति पापम्** इति, रात्रौ गृहप्रवेशे **अह्ना यदेनः कृतमस्ति पापम्** इति पठित्वा, **इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो**[19] इत्यनेन यजुषा गृहप्रवेशं कुर्यात्। ततः **अमृताहुतिममृतायाम्**[20] इत्यनेन मन्त्रेण तमौपासनाग्निं अगारस्योत्तरपूर्वदेशे संस्थाप्य, तस्य दक्षिणतः दर्भेषु **अन्नपते**[21] इत्यनेन मन्त्रेण व्रीहीन् संस्थाप्य, तस्मिन्नुदकुम्भं तूष्णीं प्रतिष्ठाप्य, अरिष्टा अस्माकम्[22] इत्यनेन मन्त्रेण चतुर्भिः कलशैः उदकुम्भे जलं संस्थाप्य, उदकुम्भे ऊर्ध्वाग्रं कूर्चं विनिक्षिपेत्। ततः **वास्तोष्पते प्रतिजानीहि, वास्तोष्पते शग्मया, वास्तोष्पते**[23] **प्रतरणो नः, अमीवहा वास्तोष्पते** इत्येतैर्मन्त्रैः वास्तुपुरुषमावाह्य षोडशोपचारैरभ्यर्च्य तैरेव मन्त्रैः सकृद्धोमं कृत्वा, होमशेषं परिसमाप्य, **शिवँ**

15. गो.गृ.सू. भ.ना. व्या. पृ.838
16. आपस्तम्बीयपञ्चदशकर्मानुक्रमणिका– पृ. 378
17. गो.गृ.सू. भ.ना.व्या. पृ.838
18. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.12
19. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.13
20. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.14
21. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.15
22. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.16
23. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.18–21

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शिवम्[24] इत्यनेन यजुषा सकृदुपात्तेन उदकुम्भेन अगारमन्ततः त्रिः प्रदक्षिणं निरन्तरधारया परिसेचनं कुर्यात्। गृहान्तराले एवं क्रियते चेत् भूतप्रेतादिभ्यः शान्तिः भवतीति ज्ञायते। अत्र वास्तुशास्त्रोक्तमार्गेण एकाशीतिपदवास्तुमण्डले तत्तद्देवानावाह्य पूजादिकं क्रियते। एवं शास्त्रोक्तविधिना वास्तुपूजाकरणेन **आधयो व्याधयो ग्रहा उपसर्गाश्चपहन्युः**[25] इति बोधायनवचनात् सर्वारिष्टनिवारणद्वारा मङ्गलावाप्तिर्भवति।

वास्तुशान्तिविधानम्

गृह्यसूत्रेषु समस्तामयदोषनिवारणार्थं वास्तुशमनविधानं प्रोक्तं वर्तते। वास्तुशान्तिरैषा च प्रतिमासं, ऋतौ, संवत्सरे वा आपूर्यमाणपक्षे पुण्यनक्षत्रे कार्या। तथा च – अपामार्गशिरीष-पलाशोदुम्बरेष्वन्यतमेन गृहं बद्ध्वा मानोमहान्तम्, मानस्तोके इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां अगारं सम्मार्जयेत्। ततः दर्भमुष्टिमुपसंगृह्य पञ्चगव्यद्रव्येण यत इन्द्र भयामहे, स्वस्तिदा इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां संप्रोक्षयेत्। ततः नवधान्यानि कृणुष्व पाजः प्रसितिमित्येतेनानुवाकेन गृहे संप्रकीर्य, वास्तोष्पते प्रतिजानीहि, वास्तोष्पते शग्मया इत्याभ्यां द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां प्रधानहोमं कृत्वा, वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणां इत्यनुवाकेन उपहोमं कृत्वा गायत्रीमन्त्रेण सहस्रवारं होमं कुर्यात्। ततो होमशेषं परिसमाप्य पुण्याहवाचनं कृत्वा ब्राह्मणानन्नेन परितोषयेत्। एवं वास्तुशान्तिः क्रियते चेद्गृहशान्तिः वंशाभिवृद्धिश्च भवतीति, सर्पराक्षसतस्करादिभयं न भविष्यतीति, ग्रहपीडा, व्याधपीडा च न संभवतीति बोधायनेनोपदिश्यते। तथाहि–

एवं प्रयुञ्जानो महान्तं पोषं पुष्यति बहवः
पुत्रं भवन्ति न च बालाः प्रमीयन्ते न।
ग्रहव्याधयो गृह्णन्ति न दंष्ट्रिणो घातयेयुर्न
तस्करसर्पराक्षसपिशाचा बाधन्ते।।[26]

अतः सकलशुभमङ्गलावाप्तये गृहाभिवृद्ध्ये च यथावकाशं वास्तुशान्तिः कर्तव्या इत्यवगम्यते। एवं गृह्यसूत्रेषु गृहनिर्माणविधिः, गृहप्रवेशविधिः वास्तुपूजाविधिश्च यथा वास्तुशास्त्रे उपदिष्टः तथैवोक्तः वर्तते। वास्तुशास्त्रोक्तविधिना गृहनिर्माणादिकरणार्थं स्वस्वगृह्यसूत्रज्ञानमपेक्षितं वर्तते। यतोहि गृह्यसूत्रेषु तद्विधानानि सम्यक्तया प्रतिपादितानि वर्तन्ते। गृह्यसूत्राज्ञाने कर्तुं न शक्यते प्रयोगः। प्रयोगाभावाच्छास्त्रमपि निरुपयोगं भवति। तथैव केवलगृह्यसूत्रपठनेन प्रयोगज्ञानेन च नास्ति महानुपयोगः। वास्तुज्ञानाभावात् प्रयोगज्ञानस्यापि निरुपयोगत्वात्। अतः द्वयोः ज्ञानमत्यन्तमावश्यकं भवति। एवं वास्तुशास्त्रं, गृह्यसूत्रोक्तविधिं च सुपरिशील्य गृहनिर्माणादिकरणेन सर्वेषाम् इष्टप्राप्तिरनिष्टपरिहारश्च जायते। तेन विश्वशान्तिः भवति।

24. कृ.य.तै.ए. प्र.2, अनु.15, मं.22
25. बो.गृ.सू. प्र.3, अ.5, सू.8
26. बो.गृ.शे.सू. प्र.1, अ.19, सू.8

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

देवप्रासादविज्ञानम्

डॉ. देशबन्धुः

भारतीयस्थापत्यमस्ति भारतीयसंस्कृतेरन्यतममङ्गम्। भारतीयस्थापत्यस्य पार्थिवापार्थिवयोः सङ्गम एव वैशिष्ट्यम्। यूनानरोमादिदेशानां वास्तुकलासु पार्थिवतत्त्वानामेव विकासो दृश्यते। मानवशरीरमभिव्यक्तुमेव प्रवर्तते प्रामुख्येन यूनानरोमदेशीया वास्तुकला। तेषां स्थापत्ये शरीरावयवानामभिव्यक्तिरेव निष्णातस्थपतीनां कलायाः पराकाष्ठा, विशालभवनानि तेषां गौरवस्य परिचायकतत्वानि परञ्च अस्माकं स्थापत्ये प्रत्येकस्य देवमन्दिरस्य एका पृष्ठभूमिः वर्तते। प्राच्यभारतीयनगराणामितिहासावलकोननेन ज्ञायते यत् नगरमन्दिरस्थानानां विकासः समानरूपेणाभवत्। संसारस्य सर्वेषु देशेषु नगराणामेषा एव कथा परञ्च भारतस्य विषये तु प्रसिद्धमेतत् यत्–

"Temple was a city in Making."[1]

"मन्दिरस्य स्थापना जाता चेत् नगरमपि तत्रैव भविष्यति" इति पूर्णतः युक्तियुक्तमस्ति। **"मंद्यतेऽत्र मंदतेः किरंच"**[2] अनुसारं गृहं वासस्थानं वा मन्दिरमिति कथ्यते। मन्दिरशब्दस्य व्युत्पत्तिः मंद् धातोः जातः। अस्यार्थः प्रसन्नता कान्तिमान् सुवर्णो वा। भारतीयसाहित्ये मन्दिरं, देवालयः, देवस्थानं, देवायतनं, देवनिकेतनं प्रासादादिभिर्नामभिः स्मर्यते। भारतस्योत्तरभूभागे मन्दिरस्य कृते प्रासादः दक्षिणभूभागे विमानं-हर्म्यो वा शब्दः प्रयुज्यते। वेदेष्वपि ''हर्म्य'' शब्दस्य प्रयोगो दृश्यते परञ्च शिल्पशास्त्रीयग्रन्थेषु हर्म्यप्रासादयोर्भेदः कृतः।[3] समराङ्गणसूत्रधारे कस्यापि भवनस्योर्ध्वभाग एव "हर्म्य" इति कथ्यते।[4] आङ्गलभाषायां देवालयस्य कृते "टेम्पल" शब्दः प्रयुज्यते। शब्दोऽयं लैटिनभाषायाः "टेम्पलम्" शब्दात् व्युत्पद्यते। अस्यार्थः आयताकारो देवालयः। रस्किन् महोदयानुसारं ''यत्र देव-पूजनादि-कार्याणि भवन्ति तत् भवनमेव "टेम्पल"[5] इति। विश्वकर्मप्रकाशे मन्दिरं प्रस्तरनिर्मितनिवासस्थानमिति प्राप्यते।[6] कालान्तरे देवालयः कस्यापि देवस्य निवासमात्रमित्यर्थादतिरिक्तं स्वयमेव देवस्य स्वरूपो जातः। यथोक्तम्–

---

1. भारतीयवास्तुशास्त्रम्-पृ. 95 (उद्धृतम्), द्विजेन्द्रनाथशुक्ल, भारतीयवास्तुशास्त्र, शुक्ला प्रिंटिग प्रेस, लखनऊ-1956ई.
2. संस्कृतहिन्दीकोशः- पृ. 776, वामन शिवराम आप्टे, मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, 1969ई.
3. मयमतम्-24/82, सं. शैलजा पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी - 2007ई.
4. समराङ्गणसूत्रधारः-13/10, सं. - द्विजेन्द्रनाथशुक्ल, वास्तुवाङ्मयप्रकाशनमाला, लखनऊ, 1965ई.
5. प्रासादनमण्डनम् पृ. 21, सं. भगवानदासजैन, यति श्यामालालजी उपाध्याय, जयपुर - 1963ई.
6. विश्वकर्माप्रकाशः- 4/13, खेमराज श्रीकृष्णदासप्रकाशन, मुखई, 2002 ई.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रासादं पुरुषं मत्वा पूजयेद् मन्त्रवित्तमः।
एवमेव हरिः साक्षात् प्रासादत्वेन संस्थितः॥[7]

अतएव साक्षात् हरिस्वरूपत्त्वात् प्रासादोऽपि पूज्यो भवति। अत एव प्रासादेन तात्पर्यं न केवलं भवनमात्रमेवापितु अमूर्तपुरुषस्य प्रत्यक्षमूर्तस्वरूपमेव। यत्र सर्वव्यापकोऽप्रत्यक्षपुरुषस्य प्रतीकस्वरूपत्वेन प्रतिमायाः स्थापना क्रियते। एतदेव कारणं यद् यत्र प्रतिमायाः दर्शनं पूजनञ्च भवति, तत्र देवालयस्य प्रदक्षिणाऽपि क्रियते। प्रासादप्रकल्पने पुरुषाकृतेः सन्निवेशो वास्तुशास्त्रस्य सर्वेषु ग्रन्थेषु प्राप्यते। यस्यां जगत्यां देवप्रासादस्य निर्माणमारभ्यते सः पादः, तस्योपरि 'जंघा' वर्तते। यस्मात् भागात् देवालयस्य अन्तः भागो दृश्यते सः "कटिः", अन्तः भागः 'उदरम्" देवालयस्य शिखरमेव तस्य शिरः, सम्मुखस्थभागः "शुकनासा" इति कथ्यते।[8] हिन्दुसंस्कृतौ देवपूजनस्य विधानं वर्तते, प्रत्येकस्मिन् पदार्थे देवत्वकल्पनमेव अस्माकं संस्कृतेरुदात्तभावः। देवपूजनस्य साकारपूजनं निराकारपूजनञ्च भेदद्वयं वर्तते। वैदिकसाहित्ये भक्त्युपासनयोः यन्मूलं निहितं तस्य पल्लवनं परवर्तीभारतीयसाहित्ये कलायाञ्च प्राप्यते। आगमपुराणानाञ्चोपासनापद्धत्यां विष्णुसूर्यशिवादिदेवानां पूजनस्य विस्तारो विन्यस्तः। भारतीयवास्तुशास्त्राचार्याः वास्तुशास्त्रं शास्त्रीयकलेवरं, स्थापत्यो भौतिकं रूपञ्च प्रावर्धन्। वास्तुशास्त्रे कलाविज्ञानयोः सम्मिश्रणं दृश्यते। अस्याः कलाया उद्भवो धर्मदर्शनाभ्याञ्च जातः। भारतीयशास्त्राणामेषा एव परम्परा यदत्र किमपि कार्यं देवत्वकल्पनां विना न क्रियते अत एव वास्तुशास्त्रेऽपि देवभावाः अनुप्राणिताः सन्ति।

भारतस्य विज्ञानमध्यात्मयुक्तमेव वर्तते। पाश्चात्यकलाया आधारः सौन्दर्यमेव परञ्च भारतीयकलाविज्ञानयोराधारे आध्यात्मदर्शने च स्तः। अत एव हिन्दूनां शब्द-नाद-रसब्रह्मवादादिवत् वास्तुब्रह्मवादोऽपि दर्शनशास्त्रात् स्वतन्त्रो न वर्तते। दार्शनिकदृष्टिं विना वास्तुब्रह्मवादस्य कल्पनाऽपि न सम्भवति। धार्मिकदार्शनिकचेतनाविहीनं विज्ञानं शुष्ककाष्ठवत् न किमप्युपकरोति।

भारतीयवास्तुशास्त्रस्योद्गमो वेदेभ्यो जातः। अथर्ववेदस्योपवेदे स्थापत्यवेदे वास्तुशास्त्रीयसिद्धान्तानां चिन्तनं विस्तरेण कृतम्। वेदादारभ्य वास्तुशास्त्रस्य परम्परा अद्यावधिः वर्धमाना दृश्यते। हिन्दुवास्तुकलायाः प्रतिनिधिभूतः देवालय एव। देवालयवास्तुकला धर्मदर्शनयोरनुप्राणितोऽस्ति। धर्मार्थकाममोक्षेषु पुरुषार्थचतुष्ट्येषु मोक्षप्राप्तिरेव सर्वोपरिः। तस्मात् भारतीयसंस्कृतौ सर्वाणि कार्याणि तस्योपलब्धये क्रियन्ते। तेषु कार्येषु विशिष्टतमं कार्यमिदं देवालय-निर्माणम्। देवालयोऽपि देव-प्रतिमा मन्यते।

विश्ववाङ्मयस्य प्राचीनतमे ग्रन्थे ऋग्वेदेऽप्यर्चावास्तोवर्णनं समुपलभ्यते।[9] मन्दिर-निर्माणसन्दर्भिताः विविधोल्लेखाः प्राचीनभारतीयसाहित्येषु प्राप्यन्ते। पुरातत्त्वीयावशेषेषु प्राचीनप्रतिमा-मुद्रादीनामवलोकनेन

---

7. अग्निपुराणम् - 61/27, सं. तारिणीशझा, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1985ई.
8. प्राचीनभारतीयस्तूपगुहा एवं मन्दिर- पृ. 200, डॉ. वासुदेव उपाध्याय बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना - 2003ई.
9. ऋग्वेदसंहिता-1/32/2,7/54/1, सं. सांतवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, भारतमुद्रणालय, मुम्बई - 1996 सन्वत्

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मन्दिराणां प्रामाणिकता सिद्ध्यते। अनेन ज्ञायते यत् आरम्भकाले मन्दिरं देवायतनं वा सहजमेव निर्मीयते स्म। प्रतिमां परितः वेदिकायाः निर्माणं क्रियते स्म। वेदिकाऽप्याच्छाद्यते स्म। मन्दिराणामाकृतये मानवशरीराणि, वृक्षाः, पर्वतशिखराणि च प्रेरणास्रोतांसि आसन्। सदेहसगुणात्मकदेवस्य प्रतिमानिर्माणाय मानवस्य प्रेरणास्रोतत्वेन प्रयोगः स्वभाविकमेव वर्तते। केचन वृक्षाः, पर्वतशिखराणि च देवालयस्य प्रतीकरूपेण गृहीतानि।

भारतीयस्थापत्यं यज्ञवेद्या आरभ्य मन्दिराणां शिखर-शिखां पर्यन्तं सुविस्तरं वर्तते। प्र उपसर्गपूर्वकं सद् धातोः घञ् प्रत्यये सति प्रासादः।[10] शब्दोऽयं निष्पद्यते। प्रसीदन्त्यस्मिन्निति प्रासादः।[11] एवमेव प्रकर्षेण सादनं चयनं वा प्रासादः।[12] चयनस्य इयं परम्परा एव हिन्दुप्रासादनिर्माणकलायाः पृष्ठभूमिरस्ति। भारतीयमन्दिराणां निर्माणे जनानां धार्मिकभावनायाः प्राधान्यमस्ति। मन्दिरस्य पीठं-कलेवरं-विस्तारञ्च अस्याः भावनायाः प्राकट्यं करोति। प्रासादवास्तोर्विकासक्रमेण ज्ञायते यत् या भावना पाषाणकाष्ठादिभिर्निमित-पूजागृहाणां निर्माणे आसीत्। सैव भावना आधुनिकप्रासादानां निर्माणे अनुस्यूता वर्तते।

प्रासादस्योतुङ्गशिखरो देवत्वान्वेषणाय मानवस्य प्रयासान् प्रदर्शयति। तत्रैव प्रासादशिखरारूढो मानवमनो देवदर्शनं करोति। देवालयरचना न केवलं लौकिककलाधारिता एव अपितु अलौकिका-ध्यात्मिकतत्वयोः व्याख्या अपि वर्तते। देवालयो हिन्दुसंस्कृतेः धर्मदर्शनयोः मन्त्रतन्त्रयोः यज्ञचिन्तनयोः पुराणकाव्ययोः आगमनिगमयोः मूलभूततत्त्वानां मूर्तरूपं वर्तते। भारतीयस्थापत्यं देवहेतुकं वर्तते अत एव भारतीयस्थापत्यस्य पराकाष्ठा देवालयेष्वेव दृश्यते। देवालयस्य पाषाणभवने धर्मदर्शनाभ्यां प्राणाः सञ्चारिताः। भारतीयदर्शनानुसारं जीवनस्य साफल्यार्थं लौकिकाभ्युदयापेक्षया पारलौकिकयशसः प्राधान्यं वर्तते। पारलौकिकं निश्रेयसं प्राप्तुं निर्दिष्टेषु देवालयनिर्माण-मन्त्रोच्चारण-यज्ञ-चिन्तन-ध्यान-योग-वैराग्य-जप-तप-तीर्थाटनदेवदर्शनादिषु नानामार्गेषु प्रासादनिर्माणमप्येको विशिष्टतमो मार्गो वर्तते। मानवस्य बौद्धिकाध्यात्मिकक्षमतासु भेदत्त्वात् विभिन्नानां साधनानामुदयो जातः। परञ्च सर्वेषु मार्गेषु प्रासादनिर्माणस्य महत्त्वं विशिष्टतमं वर्तते यतो हि सर्वे जनाः बौद्धिकाध्यात्मिकक्षमतायुक्ताः साधारणबुद्धिमन्तः वा सर्वेऽपि देवालयमागत्य देवं सेवन्ते। सर्वेषां साधनापथः देवालय एव वर्तते।

अत एव वैदिककालीनदेवालयः केवलं मन्दिरमेव, इत्येव वक्तुं न शक्यते। देवालयरूपात्मकानां मन्दिराणां निर्माणं वैदिकयुगानन्तरमेव आरब्धम्। सर्वप्रथमं ब्रह्माविष्णुशिवानामेव स्थापना प्रमुखदेवत्वेन मन्दिरेषु जाता। कालान्तरे ब्रह्मणः महत्त्वं न्यूनमभवत्। यतोहि पौराणिकयुगे एको नूतनो विचार आगतो यत् ब्रह्मणः स्तुत्या एव दैत्यानां बलवृद्धिर्जायते। अतः शनैः शनैः ब्रह्मणः पूजने न्यूनता जाता।

10. वाचस्पत्यम्-भाग 6, पृ. 4530, सं. श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी-1962ई.
11. शब्दकल्पद्रुम-भाग 3, पृ. 365, राधाकान्त देव राज, शब्दकलपद्रुम, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी - 1967ई.
12. भारतीयस्थापत्यम्-पृ. 209, पृ. 209 द्विजेन्द्रनाथशुक्ल, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ - 1968ई.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मन्दिरमागत्य भक्तजनाः स्वेष्टदेवं प्रार्थयन्ति स्म। अनेन सामूहिकपूजनस्य नूतना परम्परा आरब्धा ततो भक्तिमार्गस्य विकासोऽभवत्। श्रीमद्भागवतपुराणे विष्णुना कथ्यते यत्–

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥[13]

अतो भक्तप्रियभावत्वात् विष्णुः वैदिकदेवेषु सर्वप्रियोऽभवत्। विशेषतया भारतस्योत्तरभूभागे विष्णुमन्दिराणां निर्माणमभवत्। एवमेव भारतस्य दक्षिणभूभागे शैवमन्दिराणां शुभारम्भो जातः। विष्णुमन्दिरेषु शिखरस्य प्राधान्यमासीत् यद्यपि शिवमन्दिरेषु शिखरस्य स्थाने स्तूपस्याविर्भावो जातः। मन्दिरस्य शिखरो दूरादेव भगवतः सर्वोच्चतामुद्घोषयति। यस्य सामीप्यं प्राप्य मनसि भक्तिभावना उत्पद्यते।

प्रासादस्य वास्तु साधारणजनभवनेभ्यः विशिष्टो वर्तते। मन्दिरे विभिन्नोत्कीर्णाकृतयः पशुपक्षिपुष्प-पौराणिकदृश्यादयः तत्कालीनसमाजस्य चित्रणं कुर्वन्ति। कामोत्तेजकप्रसङ्गैः दुष्टासुरीकृत्यानां चित्रणं वर्तते। जनाः मन्दिरमागत्य एव जीवनदर्शनस्य आध्यात्मिकचिन्तनस्य च ज्ञानं प्राप्नुवन्ति स्म। प्राच्यभारते मन्दिरनिर्माणाय शैली द्वे विकसिते नागरद्राविडश्चेति। नागरशैली भारतस्योत्तरभूभागे द्राविडशैली दक्षिणभूभागे च प्रावर्धत्। अनयोः मिश्रणं 'वेसर' इति कथ्यते। मध्यभारते वेसरप्रासादानामेवाधिक्यं वर्तते।

भारतस्य देवालयान् दृष्ट्वा मनसि प्रश्नो भवति यत् कदा कथञ्च देवालयस्थापत्यस्योद्भवो जातः। अस्मिन् विषये यदा विचारः क्रियते तदा ज्ञायते यत् मानवसभ्यतायामारम्भकालादेव मानवस्यादृष्टशक्तौ श्रद्धाभावो दृश्यते। तेन मानवेन स्वभावनां प्रकटीकर्तुमेव वृक्षाणां प्राकृतिकपदार्थानां सूर्यचन्द्रादीनामूर्तिरूपेण पूजनं कृतम्। ईश्वर इयं भावना सनातनकालदेव आसीत् परञ्च शनैः शनैः परिवर्तनमपि जातम्। यदा मानवः काननेषु कुञ्जरेषु-पर्वतशिखरेषु वसति स्म तदा तस्य ईश्वरोऽपि तत्रैव आसीत्। यदा तेन स्वस्मै निवासभवनानि निर्मितानि तदा वसतिष्वपि मन्दिराणि निर्मितानि। वैदिकयुगे प्रायशो मन्दिराणामभाव दृश्यते यतोहि वैदिकयुगः स्तुतेः यज्ञस्य चिन्तनस्य च आसीत्। अतो वैदिकयुगं स्तुतिप्रधानं यज्ञप्रधानं चिन्तनप्रधानमिति नास्ति अतिश्योक्तिपूर्णम् परञ्च यज्ञपरपम्परायाः यन्महत्वं ब्राह्मणकाले सर्वोच्चशिखरे आसीत् स एव आरण्यकोपनिषत्कालेऽपि भूमावागतम्।

तस्मिन्नेव काले बौद्धजैनधर्मयोरुदयत्वात् यज्ञबहुलहिंसासमन्वितवैदिकधर्मस्य ह्रासो जातः। भारते ब्राह्मणधर्मस्य सनातनधर्मस्य वा हासं अवरोद्धुं पौराणिकधर्मस्योदयोऽभूत्। पौराणिकधर्मे प्रतिमापूजनस्य विशिष्टं स्थानमासीत्। अतः पौराणिकधर्मस्योदयत्वात् भारते आहिमालयात् कन्याकुमारीं यावत् मन्दिराणां स्थापना अभवत्। कालान्तरे तान्येव मन्दिराणि तीर्थानि जातानि। वस्तुतस्तु देवालयवास्तोर्विकासो वेदीरचनया जातः। वैदिककालीनयज्ञवेद्ययामेवास्य मूलं निहितमस्ति।

पातञ्जलमहाभाष्येऽपि देवप्रसादस्य निर्देशः प्राप्यते[14]। तत्र प्रासादभूमिकायाः वर्णनं क्रियते। आङ्गलविद्वान् "राइस् डेविड्स्" महोदयानुसारं देवालयशब्दस्यार्थः–

13. श्रीमद्भागवतपुराण–9/4/63, 9.4.63, सं. रामतेज पाण्डेय, पंडित पुस्तकालय, काशी – 1952ई.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

"A long storied Mansion or the whole of an upper story or the storied building.[15]

एवमेव ''मयमतम्'' ग्रन्थस्य द्वितीयाध्याये वर्ण्यते यत् सभा-शाला-प्रपा-रङ्गमण्डपं मन्दिरञ्च पञ्चैतानि प्रासादाः कथ्यन्ते। यथोक्तम्-

सभा शाला प्रपा रङ्गमण्डपं मन्दिरं तथा।
प्रासाद इति विख्याप शिविका गिल्लिका रथम्।
स्यन्दनं चैवमानीक यानमित्युच्यते बुधैः॥[16]

एतानि भवनानि वस्तुतो दक्षिणात्यप्रसादस्यावयवभूता एव। अतः ''प्रासाद'' शब्दोऽयं प्रासादाङ्गभूतभवनेभ्यो मण्डपशालासभाशालादिभ्योऽपि प्रयुज्यते। यथोक्तमाङ्गलविदुष्या श्रीमतीस्टैलाक्रैम-रिशमहोदयया-

"They are part of the whole establishment of a south Indian temple. The Meaning of a south Indian temple. The Meaning of a PRASADA is extenoled here from temple itself to the Various halls etc. which are attached to it.[17]

देवालयस्य कृते ''विमानम्'' शब्दोऽपि प्रयुज्यते। ''वि'' उपसर्गपूर्वकं ''मा'' धातोः ल्युट् प्रत्यये सति निष्पन्नोऽयं शब्दो विमानम्। यथोक्तम्-

नानामानविधानत्वाद् विमानं शास्त्रतः कृतम्।[18]

विमानस्य जन्मविषये वर्ण्यते यत् प्राचीनकाले ब्रह्मा देवेभ्यः पंचविमानानां रचनां चकार। येषां नामानि वैराज-कैलास-पुष्पक-मणिक-त्रिविष्टपादयः। ब्रह्मा स्वर्णनिर्मितविमानेषु वैराजः स्वस्मै, कैलासः शङ्कराय, पुष्पकं कुबेराय, मणिकं वरुणाय, त्रिविष्टपं इन्द्राय च वितरितवान्। आङ्गलविदुषी श्रीमतीस्टेलाक्रैमरिशमहोदयानुसारं-

"Vimana is the name of the temple built according to tradition by the appilcation of various proportionate measurement or various stranderd of proportionate measeurement.[19]

मानसारेऽपि एकतालादारभ्य द्वादशतलात्मकभवनानां देवालयानाञ्च विमान संज्ञा वर्तते।[20] अतो विमानं देवभवनमेव। भारतीयस्थापत्ये मन्दिरनिर्माणस्य शैली-द्वयं वर्तते। प्रथमा नागरशैली

---

14. पातञ्जलमहाभाष्यम् - 2/2/34, भाण्डारकर ओरियण्टल, रिसर्च इस्टिट्यूट, पूना
15. भारतीयस्थापत्यम् - पृ. 222 (उद्धृतम्), द्विजेन्द्रनाथशुक्ल, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ - 1968ई.
16. मयमतम् - 2/6-7, सं. शैलजा पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी - 2007ई.
17. भारतीयस्थापत्यम् - पृ. 226 (उद्धृतम्), द्विजेन्द्रनाथशुक्ल, हिन्दी समिति, सूजना विभाग, लखनऊ - 1968ई.
18. तत्रैव - पृ. 227 (उद्धृतम्)
19. तत्रैव
20. मानसार - 18/13-87, सं. प्रसन्न कुमार, अपेरियण्टल बुक रिप्रिंट करपोरेशन, नई दिल्ली - 1997ई.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

द्वितीया द्राविडशैली च। तत्रापि नागरशैल्याः ख्यात्युत्तरीपरम्परायां द्राविडशैल्या दक्षिणीपरम्परायाञ्च वर्तते।

ऋग्वेदेऽपि त्रिभौमिकप्रासाद-सहस्रस्तम्भीयप्रासादादिविषयकी च चर्चा समुपलभ्यते।[21] वसिष्ठस्य कामनाऽपि सहस्रस्तम्भीयभवनाय दृश्यते।[22] सिन्धुसभ्यतायाः सम्यक् परिशीलनेन ज्ञायते यत् तस्मिन् काले भारतस्य निवासीनां पूजापद्धतिः प्रतीकोपासनारूपेण प्रतिष्ठिता आसीत्। कालान्तरे "स्वर्गकामो यजेत्[23]" इत्यस्य प्रसिद्धिर्जाता। वैदिकीययज्ञवेदी प्रासादवास्तोः मूलत्वेन स्मर्यते। तत्र वेद्याधिष्ठानमेव प्रासादस्य वास्तविकाधारो जातः। यथा वेद्यां चितेर्निर्माणं भवति तथैव प्रासादेषु जगत्या अधिष्ठानस्य वा निर्माणं भवति। श्रीमती स्टेला क्रैमरिशमहोदयानुसारं "मन्दिरस्य शरीरस्थापनायां वैदिकचितिरेव हेतुर्वर्तते[24]।" वैदिककाले काष्ठचतुष्ट्येन यत् मण्डपं निर्मीयते स्म तत् मण्डपमेव कालान्तरे मन्दिररूपेण परिणतमभवत्। वेदीभूषा एव कालान्तरे शिखरभूषासु परिवर्तिताः। आगमसाहित्ये मन्दिरस्य वर्णनं पर्वतरूपेणापि प्राप्यते। प्राचीनमन्दिराणां नामान्यपि पर्वतानाधारीकृत्यैव वर्तन्ते यथा शिवस्य कैलाशः।

समराङ्गणसूत्रधारे मेरुः "प्रासादराज" इत्युक्तम्। पर्वतेषु स एव पर्वतराजः। अतः प्रासादनिर्माणेऽपि गिरिकन्दरानां महत्वं वर्तते नाऽत्र सन्देहलेशोऽपि। वैदिककालात् पूर्वमेव वास्तुकलायाः प्रारम्भो जातः। मध्यकालीनकृतिषु समराङ्गणसूत्रधार-अपराजितपृच्छा-तन्त्रसमुच्चयादिषु ग्रन्थेषु प्रासादवास्तोः चरमोत्कर्षो दृश्यते। तदनन्तरं प्रासादपरम्परायां न केवलं प्रासादे प्रतिष्ठायाः प्रतिमायाः पूजनमारब्धं, अपितु प्रासादोऽपि जनानां श्रद्धाकेन्द्रं जातम्। तस्मिन् काले एव "स्वर्गार्थी देवालयं कारयेत्" इत्थं नूतनां चेतना प्रस्फुटिता।

प्रासादवास्तोर्महत्वं ऋषिभिर्ग्रन्थेषु बहुलापि वर्ण्यते। मन्दिरनिर्माणं पूर्तकर्मसु परिगण्यते। अतो जलाशयवृक्षादिभिः युतमन्दिरस्य निर्माणेन इष्टापूर्तफलप्राप्तिर्भवति। यथोक्तमपराजितपृच्छायाम्-

सुरालयविभूत्यर्थं भूषणार्थं पुरस्य तु।
नराणां भुक्तिमुक्त्यर्थं सत्यार्थं चैव सर्वदा॥

लोकानां धर्महेतुश्च क्रीडाहेतुश्च स्वर्भुवाम्।
कीर्तिरायुर्यशोऽर्थं च राज्ञां कल्याणकारकः॥[25]

अत एव नगरभूषणार्थं, मनुष्याणामैश्वर्यर्थं, भुक्तिमुक्त्यर्थञ्चदेवानां क्रीडास्थानत्वेन कीर्तिरायुष्ययशवृद्धये च देवालयाः निर्मीयन्ते। वस्तुतो देवालयनिर्माणं धर्मकर्त्तव्यमिति मन्यते। अग्निपुराणे

21. ऋग्वेदसंहिता - 8/41/9, 7/86/1, सं. सांतलेकर, स्वाध्यायमण्डल, भारतमुद्रणालय, मुम्बई - 1996 सम्वत्
22. ऋग्वेदसंहिता - 7/86-88 सं. सांतवलेकर, स्वाध्ययमण्डल, भारतमुद्रणालय, मुम्बई - 1996 सम्वत्
23. अथर्वसंहिता - पृ. 16, सं. रामस्वरूप शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी - 2007ई.
24. भारतीयस्थापत्यम् - पृ. 269, द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ - 1968ई.
25. अपराजितपृच्छा - 115/3-4, सं. पी.ए. मांक्ल, गायकवाड़ओरियण्टल, सीरीज, बड़ौदा - 1950 ई.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तु देवालयनिर्माणस्य फलश्रुतिरपि सविस्तरेण प्राप्यते। तत्र वर्ण्यते यत् मनसि अपि यो देवालयनिर्माणं चिन्तयति तस्य शतजन्मनः पापानां नाशो भवति। यथोक्तम्–

मनसा सद्मकर्तृणां शतजन्माघनाशनम्।
येऽनुमोदन्ति कृष्णस्य क्रियमाणं नरा गृहम्।।[26]

यत् फलं यज्ञादिभिर्न प्राप्यते तत् फलं मन्दिरस्य निर्माणेन प्राप्यते। मन्दिरनिर्माणस्य फलं सर्वेषु तीर्थेषु कृतस्नानतुल्यं भवति। यथोक्तम्–

फलं यन्नाप्यते यज्ञैर्धाम कृत्वा तदाप्यते।
देवागारे कृते सर्वतीर्थस्नानफलं लभेत्।।[27]

ये बालकाः क्रीडमानाऽपि पांसुना मन्दिरं निर्मान्ति तेऽपि विष्णुलोकं प्राप्नुवन्ति। यथोक्तम्–

बात्ये तु क्रीडमाना ये पांसुभिर्भवनं हरेः।
वासुदेवस्य कुर्वन्ति तेऽपि विष्णुलोकगामिनः।।[28]

एकस्मिन् स्थले तु मन्दिरनिर्माणस्य फलं कीर्तनदानाभ्यामपि श्रेष्ठमुक्तम्। यथोक्तम्–

दानेनयज्ञाधिकं यस्मात्कीर्तनेभ्यो वरं यतः।
अतश्च कारयेद्धीमान् विष्ण्वादेर्मन्दिरादिकम्।।[29]

वस्तुतो देवालयनिर्माणं लोकोपकारकं वर्तते यतो हि देवालयस्य मण्डपे सर्वे जना निर्धनाः धनिकाः वा मिलित्वा भगवतः पूजनार्चनं कुर्वन्ति। अनेन पारस्परिकसद्भावना उत्पद्यते, अतो मन्दिरनिर्माणेन लौकिकं पारलौकिकञ्च सुखं प्राप्यते। यथोक्तम्–

कृत्वा प्रभूतं सलिलमारामान् विनिवेश्य च।
देवतायतनं कुर्याद्यशोधर्म्माभिवृद्धये।
इष्टापूर्तेन लभ्यन्ते ये लोकायस्तान् विभूषितः।
देवानामालयः कुर्याद् द्वयमप्यत्र दृश्यते।।[30]

अनेन प्रकोरण वक्तुं शक्यते यद् भारतीयप्रासादविज्ञानं न केवलं भवननिर्माणस्य विज्ञानमात्रमेव अपितु प्रासादनिर्माणानां पृष्ठभूमौ यानि दार्शनिकतत्वानि निहितानि सन्ति तान्येव भारतीयस्थापत्यस्य विशेषतां बोधयन्ति।

---

26. अग्निपुराणम् – 38/2, सं. तारिणीशझा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1985ई.
27. तत्रैव – 38/6, सं. तारिणीशझा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1985 ई.
28. तत्रैव – 38.13, सं. तारिणीझा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1985 ई.
29. तवैव – 38/26, सं. तारिणीशझा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग – 1985 ई,
30. बृहद्वास्तुमाला – पृ. 160, सं. रामनिहोर द्विवेदी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी – 2001 ई.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुनि दार्शनिकतत्त्वानि

डॉ. सच्चिदानन्दस्नेही

ॐ वास्तुदेवा नमस्तेऽस्तु भूशय्याभिरतं प्रभो।
मद् गृहं धन-धान्यादिसमृद्धं कुरु सर्वदा।।[1]

लोके वास्तुशास्त्रस्य दर्शनस्य च परिचर्चा सर्वत्र श्रूयते अतः जिज्ञासा जायते यत् किं नाम वास्तुशास्त्रम्? तत् कतिविधम्? किं नाम दर्शनम्? वास्तुविज्ञानस्यापि दर्शनं किमपि अस्ति न वा? वास्तुशास्त्रेण सह दर्शनस्य कः सम्बन्धः? किं भवननिर्माणशास्त्रमेव वास्तुशास्त्रम्? किं भवननिर्माणाय वास्तुशास्त्रस्य विधीनां परिपालनमनिवार्यम्? वास्तुविज्ञानस्य पर्यावरणविज्ञानेन सह कः सम्बन्धः? इत्यादयः बहवः प्रश्नाः मनसि समागच्छन्ति। कथमेतेषां प्रश्नानां समाधानं भवेत्? कदाचित् वास्तुशास्त्रे अन्तर्निहिते दर्शनस्य तत्त्वज्ञानेनैव सर्वेषां प्रश्नानां समाधानं भवेत्। अतः वास्तुशास्त्रे सन्निहिते दर्शनस्य ज्ञानाय अत्र चर्चा प्रस्तूयते।

ननु नानाविधदुःखैः संपीडिताः स्वभविष्यज्ञातुकामाः इष्टप्राप्त्यर्थमनिष्ट- परिहारार्थमुद्यताः जनाः निःश्रेयसपथप्रदर्शकं प्रामाणिकं ज्योतिषशास्त्रमभिलषन्ति। सम्प्रति लोके सर्वाषु अर्थकरीषु विद्यासु ज्योतिर्विद्या अन्यतमा। ज्योतिर्विद्यायाः **सैद्धान्तिकं ज्योतिषं, फलित-ज्योतिषं, खगोलविज्ञानं, सामुद्रिकशास्त्रं, वास्तुशास्त्रमित्यादयः बहवा आनुषङ्गिकाः विषयाः अवान्तरपक्षाः वा सन्ति।** तेषु वास्तुशास्त्रस्य स्थानं महत्वपूर्णं वर्तते। अन्याषु ज्योतिर्विद्याषु जनाः केवलं स्वमङ्गलकामनावशात् प्रवर्तन्ति परञ्च वास्तुशास्त्रे स्वस्य कल्याणेन सह परेषामभ्युदयमपि अभिलषन्ति यतोहि वास्तुशास्त्रं पर्यावरणविज्ञानमपि वर्तते। जनाः पर्यावरणस्य संरक्षणं विना स्वयं निःश्रेयसं नैव प्राप्तुं शक्नुवन्ति। वास्तुशास्त्रं न केवलं भवननिर्माणशास्त्रमस्ति अपितु पर्यावरणविज्ञानमपि वर्तते। वास्तुशास्त्रस्य दर्शनेनैतत् सर्वं विज्ञातं भवति। समानभावः वास्तुशास्त्रे अपि मङ्गलकामनारूपेण उक्तम् -**वास्तुशास्त्रं प्रवक्ष्यामि लोकानां हितकामनया**[2]। उक्तञ्च-

प्रकृतिः पञ्चभूतानि ग्रहाः लोकाः स्वरास्तथा।
दिशः कालश्च सर्वेषां सदा कुर्वन्तु मङ्गलम्।।

---

1. मङ्गलाचरणम् ''सरल गृह वास्तु'' (हिन्दी सं.), लेखकः -प्रमोद कुमार सिन्हा, अ. भा. ज्यो. सं.संघ, नयी दिल्लीतःप्रका. दि0 संस्करणम् 2010।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुशास्त्रस्य विषये हलायुधकोषे उक्तम्-

वास्तु संक्षेपतो वक्ष्ये गृहादौ विघ्ननाशनम्।
ईशानकोणादारभ्य ह्येकाशीति पदे त्यजेत्।।[3]

वास्तुशास्त्रस्यापि समुन्नतं दर्शनं वर्तते, यतो हि दर्शनविहीनं तु न कोऽपि विषयो वर्तते। अमरकोषे वास्तुपदस्य अर्थमुक्तम्-**''गृहरचनाऽवच्छिन्न भूमौ''**। अर्थात् गृहरचनायोग्यमवछिन्नं भूमिं **'वास्तु'** पदेनोच्यते। जैनदर्शने तु-**'अनन्तधर्मकं वस्तु'**[4]। वस्तूनां (द्रव्याणां) सामञ्जस्यं **'वास्तु'** इति। वस्तुतः वस्तूनां विज्ञानमेव वास्तुशास्त्रमिति। अतः पञ्चमहाभूतानां सामञ्जस्यपूर्ण समानुपातिकं सम्मिश्रणं वास्तु पदेनोच्यते। पाञ्चभौतिकमेव मानवस्य शरीरमपि। शरीरस्य लक्षणमुक्तं न्यायसूत्रकारेण- 'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्'[5]। मानवस्य शरीरस्योत्पतिः पञ्चभूतानां सम्मिश्रेणैव, विनाशश्च पञ्चभूतानां विभागेन जायते। तद्यथा-

शरीरस्य निर्माणप्रक्रिया=(आकाशः + अग्निः + वायुः + जलम् + पृथ्वी)

देहस्य ध्वंसप्रक्रिया = (शरीरं-वायुः-जलम्-अग्निः-पृथिवी-आकाशः)

वस्तुतः शरीरे पञ्चमहाभूतानां स्थितिः प्रत्यक्षप्रमाणेन सर्वसिद्धमेव। मानवशरीरस्य मस्तिष्के आकाशस्य, बाहौ अग्नेः, नाभौ वायोः, पादयोः पृथिव्याः, पादान्ते सर्वशरीरे च जलस्य वासो वर्तते। चैतन्यं तु आत्मनि वसति। कविवर-गोस्वामी-तुलसीदासेनापि उक्तम् 'रामचरितमानसे'-

छिति-जल-पावक-गगन-समीरा। पञ्चतत्वमय अधम शरीरा।।

जनाः दुःखेभ्यः निवृत्तिः सुखप्राप्तिश्च वाञ्छन्ति। तत् सर्वं तु शरीरमाध्यमेन प्राप्तुं शक्यते। उक्तञ्च **''शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्''** इति। तथा च पुरुषार्थचतुष्टयाणां धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धेर्मूलमारोग्यमेव। वास्तुशास्त्रानुपालनेन पञ्चतत्त्वानां सामाञ्जस्येन च आरोग्यादिकं सर्वं सुखं भवति। लोके सर्वं सुखम् आरोग्येन धनेन धर्मेण च । आरोग्यं धनं च सुखाय अनिवार्यम्। एतत् सर्वं प्राप्त्यर्थं वास्तुशास्त्रमेव मार्गप्रदर्शकं शास्त्रमस्ति। अतएव महाभारते भूलोकस्य षट्सुखवर्णने व्यासेन आरोग्यं प्राधान्येन व्यपदिश्यते-

अर्थागमो नित्यमरोगिता च, प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या, षट् जीवलोकस्य सुखानि राजन्।।

---

2. विश्वकर्माप्रकाशात्।
3. ''सरल गृह वास्तु'' (हिन्दी सं.), पृ.सं. 2 लेखकः -प्रमोद कुमार सिन्हा, अ. भा. ज्यो. सं.संघ, नयी दिल्लीतःप्रका. दि0 संस्करणम् 2010।
4. तत्त्वार्थसूत्रम् आचार्य उमास्वामीना प्रणीतः।
5. न्यायसूत्रम् 1.1.11

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

विविधानि च भौतिकानि सुखानि, नानाविधभोज्यानि सांसारिकविषयभोगविलासाः वास्तुशास्त्रस्य विधीनां परिपाल्य निर्मिते गृहे एव प्राप्तुं शक्नुवन्ति।

ननु किं नाम वास्तुशास्त्रं यं लोककल्याणाय परिकल्प्यते? किं वा तस्य दर्शनम्? समाधत्तेवस्तूनामनुशासनमेव वास्तुशास्त्रम्। वस्तूनां सामञ्जस्यं विधायकं शास्त्रं वास्तुशास्त्रम्। शास्ति च त्रायतेऽन्वेतीति शास्त्रम्। **'शासु'**[6] अनुशिष्टौ आज्ञायां वा, **'शंसु'**[7] स्तुतौ प्रकटने वर्णने चेति धातुभ्यां शास्त्रशब्दस्य व्युत्पत्तिर्जायते। आगमपरम्परायां शास्त्राणां व्युत्पत्तिः लक्षणञ्च प्राप्यते। तद्यथा-

शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते।
शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभिः।
शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम्।[8]

अतः लोककल्याणाय अन्तः वस्तूनां बाह्यपर्यावरणेन सह सामञ्जस्यं विधायकमुपायशास्त्रं वास्तुशास्त्रमित्युच्यते। अभीष्टफलप्राप्त्यर्थमनीष्टपरिहारार्थं वास्तुशास्त्रस्य नियमानां परिपालनमवश्यमेव करणीयम् । यथोक्तं शास्त्रकारैः-

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य प्रवर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।[9]

तथा च विधिनिषेधयोः भेदेन श्रुतिस्मृत्यादिग्रन्थेषु प्रतिपादितं शास्त्रं द्विविधं प्रोक्तम्। वास्तुविज्ञानमपि विधिनिषेधमुखेन लोककल्याणाय जनानुपदिशति। यथोक्तम्-

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते।।[10]

शास्त्राणां प्रामाण्यं तु श्रुतित्वात् । श्रुतीनां प्रामाण्यमपौरुषेयत्वात्। वास्तुशास्त्रस्यापि प्रामाण्यं

---

6. "संस्कृतधातुकोषः", विस्तृतभाष्यार्थसहितः, पं0 युधिष्ठिरो मीमासंकः, पृ. सं. 118, प्र0 रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, हरियाणा।
7. "संस्कृतधातुकोषः", विस्तृतभाष्यार्थसहितः, पं0 युधिष्ठिरो मीमासंकः, पृ. सं. 120, प्र0 रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, हरियाणा।
8. "भारतीयदर्शन", बलदेव उपाध्याय, पृ. सं. 03, शारदा मन्दिर ,वाराणसी।
9. "श्रीमद्भगवद्गीता" शाङ्करभाष्यार्थसहितः, श्लोक सं0 16.23 एवं 16.24, गीताप्रेसगोरखपुरतः प्रकाशितं संस्करणम्, सं0 2065.
10. "श्लोकवार्तिक", कुमारिलभट्ट, श्लोक सं0 05.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

श्रुतिमूलकत्वात्। यथोक्तं- **'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।'**[11] वास्तुशास्त्रस्य मूलोद्गमस्थानं तु ऋग्वेदस्य पुरुषसूक्ते प्राप्यते। अस्य वास्तुशास्त्रस्य दर्शनमुपनिषदः निर्गतः। वास्तुशास्त्रस्यापि तत्त्वमीमांसा-ज्ञानमीमांसा, नीतिमीमांसाश्चेति त्रिविधं दार्शनिकं विभाजनं वर्तते। वास्तुशास्त्रपर्यावरणविज्ञानयोः वैदिकदर्शनेन सह अन्तःसम्बन्धो अपि वर्तते। वास्तुशास्त्रस्य तत्त्वमीमांसायां प्रथमं ज्ञातव्यानि तत्त्वानि कानि सन्ति येषां तत्त्वज्ञानेन वास्तुशास्त्रस्य सम्यक्ज्ञानं भवेत्?

वास्तुशास्त्रे **पृथिव्यपस्तेजवाय्वाकाशकालदिकात्ममनांसीति नव तत्त्वानि** परिज्ञातव्यानि सन्ति। न्यायदर्शने एतानि तत्त्वानि द्रव्यपदार्थे सन्निहितानि सन्ति। तेषां तात्त्विकं विवेचनं तर्कसङ्ग्रहादिन्यायग्रन्थेषु विस्तरेण प्राप्यते। तत्र पञ्चमहाभूतैः सह दिक्कालात्ममनसां विवेचनं विस्तरेण क्रियते। पञ्चमहाभूतेभ्यः उत्पत्तिमानत्वात् संसारः प्रपञ्चेति नाम्ना विख्यातो अस्ति।

पञ्चमहाभूतानां विषये प्रायः सर्वे जनाः जानन्ति एव यतो हि तेषां स्थूलभूतानां लोकेऽस्मिन् सर्वत्र सर्वेषां कृते समानोपलब्धिर्भवत्येव। कानि पञ्चमहाभूतानि? किञ्च तेषामस्माकं जीवने उपयोगिता? सर्वशास्त्रेषु आयुर्वेदशास्त्रे, आधुनिकचिकित्साविज्ञाने, मनोविज्ञाने, आध्यात्मजगति, धर्मशास्त्रे, सर्वदर्शने, योगविज्ञाने वा **'पञ्चमहाभूतेभ्यः निर्मितमस्माकं शरीरमिति'** स्वीकृतः सर्वतन्त्रसिद्धान्तोऽस्ति।

भारते वैदिकदर्शनोत्थानकालादेव **वास्तुशास्त्रस्य पद्धतिरेषा** समुन्नताः आसीत्। वेदेषु प्रतिपादितं सृष्टेः उत्पत्तिप्रक्रियां **'त्रिवृकरणं'**, वेदान्तदर्शने प्रतिपादितं **'पञ्चीकरणं'**, भारतीयदर्शनेषु पञ्चमहाभूतानां निरूपणं चास्य प्रमाणमस्ति। पञ्चमहाभूतविषयकदर्शनं न्याय[12] वैशेषिकवेदान्तादिषु भारतीयदर्शनेषु बहुधा वर्ण्यते। यथा-वेदान्तदर्शने पञ्चीकरणसिद्धान्तः। यथोक्तं वेदान्तसारे-**''स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि।** पञ्चीकरणं त्वाकाशादिपञ्चस्वेकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्चभागान्प्रत्येकं संयोजनम्।'' तदुक्तं-

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्व-स्वेतर-द्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च-पञ्च ते॥[13]

पञ्चीकरणसिद्धान्ते मन्यते यत् पञ्चमहाभूतेषु सर्वेषामपि महाभूतानां सम्मिश्रणमस्ति। **वास्तुशास्त्रे पञ्चमहाभूतानां सम्मिश्रणसिद्धान्तमङ्गीकृत्यैव नैसर्गिकोपचाराः वास्तुदोषनिवारणोपायाः विधीयन्ते।** ***'गृहे वसन्तीति वास्तु'*** इति मन्यमसनसः ते स्वीकुर्वन्ति यत् गृहे (निर्मिते भवने) जडत्वेन

11. ''मनुस्मृतिः'' 2.13 ,''भारतीयदर्शन'', बलदेव उपाध्याय, पृ. सं. 14, शारदा मन्दिर ,वाराणसी।
12. घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः। न्यायसूत्रम् 1.1.12.।
पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि। न्यायसूत्रम् 1.1.13.।
गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः। न्यायसूत्रम् 1.1.14।
13. वेदान्तसारः, आचार्यसदानन्दप्रणीतम्।
14. सांख्यकारिका ईश्वरकृष्णेन प्रणीता, का. सं. 22

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अङ्गीकृतानि पञ्चमहाभूतानि काल-दिक्-आत्म-मनांसीति नवद्रव्यैः सह चेतनीभूत्वा वसन्ति। पञ्चमहाभूतानां पञ्चीकरणसिद्धान्तस्तु तालिकामाध्यमेन निरूप्यते-

क्र.सं.		पृथिवी	जलम्	तेजः	वायुः	आकाशः
01.	पृथिवी	1/2	1/8	1/8	1/8	1/8
02.	जलम्	1/2	1/8	1/8	1/8	1/8
03.	तेजः	1/2	1/8	1/8	1/8	1/8
04.	वायुः	1/2	1/8	1/8	1/8	1/8
05.	आकाशः	1/2	1/8	1/8	1/8	1/8

वास्तुशास्त्रस्य आधारोऽपि भारतीयं वैदिकं दर्शनमेवास्ति। भारतीयदर्शनेषु पञ्चमहाभूतानां वर्णनं बहुधा प्रतिपाद्यते। यथा-सांख्यदर्शने पञ्चमहाभूतानां उत्पत्तिः मूलप्रकृतौ त्रिगुणविक्षेपात् पञ्चतन्मात्राभ्यः भवति। यथोक्तं सांख्यकारिकायाम् -

प्रकृतेर्महांस्ततोऽङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥[14]

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः तैजसादुभयम्॥[15]

वास्तुशास्त्रे भूमेः आकृतिमूलकं परीक्षणं वर्गीकरणञ्च प्राधान्येन व्यपदिश्यते। अतः भूमिपरीक्षणं वास्तुशास्त्रस्य प्रधानमङ्गं वर्तते। उक्तञ्च- *'ततो भूमि परीक्षेत वास्तुज्ञानविशारदः'।* वास्तुशास्त्रे भूमिपरीक्षणं वर्गीकरणं च क्रियते। तद्यथा-

सुगन्धा ब्राह्मणी भूमी रक्तगन्धा तू क्षत्रिया।
मधुगन्धा भवेद्वैश्या मद्यगन्धा च शूद्रिका॥ -कल्पद्रुम

एवमेव तर्कसङ्ग्रहे पञ्चमहाभूतेषु पृथिव्याः स्वरूपं निरूप्यते- **"तत्र गन्धवती पृथिवी।** सा द्विविधा नित्यानित्या चेति। नित्या परमाणुरूपा। अनित्या कार्यरूपा। पुनस्त्रिविधा शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। **शरीरमस्मदादीनाम्। इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणम्।** तच्च नासाग्रवर्त्ति। **विषयो मृत्पाषाणादिः।"**[16] बृहत्संहितायामुक्तं यत् न केवलं गृहमपितु गृहस्य पर्यावरणमपि सम्यक् भवेत्-

शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा स्निग्धा समा न सुषिरा च मही नराणाम्।
अप्यध्वनिश्रमविनोदमुपागतानां धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु॥
-बृहत्संहिता

15. सांख्यकारिका ईश्वरकृष्णेन प्रणीता, का. सं. 25
16. तर्कसङ्ग्रहः अन्नंभट्टेन प्रणीतः, मूलपाठात्।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुशास्त्रे पृथिवी प्रथमं तत्त्वम्। वस्तुतः चराचरसंसारस्य स्थितिः भूमौ वर्तते। भूमिं विना गृहस्य स्थिति अकल्पनीया। अतः वास्तुशास्त्रस्य आधारो **'पृथिवीतत्त्वम्' अङ्गीक्रियते।** अतः अथर्ववेदे उक्तं- ***'माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'।*** तर्कभाषायां पृथ्वीविषये वर्ण्यते-''**तत्र पृथिवीत्वसामान्यवती पृथिवी, काठिन्यकोमलत्वाद्यवयवसंयोग विशेषेणयुक्ता। घ्राण- शरीर -मृत्पिण्ड-पाषाण-वृक्षादिरूपा। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व- संयोग- विभाग-परत्व-** अपरत्व-गुरूत्व-द्रवत्व-संस्कारवती। द्विविधायाः पृथिव्याः रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा- अनित्याः पाकजाश्च। पाकस्तु तेजः संयोगः, तेन पृथिव्याः पूर्व रूपादयो नश्यन्त्यन्ये जन्यन्त इति पाकजाः।''[17] जनाः नानाविधभोग्यान् पार्थिवपदार्थान् प्राप्तुकामाः लोके प्रवृत्ताः भवन्ति। न कोऽपि जीवोऽस्ति संसारेऽस्मिन् यः नानाविधपार्थिवपदार्थानां भोगं न करोति। **अतः पार्थिवपदार्थानां सम्यक् उपभोगप्रक्रिया वास्तुशास्त्रे** व्यपदिश्यते।

वास्तुशास्त्रे जलं द्वितीयं तत्त्वम्। जलस्य महात्म्यं सर्वे जानन्ति। उक्तं च- **'जलमेव जीवनम्'। जलं विना जीवनं, गृहं, शरीरं च नैव कल्पयितुं शक्यते। तर्कसङ्ग्रहे** जलस्य स्वरूपमेवं निरूप्यते-''**शीतस्पर्शवत्यः आपः।**..... पुनस्त्रिविधाः शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वरूणलोके। इन्द्रियं रसग्राहकं रसनम्। तच्च जिह्वाग्रवर्ति। विषयः सरित्समुद्रादिः।''[18] तर्कभाषायां तु- ''**अप्त्वसामान्य-युक्ता आपः। रसेन्द्रियशरीरसरित्समुद्रहिमकरकादिरूपाः। गन्धवर्जस्नेहयुक्तपूर्वोक्तगुणवत्यः।**'' अतः वास्तुशास्त्रे जलस्य **उत्पत्तिः** (नलकूपादियन्त्रस्य स्थलम्), **संस्थितिः** (जलस्य संग्राहकस्थलस्य स्थितिः), **लयस्थानस्य च** (जलस्य निष्कासनप्रणाल्याः) विवेचनं क्रियते। जलतत्त्वस्य दिक्संयोजनमपि विधीयते।

वास्तुशास्त्रे अग्निः तृतीयं तत्त्वम्। वैदिकसूक्तेषु वेदमन्त्रेषु वा अग्निः प्राधान्येन ('अग्निः ज्योतिः। ज्योतिरग्निः.....' इत्यादिषु मन्त्रेषु) व्यपदिश्यते। तथा च तैतरीयकेऽऽरण्यके आदित्यदेवं (सूर्यं) सौरमण्डलस्य अधिपतित्वेन उक्तम्- ''येनेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः।

ततः क्षत्रं बलमोजश्च जातम्॥''[19]

तर्कसङ्ग्रहे तेजसः स्वरूपमेवं निरूप्यते- ''**उष्णस्पर्शवत्तेजः।** पुनस्त्रिविधम्। शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमादित्यलोके। इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः। तच्च कृष्णताराग्रवर्ति। विषयश्चतुर्विधः। भौमदिव्यौदर्याकरजभेदात्। **तत्र भौमं वह्न्यादि। दिव्यमबिन्धनं विद्युदादिः। भुक्तस्य परिणामहेतुरुदर्यम्। आकरजं सुवर्णादि।**''[20] **तर्कभाषायामपि**-''तेजस्त्वसामान्यवत् तेजः। चक्षुः

17. तर्कभाषा केशवमिश्रेण प्रणीता, आचार्य विश्वेश्वरस्य हिन्दीव्याख्यानेन विभूषिता, चौ0 सं0 भ0 वाराणसीतः प्रकाशितं संस्करणं वि0 सं0 2057.
18. तर्कसंग्रहः, अन्नंभट्ट प्रणीतः।
19. तैतरीयारण्यकम् 3.11, "Science in Sanskrit" पृ.सं. 01. संस्कृतभारती, नवदेहलीतः प्रकाशितम् सं.2007
20. तर्कसंग्रहः, अन्नंभट्ट प्रणीतः।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शरीरसवितृसुवर्णवह्निविद्युतादिप्रभेदम्। रूप-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग- विभाग-परत्व-अपरत्व-द्रवत्व-संस्कारवत्। नित्यमनित्यञ्च पूर्ववत्।'' ***'अग्निः कल्याणकारिणी तेजस्वीनि च'*** भवेदित्याकाङ्क्षयाः वास्तुशास्त्रानुसारेण गृहे अग्निस्थलं (पाकशालायाः स्थलं दिक्संयोजनादिकं च) **विचिन्त्यते।**

वास्तुशास्त्रे वायुः चतुर्थं तत्त्वम्। 'वायुः प्राणदायिनी' इति सर्वसिद्धं तथ्यम्। तर्कसङ्ग्रहे उक्तम् -**''रूपरहितस्पर्शवान् वायुः-----।** पुनस्त्रिविधः। शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वायुलोके । इन्द्रियं स्पर्शग्राहक त्वक्। तच्च सर्वशरीराग्रवर्ति। विषयो वृक्षादिकम्पन्नहेतुर्वायुः, शरीरान्तस्संचारी वायुः प्राणश्च। स चैकोऽप्युपाधिभेदात् प्राणापानादिसंज्ञां लभते।'' **तर्कभाषायां-''वायुत्वाभिसम्बन्धवान् वायुः।''** त्वगिन्द्रियप्राणवातादिप्रभेदः। स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग- परत्व-अपरत्ववेगवान्। स च स्पर्शाद्यनुमेयः।'' अन्तःकरणशमनाय श्वासप्रश्वासयोः गतिर्विच्छेदरूपप्राणायामः[21] विधीयैते। **कुम्भक-रेचक-पूरक-प्राणायामक्रियया मनः शान्तिः, प्राणवायुसञ्चरणं, रक्तसञ्चरणं, प्राणशक्तिवर्धनं च भवति।'** ***वायुः प्राणदायिनी*** भवेदित्यकाङ्क्षयाः वास्तुशास्त्रानुसारेण गृहे पर्यावरणे च शुद्धप्राणवायोः (आक्सिजन) आगमनं अशुद्धवायोः निष्कासनाय वृक्षोद्यानवातायनादिसंयोजनं **विचिन्तयते।**

वास्तुशास्त्रे आकाशः पञ्चमं तत्त्वम्। तर्कसङ्ग्रहे आकाशनिरूपणं- **''शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभु नित्यं च।'' तर्कभाषायां-''शब्द-संख्या- परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागवत्। शब्दलिङ्गकञ्च।''** गमनागमनविहाररूपक्रियया संगीतमाध्यमेन शुद्धवातावरणे भ्रमणेन सर्व-आकाशादिसंयोगेभ्यः उत्तममारोग्यं प्राप्नुवन्ति। प्रार्थनया आध्यात्मिकं बलमपि प्राप्यते। वास्तुशास्त्रानुसारेण गृहे पर्यावरणे च आकाशस्य (अवकाशस्य) माहात्म्यं अङ्गीकुर्वन्ताः तत्विषयकसंयोजनं रिक्तमुक्तस्थानं **विचिन्त्यते। तत्र गृहे निर्माणस्थले प्राणवायुवाकाशतेजसां संयोजनं प्राप्यते न वा इत्यपि विचार्यते।**

ज्योतिषशास्त्रे वास्तुशास्त्रे च कालतत्त्वमतीवमहत्त्वपूर्णं षष्ठं तत्त्वं वर्तते। वास्तुशास्त्रे कालः षष्ठं तत्त्वम्। कालगणनां विना लोके सर्वेषां स्थितिः **'अन्धवत्'।** अतः ज्योतिषशास्त्रं वेदाङ्गेषु नेत्ररूपेण स्वीक्रियते। **उक्तञ्च-** ***'ज्योतिषमयनं चक्षुः'।*** **भूतभविष्यादिव्यवहारस्यासाधारणं कारणं कालतत्त्वमिति।** तर्कसंग्रहे प्रतिपादितम् -**'कालोऽपि दिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेयः।** संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागवान्। एको नित्यो विभुश्च। कथमस्य दिग्विपरीत-परत्वापरतवानुमेयत्वम्। उच्यते-सन्निहिते वृद्धे सन्निधानादपरत्वार्हे तद्विपरीतं परत्वं प्रतीयते। व्यवहिते यूनि व्यवधानात् परत्वार्हे तद्विपरीतमपरत्वम्। तदिदं तत्ता द्विपरीतं परत्वमपरत्वञ्च कार्यं तत्कारणस्य दिगादेरसम्भवात् कालमेव कारणमनुमापयति। स चैकोऽपि वर्तमानातीतभविष्यत्क्रियोपाधिवशाद्

21. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोः गतिर्विच्छेदः प्राणायामः। योगसूत्रम् 1.2.49.।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वर्तमानादिव्यपदेशं लभते। पुरुष इव पच्यादिक्रियोपाधिवशात् पाचक-पाठकादिव्यपदेशम् । नित्यत्वविभत्वे चास्य पूर्ववत् । **वास्तुशास्त्रे कालगणनामधिकृत्य शुभमुहुर्तादिविचारः क्रियते। उक्तं च गृहारम्भकालस्य विषये -**

गुरुः शुक्रार्कचन्द्रेषु स्वोच्यादिबलशालिषु।
गुर्वकेन्दुबलं लब्ध्वा गृहारम्भ प्रशस्यते॥[22]

वास्तुशास्त्रे कालवत् दिगपि अतीवमहत्त्वपूर्ण सप्तमं तत्त्वं वर्तते। यतो हि गृहे पञ्चमहाभूतानां संयोजने दिक् एव केन्द्रीयतत्त्वमस्ति। दिगधिकृत्य भूमि-जल-वायु-अग्निनां संयोजनं विधीयते। सा दिक् प्राच्यादिव्यवहारस्य असाधारणकारणत्वेन व्यपदिश्यते। तर्कसंग्रहे प्रतिपादितम्- "**कालविपरीतपरत्वापरत्वानुमेया दिक्**। एका नित्या विभ्वी च संख्या-परिमाणपृथक्त्व- संयोग-विभागवती। पूर्वादिप्रत्ययैरनुमेया । तेषामन्यनिमित्तासम्भवात्। पूर्वस्मिन् पश्चिमे वा देशे स्थितस्य वस्तुनस्तावदवस्थ्यात्। सा चैकापि सवितुस्तत्तद्देशसंयोगोपधिवशात् प्राच्यादिसंज्ञां लभते। वास्तुशास्त्रे षोडश दिक्गणनामधिकृत्य शुभमुहूर्त्तादिविचारः वास्तुदोषोपशमनं च क्रियते। षोडशदिक् नामानि सन्ति-

1. प्राचीकोणम्, 2. कुंडदक्षांसकोणम्, 3. आग्नेयकोणम्, 4. दक्षपार्श्वकोणम्, 5. दक्षिणकोणम्, 6. दक्षश्रेणिकोणम्, 7. नैर्ऋत्यकोगम्, 8. पुच्छकोणम्, 9. प्रतीचिकोणम्, 10. वामश्रेणीकोणम्, 11. वायव्यकोणम्, 12. वामाश्वकोणर्म्, 13. दीचिकोणम्, 14. वामांसकोणम्, 15. ईशान्यकोणम्, 16. पद्ममुखकोणम्।

वास्तुशास्त्रस्य ज्ञानमीमांसायां वास्तुशास्त्रस्य सम्यक्ज्ञानाय 1.आत्मा 2.अन्तःकरणं (मनबुद्धिश्च) चेति तत्त्वद्वयमनिवार्यम्। तद्यथा- ननु वास्तुशास्त्रस्य ज्ञाने किं प्रमाणम्? वास्तुशास्त्रस्य प्रामाण्यं तु श्रुतिमूलकत्वात् आप्तोपदेशत्वाच्च। श्रुतेः प्रामाण्यमपौरुषेयत्वात्। पांचभौतिकवस्तुषु चतुर्णा (पृथिवी-जल-तेज-वायुणां) प्रामाण्यं तु प्रत्यक्षत्वात्। आकाशादीनामनुमानसामर्थ्यात् शब्दप्रमाणत्वाच्च। वास्तुशास्त्रस्य ज्ञानमीमांसायां आत्मनः स्वरूपं स्वीक्रियते। वास्तुशास्त्रस्य सम्यक्ज्ञानं कथं भवेत्? उच्यते- वास्तुशास्त्रस्य तत्त्वज्ञानं तु शास्त्रानुकूलरीत्या अध्ययनाध्यापनपुरस्सरं भवेत्। यथोक्तं दर्शनेषु-

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः मन्तव्यश्चोपपतिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयं, एते दर्शनहेतवः॥[23]

वास्तुशास्त्रे गृहपुरुषस्य परिकल्पनात्मकस्वरूपेनैतत् उद्घाटितं भवति यत् 'आत्मा' अपि अष्टमं तत्त्वं स्वीक्रियते। आत्मनः सत्ता तु स्वानुभूतिमूलकत्वात् शब्दप्रमाण्यात् सिद्धमेव। न्यायादिदर्शनेषु

22. ज्योतिष तत्व प्रकाश/श्लोक61/पृष्ठ421
23. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, उपोद्घात पृष्ठ 14

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अनुमानप्रमाणेनापि सिद्धम्। यतो हि ज्ञानप्रक्रियायां 'आत्मा' मनसा संयुज्यते। मनः इन्द्रियेण सह, इन्द्रियमर्थेन सह। **आत्मत्वाभिसम्बन्धवानात्मा।** सुखदुःखादिवैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः। तस्य सामान्यगुणाः संख्यादयः पञ्च, बुद्ध्यादयो नव विशेषगुणाः । नित्यत्व-विभुत्वे पूर्ववत्। अन्यत् सर्वं न्यायशास्त्रादिवत्।

वास्तुशास्त्रे गृहपुरुषस्य परिकल्पनात्मकस्वरूपेनैतत् उद्घाटितं भवति यत् 'मन' अपि नवं तत्त्वं स्वीक्रियते। न्यायशास्त्रे उक्तं-**'युगपत्ज्ञानानुत्पतिर्मनसो लिङ्गम्'**[24]। ज्ञानप्रक्रियायां युगपत् ज्ञानानुत्पति निराकरणाय मनसः सत्ता स्वीक्रियते। तर्कसङ्ग्रहे तु -***'सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः।'*** उभयेन्द्रियं (ज्ञानेन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च) मनः। मनसः कार्यमिच्छोत्पत्तिः (संकल्पविकल्पोत्पत्तिः) वर्तते। तर्कसङ्ग्रहे उक्तम्- **'मनस्त्वाभिसम्बन्धवान्मनः'**। तस्य स्वरूपं- तच्चाणुपरिमाणम्, आत्मसंयोगि, अन्तरिन्द्रियं सुखाद्युपलब्धिकारणं नित्यञ्च। संख्याद्यष्टगुणवत्। तत्संयोगेन बाह्येन्द्रियमर्थग्राहकम्। अतएव सर्वोपलब्धिसाधनम् । **तच्च न प्रत्यक्षम्, अपि त्वनुमानागम्यम्।**

वास्तुशास्त्रस्य नीतिमीमांसायां वैदिकधर्मस्य सद्गुणानां च परिपालनमनिवार्यमस्ति। यतो हि कृतकर्मफलमवश्यमेव भुङ्क्ते- **'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतकर्मफलशुभाऽशुभम्'**। अतः वास्तुशास्त्रे भारतीयदर्शनस्य प्रारब्ध-संचित- क्रियमाणकर्माणां सिद्धान्तमपि स्वीक्रियते। तद्यथा- वास्तुशास्त्रसमन्विते गृहे निवसन् अपि कश्चिद् गृहस्य कर्ता यदि अनैतिकं कर्म करोति (अधर्ममाचरति) चेत् तस्य दण्डात्मकं फलं तु अवश्यमेव भोक्तव्यम्। यदि कश्चित् कारागृहस्य निर्माणं वास्तुशास्त्रानुकूलरीत्या सर्वे जनाः सुखिनः भवन्ति? वस्तुतः न। तत्र बन्धकः (कैदी) दण्डं (दुःखं पीडां) भुङ्क्ते । तथा च तत्रैव अन्तेः निवसन्ताः आरक्षकाः सुखेन वसन्ति । अतः वास्तुशास्त्रस्य नीतिमीमांसायां **धर्माचरणं** प्राधान्येन व्यपदिश्यते।

निष्कर्षतः वयं वक्तुं शक्नुमः यत् वास्तुशास्त्रेण नानाविधोपचारेभ्यः असामान्यसमस्यानां सरलरीत्या अल्पव्ययेन प्राकृतिक-पदार्थानामुपयोगेभ्यः च उपचारं विधीयन्ते। वास्तुशास्त्रस्य तत्त्वमीमांसात्मकं, ज्ञानमीमांसात्मकं, नीतिमीमांसात्मकं दर्शनं च लोके सर्वत्र व्याप्तमस्ति यतोहि दृश्यमानं जगदिदं वास्तुशास्त्रस्य वैदिकदर्शनस्य च समन्वितं नवद्रव्यस्वरूपमेव वर्तते। यथोक्तं सर्वेषां कल्याणाय अस्माकं शास्त्रेषु-

ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारिः, भानुः शशिः भूमिसुतो बुधश्च।
गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः, कुर्वन्तु सर्वे मम सुभप्रभातम्॥
सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥[24]

---

24. न्यायसूत्रम् 1.1.16

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भूखण्डीकरणविधिः

डॉ. मुरलीकृष्ण टि

गृहनिर्माणार्थं बृहत्क्षेत्रमस्ति इति चिन्तयन्तु। तदा कस्मिन् स्थाने गृहं निर्मातव्यमिति जिज्ञासा समुदेति। तदर्थं कश्चन उपाय एवास्ति खण्डीकरणविधिः। प्रायः वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु खण्डीकरणविधिरिति नामाङ्कनं न दृश्यते किन्तु केरलेषु स्थापतय अमुं विधिं तन्नाम्ना शब्दापयन्ति। मनुष्यालयचन्द्रिकायां वास्तुविद्यायाञ्च खण्डीकरणे चतुःखण्डः षोडशखण्डश्चेति द्विधा क्रमः प्रस्तुतः। स एव विचारोऽत्र विस्तरेण निरूप्यते।

1. चतुः खण्डः— गृहनिर्माणक्रमे आदौ वास्तुशास्त्रोक्तविधिना भुवः परीक्षां विधाय तत्परिग्रहः कर्तव्यः। ततः परं शङ्कुस्थापनेन पूर्वापरदिशः ज्ञानं कर्तव्यम्। शङ्कुस्थापनया प्राप्तां पूर्वापरदिग्रेखां ब्रह्मसूत्रमिति तथा दक्षिणोत्तरदिग्रेखां यमसूत्रमिति च कथयन्ति वास्तुशास्त्रज्ञाः। तदुक्तं मनुष्यालय-चन्द्रिकायाम्—

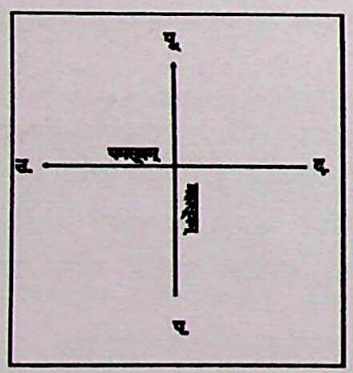

चित्रम्-१

गृहनिर्माणक्षेत्रे शङ्कुस्थापनेन पूर्वापरदिशौ दक्षिणोत्तरदिशौ च क्रमशः प्राप्येते। तयोः स्पष्टावगमाय स्थपतिः सूत्रं प्रसारयति। अतः पूर्वापरयोः प्रसारितं सूत्रं ब्रह्मसूत्रमिति दक्षिणोत्तरयोः प्रसारितं सूत्रं यमसूत्रमिति च उच्यते।

एवं क्षेत्रस्य मध्ये सुविहितमिह यत् ब्रह्मसूत्रं तदाहु-
स्तन्मध्येऽन्योन्यमर्न्ततमपि रचयेत् वृत्तयुग्मं च धीमान्।
तद्योगात् तिर्यगुद्यज्झषजठरसुषुम्नाध्वना सूत्रमेकं
याम्योदग्गामि सूक्ष्मं रचयतु यमसूत्रं तदित्यामनन्ति॥[1] इति।

1. मनुष्यालयचन्द्रिका - 2अ. 5श्लो. - द्रष्टव्यं चित्रम् - 1

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

एते ब्रह्मयमसूत्रे चतुरश्रक्षेत्रं चतुर्धा समानाकारेण विभाजयतः। एवं सम्प्राप्ते चतुःखण्डे ईशान्यदिशि विद्यमानः खण्डः मानुषसंज्ञकः। नैऋत्यां दिशि विद्यमानः खण्डः देवसंज्ञकः। आग्नेयदिग्गतः खण्डः अग्निसंज्ञकः अथवा यमसंज्ञकः इति। वायव्यां विद्यमानः खण्डः वायुसंज्ञकः अथवा असुरसंज्ञकः।

इह प्राप्तेषु चतुःखण्डेषु देवमानुषखण्डौ अर्थादीशान्यनैर्ऋत्यखण्डौ शुभौ। तयोः स्थानयोः गृहनिर्माणाद् यथाक्रमं अभिवृद्धिः, इष्टप्राप्तिरिति फले भवतः। अतः तौ द्वौ खण्डौ ग्राह्यौ। तदुक्तं मनुष्यालयचन्द्रिकायां यथा–

धात्रीतलेऽब्ध्यंशिनि मानुषाख्यं गृहाभिवृद्धिप्रदमैशखण्डम्।
देवाह्वयं नैर्ऋतमिष्टदं स्यादुभे शुभे गेहविधौ नराणाम्।[2] इति।

यमखण्डे गृहनिर्माणेन मृत्युः जायते इति फलमुक्तम्। अतः तत्सर्वैर्वर्ज्यम्। असुरखण्डोऽपि दूषितत्वात् तत्त्याज्यम्। इदं स्थानं (असुरखण्डः) क्वचिद् वैश्यानां गृहनिर्माणाय युज्यते इति मनुष्यालयचन्द्रिकायाः उक्तिः। सामान्यतः एतदुभयं गृहनिर्माणार्थं निन्द्यमेव। अत्र मनुष्यालयचन्द्रिकाकारो यथाह–

आग्नेयखण्डं यमसंज्ञितं स्यान्मृतिप्रदं चाखिलवर्ज्यमेतत्।
वायव्यमप्यासुरसंज्ञितत्वान्निद्यं विशां क्वापि च गृह्यते तत्।[3] इति।

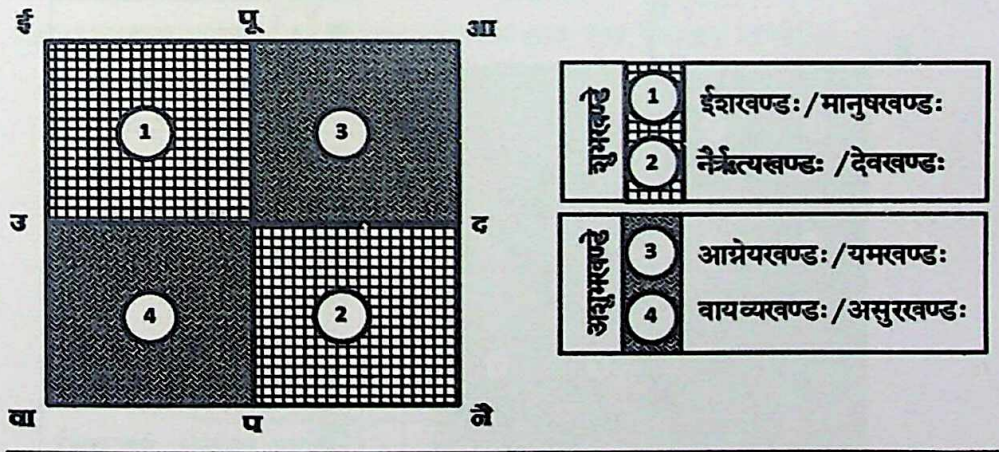

चित्रम्-२: चतुःखण्डः - गृहनिर्माणक्षेत्रस्याल्पत्वे चतुःखण्डविधिः आश्रियते। एतेषु चतुर्षु खण्डेषु मानुषदेवखण्डौ गृहनिर्माणाय योग्यौ।

2. मनुष्यालयचन्द्रिका – 2अ. 8श्लो. – द्रष्टव्यं चित्रम् – 2
3. मनुष्यालयचन्द्रिका – 2अ. 9श्लो. – द्रष्टव्यं चित्रम् – 2

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

2. षोडशखण्डः– पूर्वं चतुः खण्डः विहितः। तत्फलञ्च निरूपितम्। किन्तु चतुर्धा विभक्ते खण्डे ग्राह्यखण्डस्य विस्तृत्याधिक्ये सति अयं क्रमः समुचितः। प्रत्येकस्मिन् खण्डे समानाकारेण चत्वारः खण्डाश्चिन्त्यन्ते तर्हि एकस्मिन् चतुःखण्डे चत्वारः उपखण्डाः स्युः। तथा चतुःखण्डिते क्षेत्रे एकैकस्मिन् क्रमशः चत्वारस्तर्हि मिलित्वा षोडशोपखण्डाः उपलभ्यन्ते। आग्नेय्यां वायव्याञ्च विद्यमानौ यमासुरखण्डौ त्याज्यौ। अतः गृहनिर्माणार्थं षोडशखण्डेषु अष्टौ खण्डाः कथञ्चित्त्याज्यमेव। अवशिष्टे देवमानुषाख्ये खण्डद्वये अष्टौ उपखण्डास्सन्ति। उभयत्रापि ईशान्यनैरृत्यदिग्गतौ खण्डौ प्रशस्तौ। तन्नाम ईशान्यखण्डे ईशान्यनैर्ऋत्योखण्डौ, निर्ऋतिखण्डे निर्ऋतीशानोपखण्डौ शुभप्रदौ भवतः। तदुक्तं अज्ञातकर्तृकायां वास्तुविद्यायाम्–

अथवा समचतुरश्रं षोडशपदमेव कल्पयेत्क्षेत्रम्।
तत्र च नैरृतनिरृतौ मन्दिरमुदितञ्च दैविके खण्डे॥
निरृतावैशे कुर्यादीशेशानं तदुत्तमं स्थानम्।
मानुष्येऽपि च खण्डे निरृतिपदं वेश्मयोग्यमेव भवेत्॥[4] इति।?

विषयेऽस्मिन् मनुष्यालयकारोऽपि अमुमेवाभिमतं प्रास्तौत् यथा–

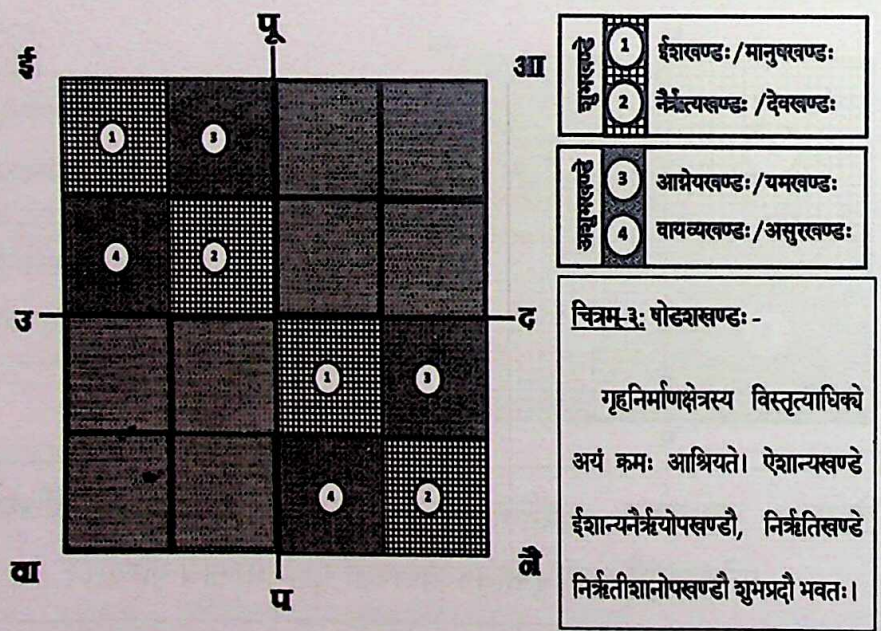

चित्रम्-३: षोडशखण्डः -

गृहनिर्माणक्षेत्रस्य विस्तृत्याधिक्ये अयं क्रमः आश्रियते। ऐशान्यखण्डे ईशान्यनैर्ऋयोपखण्डौ, निर्ऋतिखण्डे निर्ऋतीशानोपखण्डौ शुभप्रदौ भवतः।

4. मनुष्यालयचन्द्रिका – 5अ. 7श्लो. – द्रष्टव्यं चित्रम् – 3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सूत्रे प्रागुदगग्रके क्षितितले कृत्वा चतुःखण्डिते
खण्डे कल्पयतु द्विजादिवसति शार्वेऽथवा नैरृते।
क्षेत्रे विस्तृतिरस्ति चेत्पुनरपि श्रुत्यंशते गृह्यते
शैवे नैरृतखण्डमेव निरृतौ शैवं शुभं चोभयोः।।[5] इति।

उपसंहारः—चतुःखण्डे षोडशखण्डे वा खण्डीकरणेन प्राप्तेषु शुभखण्डेषु गृहनिर्माणं शुभाय कल्पते। अशुभखण्डेषु वासगृहस्यैव त्याज्यत्वात् वासगृहान्तराणि वाणिज्योपकारकाणि भवनानि निर्मातुं शक्यन्ते।

साम्प्रतिककाले अल्पक्षेत्रेष्वेव गृहनिर्माणं प्रचलति। एवञ्चेत् वास्तुशास्त्रे एतस्य लाभः कः? इति प्रश्नः समुदेति। राजवीथीनां (Streets) पार्श्वे यदि गृहनिर्माणं कर्तुमिष्यते तदा अनेन विधिना वयं बहूपकृताः भवामः। यदि उत्तरदक्षिणगतो पूर्वपश्चिमगतो वा राजमार्गः तदा तत्र गृहनिर्माणं कर्तव्ये सति ईशाननिर्ऋतिखण्डयोरन्यतरे स्थाने गृहनिर्माणं क्रियते तर्हि शुभाय कल्पते। चित्रे यथा—

अन्येषु खण्डेषु गृहनिर्माणं क्रियते तर्हि तत्र मालिन्याधिक्यम्, जनसम्मर्देन मानसिकी अशान्तिः, एकान्तताया: भङ्गः, अशुद्धवायुसञ्चारश्चेति बहव्यः समस्याः सहजतया भवितुमर्हन्ति। एतादृशसमस्यानां दूरीकरणाय अयमेकः उत्तमः उपायः। वास्तुशास्त्रे एतादृशाः बहवो विचाराः स्युः। किञ्च साम्प्रतिककाले तेषां विचाराणां समन्वये शास्त्रज्ञेन विविधाः युक्तयः अन्वेषणीयाः। अतस्तेन न केवलं वास्तुशास्त्रज्ञः अपि तु समस्तलोकः शास्त्रस्यास्य पूर्णं प्रयोजनं प्राप्नोति।

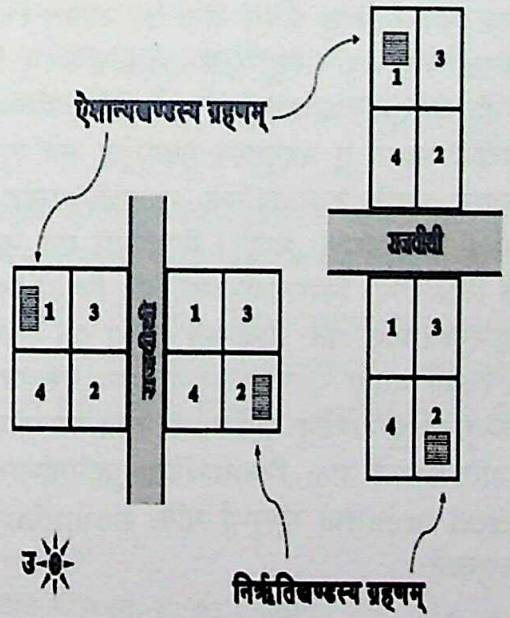

5. मनुष्यालयचन्द्रिका – 2अ. 7श्ला

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पिण्डसाधनविमर्शः

डॉ.गणेशत्रिपाठी

अनेकभेदविषययुतं ज्योतिषशास्त्रं हि सर्वशास्त्रोपकारकमिति लोककथा श्रूयते। वेदाङ्गरूपं हि ज्योतिषशास्त्रं सर्वशास्त्रेषु प्राधान्यतममिति सर्वे विपश्चिता एकमनाः स्वीकुर्वन्ति तत्र च ज्योतिषशास्त्रमनेकभेदविषययुतमिति प्रतिपादयन् संहिताहोरासिद्धान्तरूपे स्कन्धत्रयात्मके च वराहः ब्रवीति। अन्य आचार्यः नारदोऽपि ज्योतिषस्य अनेके भेदाः स्वीकृतवान्। तत्र हि नैकानि तथ्यानि निगूढरूपाणि लोकोपकारिणी सन्ति येषां सम्यगध्ययनेन जनानां महदुपकारो भवेदिति तेष्वेव विषयेषु संहिताविज्ञानमपि अतीव प्रधानतमं वरीवर्ति विज्ञानजन्यं संहितोक्तं सर्वे विषयाः स्वतन्त्रविज्ञानानि सन्ति परं तावदस्य यथार्थनिरूपणं न कर्तुं शक्यते यावत् विविधप्रभावाणां विशिष्टतया ज्ञानं न प्राप्यते। संहिताशास्त्रस्य विविधाः प्रभावाः भूर्भुवस्वर्लोकादिषु प्रतिक्षणमेवजायन्ते। तेषु लोकेषु भौगोलिको प्रभावः तु जनानामुपरि नित्यं प्रभवत्येव। लौकिकप्रभावविषयेषु वास्तुजन्यप्रभावानुगुण्यं तु तदपि श्रेयस्करं भवति यतो हि वास्तुनो एव जनाः नित्यं प्रभाविताः भवन्ति न तु केवलं जना एव अपितु स्थलचरजलचरनभचरादयः प्राणिनः अपि वास्तुन प्रभाविताः भवन्ति। वास्तुनि समागतविविधेषु विषयेषु मुख्यं भवति गणितागतप्रकारनिरूपकं गणितं हि वास्तुनः आधारमूर्तिः यतो हि शुभभूम्यादिचयनानन्तरं पिण्ड-आय-नक्षर-वार-अंश-ऋण-द्रव्यादीनां साधनं तु तद्गृहस्य गृहकर्तुश्च कृते शुभाशुभनिदर्शकं भवति। यदा निवासयोग्यं भूखण्डस्य चयनं भवति तदा तस्मिन् भूखण्डे वासाय सर्वादौ पिण्डानयनस्य विचारः साध्यते। पिण्डो हि गृहस्य आदिसाधकः भवति। पिण्डोपरि एव गृहस्य आयादीनां साधनं क्रियते। तत्र पिण्डो नाम किमिति जिज्ञासायाः निरसनार्थमुच्यते यत् पिण्डो हि चयनितस्य भूखण्डस्य वासार्थं गृहनिर्माणार्थं च क्षेत्रफलज्ञानपरकमिति अतः निवासार्थं गृहस्य यत् क्षेत्रफलं भवति तदेव पिण्ड इति कथ्यते। अत्र पिण्डो कश्चन भिन्नो भवति यतो हि गृहार्थं यस्य भूखण्डस्य चयनं क्रियते तत्तु सम्पूर्णमेव गृहक्षेत्रफलं भवति किन्तु सर्वेषु खण्डेषु गृहनिर्माणं न क्रियते यावति भूखण्डे गृहनिर्माणं क्रियते तावदेव क्षेत्रफलं पिण्ड इति कथ्यते अतः निवासार्थमेव गृहनिर्माणार्थं चयनिता भूरेव पिण्ड इत्युच्यते वासयोग्यभूमिः covered areaतथा सम्पूर्णा भूमिः boundary area द्विधा भवति। अतः वासयोग्या भूमिः पिण्ड इत्युच्यते।

वास्तुनि मुख्यतः आकाररूपेण १८ गृहाणि भवन्ति तेषु वर्ग-आयत-वृत्त-मूसल-शकट-सूप- मृदङ्ग-अर्धवृत्त-नतोन्नत-परशु-त्रिकोण-चक्र-धनुष-सन्दंशिका-दण्ड-हस्तव्यजन-गदा-विषमाकृति-

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

रूपाणि अष्टादशगृहाणि आकृतिरूपाणि भवन्ति फलसहितं तदुक्तं पद्यमस्ति -

आयते सर्वसिद्धिः स्यात् चतुरस्रे धनागमः
वृत्ते तु बुद्धिवृद्धिः स्यात् भद्रं भद्रासने भवेत्।

चक्रे दारिद्र्यमित्याहुर्विषमे शोकलक्षणम्

राजभीतिस्त्रिकोणे स्याच्छकटे तु धनक्षयः।

दण्डे पशुक्षयं प्राहुः शूर्पे वासे गवां क्षयः
गोव्याघ्रबन्धने पीडा धनुः क्षेत्रे भयं महत्।[1]

भूखण्डचयनानन्तरं कीदृशं गृहस्वरूपं स्यादिति पूर्वमेव विचारयन् ततः तदनुरूपमेव पिण्डानयनं विधातव्यमिति। प्रायः गृहनिर्माणार्थम् आयत-वर्ग-आकृती श्रेष्ठे भवतः यतो हि एतदाभ्यन्तरे शालाकक्षनिमार्णार्थं चतुर्दिशः समभूरेव प्राप्नोति। अतः पिण्डानयनमपि आयत-वर्ग-आकृतिरूपगृहाय श्रेष्ठं जायते। चयनितस्य भूखण्डानुरूपमेव पिण्डसाधनं क्रियते। यत् पिण्डफलमायाति तस्मिन् एव गृहनिर्माणं कर्त्तव्यमिति पिण्डसाधनार्थं मुख्यत्वेन इष्टायनक्षत्रयोः साधनं चयनं वा पूर्वत एव करणीयं भवति यथा विवाहादौ कूटादिकं चिन्त्यं भवति तथैव गृहकर्तुः येन नक्षत्रेण सह उचितं गुणसाम्यं भजते तेनैव नक्षत्रेण सह मेलकं कुर्यात् यथा नृणां जन्मपत्रनिर्माणं क्रियते तथैव पिण्डोपरि गृहाणां जन्मपत्रनिर्माणं तस्य शुभाशुभत्वं च निर्धारणं क्रियते। यन्नक्षत्रं सर्वाधिकं शुभगुणयुतं प्रदिशेत् तदेव इष्टनक्षत्रं कल्पयित्वा अथवा नवषु निर्दिष्टेषु उत्तमं नक्षत्रं चित्वा पिण्डानयनं कार्यम्। एवमेव ध्वजादिषु आयेषु एकं विषमायं चित्वा तस्मादपि सूत्रानुसारं पिण्डानयनं विधातव्यमिति अतः अयं पिण्डः इष्टायनक्षत्रभवो भवति। अत्र वास्तुनिगृहकर्तुः नामराशेः नामनक्षत्रस्य च प्राधान्यं भवति। गृहकर्तुः नामनक्षत्रमपि इष्टनक्षत्रेण सह मेलकाय भवति अन्यत्र पिण्डसाधने तस्य नौचित्यम् आदौ इष्टनक्षत्रनामानि –

त्रिभित्रिभिर्वास्तुनि कृत्तिकात उद्वेगपुत्राप्तिधनाप्तिशोकः
शत्रोर्भयं राजभयं विनाशः सुखं प्रवासश्च नव प्रभेदाः।[2]

आर्द्रा, पुनर्वसुः, पुष्यः, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी शतभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा च एतानि नव नक्षत्राणि प्रशस्तानि भवन्ति गृहपिण्डानयने एतेषु एव एकं चित्वा पिण्डसाधनं विधेयं पुनः अष्टौ आयाः भवन्ति एतेषु अपि विषमसंख्यकमायं चित्वा पिण्डसाधनं विधेयं तत्र अष्टानां आयानां नामानि –

---

1. बृहद्वास्तुमाला, भूमेर्जीवितादिज्ञानम्, 90–92 श्लोकाः।
2. बृहद्वास्तुमाला, ग्रहमैत्रीविचारः, 3 श्लोक।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ध्वजो धूमः हरिः श्वागौः खरेभौ वायसोष्टमः

पूर्वादिदिक्षु चाष्टानां ध्वजादीनामवस्थितिः।[३]

एतद्वयसाधनात्परमेव पिण्डानयनं कर्तव्यमिति पिण्डानयनाय विविधानामाचार्याणां पृथक् पृथक् मतानि सन्ति। तत्र पिण्डानयनार्थं रामदैवज्ञद्वारा प्रदत्तं सूत्रं वर्तते यत् स्वेच्छया कल्पितस्य इष्टनक्षत्रस्य संख्यायामेकः शोधनीयः ततश्च एकन्यूनेन इष्टनक्षत्रेण सह द्विपंचाशदधिकैकशतसंख्यया १५२ गुणनं कार्यं एतद् हि इष्टनक्षत्रजन्यं गुणनफलं भवति पुनश्च अन्यत्र स्वकल्पितस्य इष्टस्य आयस्य संख्यायामेकः अपि शोधनीयः ततश्च एकन्यूनेन इष्टायेन एकाशीति ८१ संख्यया गुणनं करणीयम् एतद् हि इष्टायजन्यं गुणनफलं भवति। तदनन्तरम् इष्टनक्षत्रजन्यं गुणनफलं, इष्टायजन्यं गुणनफलं च एकत्र योजनीयम्। पुनः तस्मिन् योगफले सप्तदश १७ संख्यया अपि योजनीया। पुनश्च तद्योगे षोडशाधिकद्विशतेन २१६संख्यया भागहारं कुर्यात्। भागहारे कृते सति यच्छषफलम् अवशिष्टं भवति तदेव तस्य गृहस्य पिण्डमानं क्षेत्रफलमानं वा भवति अत्र लब्धिः तु त्याज्य एव भवति यथोक्तम्–

एकोनिष्टर्क्षहता द्वितिथ्यो रुपोनितेष्टायहतेन्दुनागैः

युक्ता घनैश्चापि युता विभक्ता भूपाश्विभिः शेषमितो हि पिण्डः।[४]

एतस्य च स्वरुपमेवमेव कल्पते –

कल्पिता इष्टनक्षत्रसंख्या – 1 = एकोनिता इष्टनक्षत्रसंख्या।
एकोनिता इष्टनक्षत्रसंख्या x 152 = प्रथमं गुणनफलम्।
कल्पिता इष्टा आयसंख्या – 1 = एकोनिता इष्टायसंख्या।
एकोनिता इष्टासंख्या x 81 = द्वितीयं गुणनफलम्।
प्रथमं गुणनफलम् + द्वितीयं गुणनफलम् = योगफलम्।
योगफलं + 17 = सम्पूर्णं योगफलम्।
सम्पूर्णं योगफलम् ÷ 216 भागफलम्, अवशिष्टं शेषफलम् च।
अत्र आगतं भागफलं तु त्याज्यमेव अस्ति।
प्राप्तं शेषफलम् एव गृहस्य पिण्डमानं क्षेत्रफलं वा भवति।

एतस्य च साधनक्रमः उदाहरणरुपेण प्रस्तूयते अत्र–

निवासकर्तुः नाम = परमेश्वरदयालः
कल्पितम् इष्टनक्षत्रम् = आर्द्रा (षष्ठसंख्याकम्)
कल्पनया इष्टायः = ध्वजः (प्रथमः आयः)।

---

3. मुहूर्तचिन्तामणिः, पीयूषधारा, वास्तुप्रकणम्, 5 श्लोकः।
4. मुहूर्तचिन्तामणिः, वास्तुप्रकरणम्, 3 श्लोकः।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अतः सूत्रानुसारेण गणितकरणेन गृहपिण्डानयनम्-
कल्पिता इष्टनक्षत्रसंख्या 6-1=5 = एकोनिता इष्टनक्षत्रसंख्या।
एकोनिता इष्टनक्षत्रसंख्या 5x152=760 = प्रथमं गुणनफलम्।
कल्पिता इष्टायसंख्या 1-1=0 = एकोनिता इष्टायसंख्या।
एकोनिता इष्टायसंख्या 0x 81=0 = द्वितीयं गुणनफलम्।
प्रथमं गुणनफलं 760 + द्वितीयं गुणनफलं 0 = 760 = योगफलम्।
योगफलम् 760 + 17 = 777 = सम्पूर्णं योगफलम्।
सम्पूर्णं योगफलम् 777 ÷ 216 =

अत्र भागफलं 3 इति तु प्रयोगाभावात् त्याज्यम् अस्ति।
तथा च शेषफलम् = 129 इति गृहस्य पिण्डमानम् अस्ति।
अतोऽत्र परमेश्वरदयालस्य गृहस्य पिण्डमानं (क्षेत्रफलमानं वा) = 129 इति सिद्धं भवति।

जनाः स्वप्रकृत्याधारेण, स्वस्तरानुसारेण, स्ववर्गाधारेण वा निवासाय गृहाणां निर्माणं कारयन्ति। कदाचित् लघुगृहमेव पर्याप्तं भवति, कदाचित्तु ते महदाकारकं प्रासादं वा निर्मातुमिच्छन्ति। कदाचित् आगतपिण्डमानात् अपि बहुगुणितक्षेत्रफलस्य गृहस्य निर्माणं कोटिपतिभिः धनिकैः अत्युच्चवर्गीयजनैश्च कार्यते हि। तदानीम् अस्माभिः साधितं पिण्डमानं तु अत्यल्पमेव भवति प्रायः। अतः तस्मिन् समये तस्य अत्यल्पपरिमाणकस्य पिण्डमानस्य इच्छानुगुणं कर्तुम् अन्यविधिं वदन्ति। तत्र यदि पिण्डमानं भूखण्डमानादल्पं भवति तथा शेषपिण्डमाने 216 इति संख्यायोजनेन पिण्डप्रमाणमधिकं जायते। यदि एतदति पूर्वसाधितं 129 अस्ति। एतत् मानं चयनितभूखण्डादल्पमस्ति। अतः अस्मिन् २१६ संयोजनेन ३४५ इति क्षेत्रफलमायाति एतदपि चयनितभूखण्डादल्पमस्ति अतः पुनः अस्मिन् २१६ योजयित्वा ५६१ इति मानं प्राप्तमस्ति एतत् मानं भूखण्डासन्नमस्ति अतः एतदेव पिण्डमानं क्षेत्रफलं वेति भवति बृहद्वास्तुमालादिषु ग्रन्थेषु अनेकर्षीणां पिण्डसाधनोपयोगीनि सूत्राणि प्रतिपादितानि सन्ति। तदनुरूपमेव पिण्डसाधनं समानमेव आयाति। एवमेव यद् पिण्डमानमागतं भवति तदेवाधिकृत्य गृहाकारानुरुपमेव गृहनिर्माणं कुर्यात्। यदि वृत्ताकारं गृहं स्यात् तदा समागतपिण्डस्य मानं व्यास परिधिसम्बन्धद्वारा तदनुगुणं वृत्ताकारं कुर्यात् एवमेव प्रकारेण गणितीयविधिना त्रिकाणोर्धवृत्तवृत्तादीनां गृहाकारानुरूपं पिण्डसाधनं विधाय वास्तुशास्त्रोक्तेन नियमेन यथादिक् स्नानादिकक्षनिर्माणं कृत्वा सुखेन जीवनं यापयेदिति शम्।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ध्वजो धूमः हरिः श्वागौः खरेभौ वायसोष्टमः

पूर्वादिदिक्षु चाष्टानां ध्वजादीनामवस्थितिः।[3]

एतद्वयसाधनात्परमेव पिण्डानयनं कर्तव्यमिति पिण्डानयनाय विविधानामाचार्याणां पृथक् पृथक् मतानि सन्ति। तत्र पिण्डानयनार्थं रामदैवज्ञद्वारा प्रदत्तं सूत्रं वर्तते यत् स्वेच्छया कल्पितस्य इष्टनक्षत्रस्य संख्यायामेकः शोधनीयः ततश्च एकन्यूनेन इष्टनक्षत्रेण सह द्विपंचाशदधिकैकशतसंख्यया १५२ गुणनं कार्यं एतद् हि इष्टनक्षत्रजन्यं गुणनफलं भवति पुनश्च अन्यत्र स्वकल्पितस्य इष्टस्य आयस्य संख्यायामेकः अपि शोधनीयः ततश्च एकन्यूनेन इष्टायेन एकाशीति ८१ संख्यया गुणनं करणीयम् एतद् हि इष्टायजन्यं गुणनफलं भवति। तदनन्तरम् इष्टनक्षत्रजन्यं गुणनफलं, इष्टायजन्यं गुणनफलं च एकत्र योजनीयम्। पुनः तस्मिन् योगफले सप्तदश १७ संख्यया अपि योजनीया। पुनश्च तद्योगे षोडशाधिकद्विशतेन २१६संख्यया भागहारं कुर्यात्। भागहारे कृते सति यच्छषफलम् अवशिष्टं भवति तदेव तस्य गृहस्य पिण्डमानं क्षेत्रफलमानं वा भवति अत्र लब्धिः तु त्याज्य एव भवति यथोक्तम्–

एकोनिष्टर्क्षहता द्वितिथ्यो रुपोनितेष्टायहतेन्दुनागैः

युक्ता घनैश्चापि युता विभक्ता भूपाश्विभिः शेषमितो हि पिण्डः।[4]

एतस्य च स्वरुपमेवमेव कल्पते –

कल्पिता इष्टनक्षत्रसंख्या – 1 = एकोनिता इष्टनक्षत्रसंख्या।
एकोनिता इष्टनक्षत्रसंख्या x 152 = प्रथमं गुणनफलम्।
कल्पिता इष्टा आयसंख्या – 1 = एकोनिता इष्टायसंख्या।
एकोनिता इष्टासंख्या x 81 = द्वितीयं गुणनफलम्।
प्रथमं गुणनफलम् + द्वितीयं गुणनफलम् = योगफलम्।
योगफलं + 17 = सम्पूर्णं योगफलम्।
सम्पूर्णं योगफलम् ÷ 216 भागफलम्, अवशिष्टं शेषफलम् च।
अत्र आगतं भागफलं तु त्याज्यमेव अस्ति।
प्राप्तं शेषफलम् एव गृहस्य पिण्डमानं क्षेत्रफलं वा भवति।

एतस्य च साधनक्रमः उदाहरणरुपेण प्रस्तूयते अत्र–

निवासकर्तुः नाम = परमेश्वरदयालः
कल्पितम् इष्टनक्षत्रम् = आर्द्रा (षष्ठसंख्याकम्)
कल्पनया इष्टायः = ध्वजः (प्रथमः आयः)।

---

3. मुहूर्त्तचिन्तामणिः, पीयूषधारा, वास्तुप्रकणम्, 5 श्लोकः।
4. मुहूर्त्तचिन्तामणिः, वास्तुप्रकरणम्, 3 श्लोकः।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अतः सूत्रानुसारेण गणितकरणेन गृहपिण्डानयनम्-
कल्पिता इष्टनक्षत्रसंख्या 6-1=5 = एकोनिता इष्टनक्षत्रसंख्या।
एकोनिता इष्टनक्षत्रसंख्या 5x152=760 = प्रथमं गुणनफलम्।
कल्पिता इष्टायसंख्या 1-1=0 = एकोनिता इष्टायसंख्या।
एकोनिता इष्टायसंख्या 0x 81=0 = द्वितीयं गुणनफलम्।
प्रथमं गुणनफलं 760 + द्वितीयं गुणनफलं 0 = 760 = योगफलम्।
योगफलम् 760 + 17 = 777 = सम्पूर्णं योगफलम्।
सम्पूर्णं योगफलम् 777 ÷ 216 =

अत्र भागफलं 3 इति तु प्रयोगाभावात् त्याज्यम् अस्ति।
तथा च शेषफलम् = 129 इति गृहस्य पिण्डमानम् अस्ति।
अतोऽत्र परमेश्वरदयालस्य गृहस्य पिण्डमानं (क्षेत्रफलमानं वा) = 129 इति सिद्धं भवति।

जनाः स्वप्रकृत्याधारेण, स्वस्तरानुसारेण, स्ववर्गाधारेण वा निवासाय गृहाणां निर्माणं कारयन्ति। कदाचित् लघुगृहमेव पर्याप्तं भवति, कदाचित्तु ते महदाकारकं प्रासादं वा निर्मातुमिच्छन्ति। कदाचित् आगतपिण्डमानात् अपि बहुगुणितक्षेत्रफलस्य गृहस्य निर्माणं कोटिपतिभिः धनिकैः अत्युच्चवर्गीयजनैश्च कार्यते हि। तदानीम् अस्माभिः साधितं पिण्डमानं तु अत्यल्पमेव भवति प्रायः। अतः तस्मिन् समये तस्य अत्यल्पपरिमाणकस्य पिण्डमानस्य इच्छानुगुणं कर्तुम् अन्यविधिं वदन्ति। तत्र यदि पिण्डमानं भूखण्डमानादल्पं भवति तथा शेषपिण्डमाने 216 इति संख्यायोजनेन पिण्डप्रमाणमधिकं जायते। यदि एतदति पूर्वसाधितं 129 अस्ति। एतत् मानं चयनितभूखण्डादल्पमस्ति। अतः अस्मिन् २१६ संयोजनेन ३४५ इति क्षेत्रफलमायाति एतदपि चयनितभूखण्डादल्पमस्ति अतः पुनः अस्मिन् २१६ योजयित्वा ५६१ इति मानं प्राप्तमस्ति एतत् मानं भूखण्डासन्नमस्ति अतः एतदेव पिण्डमानं क्षेत्रफलं वेति भवति बृहद्वास्तुमालादिषु ग्रन्थेषु अनेकर्षीणां पिण्डसाधनोपयोगीनि सूत्राणि प्रतिपादितानि सन्ति। तदनुरूपमेव पिण्डसाधनं समानमेव आयाति। एवमेव यद् पिण्डमानमागतं भवति तदेवाधिकृत्य गृहाकारानुरुपमेव गृहनिर्माणं कुर्यात्। यदि वृत्ताकारं गृहं स्यात् तदा समागतपिण्डस्य मानं व्यास परिधिसम्बन्धद्वारा तदनुगुणं वृत्ताकारं कुर्यात् एवमेव प्रकारेण गणितीयविधिना त्रिकाणोर्धवृत्तवृत्तादीनां गृहाकारानुरूपं पिण्डसाधनं विधाय वास्तुशास्त्रोक्तेन नियमेन यथादिक् स्नानादिकक्षनिर्माणं कृत्वा सुखेन जीवनं यापयेदिति शम्।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वैदिकवाङ्मये वास्तुविद्यायाः दिग्दर्शनम्

श्रीशिवप्रसादरैना

वास्तुशब्दस्य तात्पर्यं निवासस्थानादस्ति। अस्य शब्दस्योत्पत्तिः 'वस्' धातोः अस्ति, यत्तु निवासार्थे प्रयुक्तो भवति। अनेन प्रकारेण वास्तोः तात्पर्यं भवननिर्माणयोग्यभूखण्डेनास्ति। भूखण्डस्य शुभाशुभपरीक्षणं भवननिर्माणविधेश्च ज्ञानं येन शास्त्रेण भवति तदेव वास्तुशास्त्रम्। प्राकृतिकतत्त्वानां पंचमहाभूतानां च सामंजस्येन उत्तमभवनस्य निर्माणयोजना अतिप्राचीनकालादेव वास्तुशास्त्रस्य उद्देश्यम् अस्ति। वास्तुशास्त्रं पंचमहाभूतैः निर्मिते प्राणिजीवने एतेषां महाभूतैः निर्मितवातावरणेन साकं तस्य सामंजस्यं स्थापयति। एतेषां महाभूतानां संतुलनेनैव प्राणी क्रियाशीलः स्वस्थं च भवति परन्त्वेतेषाम् असंतुलेनैव सः निष्क्रियः अस्वस्थं च भवितुं शक्यते। अतः मनुष्यस्य शारीरिक-मानसिकक्षमतासु अभिवृद्धिं कृत्वा तं स्वस्थं गतिशीलं च कर्त्तुं वास्तुशास्त्रस्य आचार्याः मानकनियमानां सिद्धान्तानां च प्रतिपादनं कृतवन्तः।

भारते पुराकालादेव वास्तुकलाया अद्भुतोदाहरणानि प्राप्यन्ते। भारतीयाः शास्त्रस्यास्य विकासः स्वजीवने एतेषामुपयोगितां समभिलक्ष्य कृतवन्तः। यस्य वर्णनं वेदेषु पुराणेषु प्राचीनसाहित्येषु वास्तुशास्त्रस्य मानकग्रन्थेषु च प्राप्यते। वैदिककालस्य यज्ञमण्डप-यज्ञशाला-पर्णकुटी-गोशाला- प्रासादप्रभृतिरचनाः रामायणकालस्य अयोध्यालंकाप्रभृतिनगराणां योजना, महाभारतकालस्य मयासुरनिर्मिताः इन्द्रप्रस्थनगर-सभाभवनादयः विश्वकर्मद्वारा द्वारकानगरस्य योजना, सिन्धुघाटीसभ्यतायाः नगरनिर्माणयोजना, मौर्यराजवंशकालिकभवनादयः सुदर्शनजलाशयश्च, प्राचीनहिन्दूशासकैः निर्मिताः राजप्रासाद-दुर्गादिसंरचनाः मध्यकालिकराजपूतशासकानां मुस्लिमशासकानां च दुर्ग-प्रासाद-चैत्यादिसंरचनाः वास्तुकलायां भारतीयां दक्षतां कलाप्रियतां च प्रदर्शयति।

वेदशब्दस्योत्पत्तिः 'विद्'धातुनास्ति, यः विभिन्नार्थकेऽस्ति यथा - ज्ञाने, सत्तायाम्, लाभे, विचारणे, चेतनाख्याननिवासेषु चेति।[1] पुरातनहिन्दुमतावलम्बिनां मतानुसारेण वेदाः ईश्वरीयज्ञानस्य प्रतिपादकाः सन्ति। वेदास्त्वपौरुषेयाः (ईश्वरीयरचना) तपोनिष्ठाः ऋषयः स्वयोगबलैः वेदस्य सर्वप्रथमं दर्शनं कृतवन्तः। महर्षिवेदव्यासेन सम्प्रत्युपलब्धव्यवस्थितरूपे वेदानां संग्रहः कृतः। वेदास्तु वास्तुशास्त्र-विषयकाः स्वतन्त्रग्रन्थाः न सन्त्यपितु तेषु तत्कालीनसामाजिक-राजनीतिक-धार्मिक-दार्शनिकादि-

---

1. ऋग्वेदभाष्यभूमिका स्वामिदयानन्द उद्धृत संस्कृत साहित्य का इतिहास - गैरोला पृ. 26

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

विषयाणामुपरि विवेचनसमये प्रसंगवशादेव ज्योतिषविषयेऽपि यत्किंचित् वर्णनमुपलभ्यते तेनैव वैदिककालिकवास्तुशास्त्रस्य समृद्धज्ञानस्य परिचयः प्राप्यते।

न केवलं भारतीयसाहित्ये अपितु विश्वसाहित्येऽपि ऋग्वेदः सर्वाधिकप्राचीनः। तस्मिन् स्थापत्यसम्बन्धिनः विविधोल्लेखाः प्राप्यन्ते। अनेन ज्ञायते यद् भारतवर्षे अत्यन्तप्राचीनकालादेव भवननिर्माणस्य सम्यक् ज्ञानमासीत्। ऋग्वेदातिरिच्य यजुर्वेदादिपरवर्तीवैदिकसाहित्येऽपि एतादृशाः समुल्लेखाः प्राप्यन्ते, यद्वास्तोः विविधांगानि व्यनक्ति। विशेषतः ऋग्वेदे अथर्ववेदे च भवनविन्यासस्य यद्रूपं समुपलभ्यते तस्य परम्परा भारतेऽनवरतरूपेण प्रचलिता अस्ति।

भारतदेशे आवैदिककालादेव वास्तुशास्त्रस्य ऐतिहासिकपरम्परा अस्ति। अतः स्थापत्यवेदरूपे अथर्ववेदस्योपवेदत्वेन शास्त्रमिदं प्रसिद्धमस्ति, अपि च तत्र विशदरूपेण वर्णितं दरीदृश्यते। वैदिकसंहितासु वास्तुशास्त्रस्य सामग्र्यः प्रचुरमात्रायां समुपलभ्यन्ते।[2] यथा धार्मिकवास्तुनः प्रयोगः यज्ञवेदिकारूपे दृश्यते। इष्टिकानामनेकनामानि तेषां प्रकारः प्रयोगः मापानि च। जनोपयोगिनः प्रासाद-राजप्रासाद-गृहादिवास्तुनः विस्तृतं वर्णनम्। पशुनामुपयोगार्थं शालानां सदनानां वा प्रयोगः। ऋग्वेदे वास्तुशब्दस्य अर्थः निवासः गृहं वास्ति[3] अथर्ववेदे सुन्दरगृहाय सुवास्तु तथा च गृहाभावाय अवास्तु शब्दः मिलति।[4]यजुर्वेदसंहितासु वास्तुशब्दस्य प्रयोगः यज्ञवास्तोः सन्दर्भे दरीदृश्यते, किन्तु सूत्रग्रन्थेषु सामान्यनिवासरूपे कौशिकगृह्यसूत्रे च वास्तोः तात्पर्यं मृतकसंस्कारस्थलरूपे मिलति।[5]ऋग्वेदे गृहार्थ 30 शब्दानां प्रयोगः समुपलभ्यते।[6] निघण्टु गृहस्य 22 पर्यायान् कथयति।[7]अथर्ववेदस्य शालासूक्ते[8] भवननिर्माणवर्णने तथा च यजुर्वेदे[9] वास्तुशब्दानां प्रयोगः प्रायः यूप-स्तूप-आसन्दिका-पर्यकादिनिर्माणप्रसंगे मिलति। शतपथब्राह्मणे यज्ञादिप्रसंगे चिति-इष्टिकादिवर्णनं मिलति।[10]यज्ञवेदिकानिर्माणे शुल्वसूत्राणां विशिष्टस्थानमस्ति। अत्र शुल्वशब्दस्यार्थः रज्जु। रज्जुना एव वेदीनिर्माणस्य कार्याणि सम्पादितानि भवन्ति स्म। यज्ञवेदीनिर्माणे बोधायन-आपस्तम्ब-कात्यायनशुल्वसूत्राणां तथा च भूमिचयन-भूशोधन-भूमिपूजनादिके शांखायन-पारस्कर-आश्वलायनगृह्यसूत्राणां महत्वमासीदस्ति च।[11]

---

2. यथा द्रष्टव्यं ऋग्वेद 8.55, अथर्ववेद 3.12, 9.3 इत्यादि
3. ऋग्वेद 8.19.36
4. अथर्ववेद 12.7.7
5. उद्धृत वास्तुशास्त्रविमर्श तृतीयपुष्प सम्पादकीय पृ. x
6. द्रष्टव्य ऋग्वेद 2.3.8, 1.154.6, 8.10.5, 6.16.33, 1.121.2, 4.53.6 इत्यादयः
7. निघण्टु 3.4 , निरुक्त 3.13.9
8. अथर्ववेद 3.12, 9.3
9. तै.सं. 1.3.6.3, वाजसनेयी सं. 3.5, 19.46, 20.1
10. द्रष्टव्यं शत.ब्रा. 7.1.20, 8.1.5, 6.1.2.22-23-29
11. उद्धृत वास्तुशास्त्रविमर्श तृतीयपुष्प सम्पादकीय पृ. xi

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आरम्भकालादेव वास्तुशास्त्रे वास्तुपुरुषस्यावधारणा वैदिककालादेव दरीदृश्यते, यस्याराधनया गृहे सुखमागच्छति। अस्य देवस्य निर्माणादिकार्ये सम्बन्धः नास्ति परन्तु गृहस्य रक्षणाय पालनाय चास्य महत्वपूर्णभूमिका दरीदृश्यते। ऋग्वेदे ऋषिः वास्तोष्पतिं समाराधयन् कथयति यत् –

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत्त्वे महे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे चतुष्पदे॥

वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेन पुत्रान् प्रति नो जुषस्व॥

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमदि रण्वया गातुमत्या।
पाहि क्षेत्र उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥[12]

एषु मन्त्रेषु रक्षार्थं, पालनाय, धनप्राप्त्यर्थं, सुखाप्तये, गृहकल्याण च मुख्यरूपेण प्रार्थना अस्ति। अनेन प्रकारेण ऋग्वेदस्य अस्मिन् मन्त्रे कामना वर्तते यदस्माकं निवासस्थानं सर्वप्रकारेण सुरक्षितो भवेत्। तद्यथा –

सुप्रावीरस्तु स क्षयः प्र नु यामन् त्सुदानवः।[13]

अपि च –

ताँस्त्रायस्व सहस्य द्रुहो निदो यच्छव शर्म दीर्घश्रुत।[14]

अर्थादस्माकं गृहं द्रोहकारिभ्यः निन्दकेभ्यः सुरक्षितो भूत्वा दीर्घकालपर्यन्तं सुस्थिरो भवेदिति। एवं प्रकारेण अश्विनीकुमाराभ्यां प्रार्थनास्ति यदस्माकं यशः छर्दिश्च स्थिरो भवेत्।[15] तत्रैवोल्लिखितमस्ति यदतिथि-उपासकौ धनधान्यपुत्रपौत्रादिभिः सुसम्पन्ने गृहे एव निवसाय इच्छतः।[16] अतः ऋग्वेदे सन्तति-यश-धन-धान्यादिभिः पूर्णगृहस्य कामना अस्ति। अनेन सिद्धयति यत् तस्मिन् काले मानवः पूर्णगृहसुखाय प्रयत्नशीलो भवति स्म। सुन्दरं समृद्धं विशालं सुरक्षितं च गृहं भवेदिति कामनायुक्तः मानवः प्रार्थयति यदहं तु मृण्मयगृहे न अपितु तव बृहत्परिमाणयुक्ते सहस्रद्वारयुते गृहे गन्तुकामोऽस्मि।[17]

---

12. ऋग्वेद 7.54.1-3
13. ऋग्वेद 7.66.05
14. ऋग्वेद 7.16.08
15. ऋग्वेद 7.74.5
16. ऋग्वेद 7.67.10, 7.40.5
17. ऋग्वेद 7.1.11

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अनेन प्रकारेण तदा मृण्मयगृहतः विशालसहस्रद्वारयुक्तगृहस्य परिकल्पना दृश्यते। तस्मिन् काले त्वष्टृ-ऋभू प्रसिद्धवास्तुकारौ आस्ताम्।[18]

वैदिकसाहित्ये यज्ञवेदिका-गृह-ग्राम-पुरप्रभृतिसंरचनानां विषये अनेकेषु स्थलेषु वर्णनं सम्प्राप्यते। आभिः संरचनाभिः तत्कालीनवास्तुशास्त्रस्य स्थितिविषये ज्ञायते। अत्र वैदिकसाहित्योपलब्धेषु केषाचित् वास्तुतत्त्वानां विषये प्रस्तूयते -

यज्ञवेदिका -ऋग्वेदस्य एकेन मन्त्रेण ज्ञायते यत् तदा वेदिका प्रायः वर्गाकारा भवति स्म। तद्यथा -

चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्यां सुपर्णा वृषणा नि षेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्॥[19]

अस्यामृचायां प्रयुक्त 'सुपर्ण' शब्दः गरुडाकारवेदिकायाः (श्येनचिति) प्राशस्त्यविषये संकेतयति। शतपथब्राह्मणे[20] वेदिकायाः वर्णनप्रसंगे कथितमस्ति यत् वेदिका पूर्वं प्रति 3 वितस्तिमिता दीर्घा भवेत्। पश्चिमं प्रति तस्याः विस्तृतिरधिका तथा च मध्ये तस्याः आकारः संकुचितो भवेत्। एवमेव चितीनामर्थात् अग्निप्रज्ज्वलितयज्ञवेदिकानां निर्माणम् इष्टिकाभिः भवति स्म।[21] अनुमीयते सर्वप्रथममपक्वेष्टिकाभिः चितीनां निर्माणं भवति स्म परन्तु शनैः शनैः पक्वेष्टिकाभिरपि वेदिकानां निर्माणं जातम्। शतपथब्राह्मणे यज्ञादिप्रसंगे चितिवर्णनम्[22], इष्टिकानिर्माणम्[23] इष्टिकाप्रमाणानि प्रकाराश्च[24] विस्तरेण वर्णिताः सन्ति।

यूपः स्तम्भो वा- वैदिकसाहित्ये स्कम्भ-यूपशब्दौ स्तम्भाय प्रयुक्तौ स्तः। ऋग्वेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे इन्द्राय सर्वोच्चस्तम्भयुक्तदेवः कथितः।[25] तत्रैव सहस्रस्तम्भयुक्तभवनस्य वर्णनं मिलति। तद्यथा -

राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे। सहस्रस्थूण आसाते।[26]

---

18. ऋग्वेद 7.89.01, 7.88.5
19. ऋग्वेद 10.114.3
20. शतपथब्राह्मण 1.2.5
21. शतपथब्राह्मण 8.1
22. शतपथब्राह्मण 7.1.20, 8.1-5
23. शतपथब्राह्मण 6.1.2, 22, 23,29 इत्यादि
24. शतपथब्राह्मण 8.7.2.17
25. ऋग्वेद 10.11.15 उद्धृतं भारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ.42
26. ऋग्वेद 2.41.5

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

यजुर्वेदे वास्तुप्रयोगः यज्ञपरकः। तत्र यूपनिर्माण[27] स्तूपनिर्माण[28] आसन्दिकापर्यकादिनिर्माण[29] च विस्तरेण वर्णितमस्ति। कृष्णयजुर्वेदे कथितमस्ति यत् यूपस्य यद्भागः भूमेरन्तः भवति तत्तु पितृणां भवति। भूमेरुपरि मेखलापर्यन्तं मनुष्याणां, मेखला तु वनस्पतीनां, मेखलोर्ध्वं शीर्षस्याधोभागश्च सर्वदेवानां, शीर्षस्थानं इन्द्रस्य एवं शेषभागः साध्यानां भवति।[30] अनेन कारणेन स्तम्भानामुपरि पितृणां, मनुष्याणां, वनस्पतीनां, देवादीनां च चित्राकंनस्य प्रथा समुपन्ना जाता।

तदारभ्य यूपस्य धार्मिकमहत्वं दरीदृश्यते। तस्यारोपणपूर्वमेव केषाचिंत् मन्त्राणामुच्चारणं भवति स्म। एभिः मन्त्रैः यूपस्याकारादिविषये ज्ञायते। तस्य वनस्पतिसंज्ञा, यूपनिर्माणाय कस्यचित् पवित्रवृक्षस्य काष्ठस्य प्रयोगो भवति स्म, इति संसूचयति। यूपस्य स्थापना अग्निवेदिकायाः (चितितः) पूर्वे भवति स्म।[31] ब्राह्मणग्रन्थेषु यूपानां उच्छ्रायादिविषये वर्णनं मिलति। तत्र अष्टकोणीययूपस्योल्लेखः समुपलभ्यते। सम्भवतः एभिः स्तम्भैरेव अनन्तरमष्टकोणीयप्रस्तरस्तम्भानां विकासोऽभवत्।[32] ऋग्वेदे परवर्तिसाहित्येषु च यूपस्य विशेषप्रकारस्योल्लेखाः लभ्यन्ते। एषु यूपेषु बलिपशवः बद्धाः भवन्ति स्म।[33]

गृहम् –ऋग्वेदे 'गृह'शब्दः निवासस्य कृते प्रयुक्तो दृश्यते। यथा –

अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते।
यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत्।।[34]

अपि च

सोममिन्द्राबृहस्पती पिबतं दाशुषो गृहे। मादयेथां तदोकसा।।[35]
यत्स्थो दीर्घप्रसद्मनि यद्वादो रोचने दिवः।
यद्वा समुद्रे अध्याकृते गृहेऽत आ यातमश्विना।[36]

---

27. तैत्तिरीय संहिता 1.3.6.3
28. वाजसनेयी संहिता 35
29. वाजसनेयी संहिता 19.86, 20.1
30. कृ.यजु. 6.3.4 उद्धृतम् भारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ. 43
31. भारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ. 42
32. भारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ. 42
33. वैदिक इण्डेक्स जिल्द 2, पृ. 194 उद्धृत भारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ. 42
34. ऋग्वेद 3.53.6
35. ऋग्वेद 4.49.6
36. ऋग्वेद 8.10.1

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अथर्ववेदे[37] ब्राह्मणग्रन्थेषु[38] अपि अस्मिन्नेवार्थे शब्दोऽयं प्राप्यते।ऋग्वेदे गृहस्यार्थे वास्तु-शरण-शर्म-गय-वरुथ्य-सदन-दुरोणादीनां[39]प्राय: त्रिंशच्छब्दानां प्रयोग: दरीदृश्यते।[40] निरुक्ते द्वाविंशतिप्रकाराणां दम-गृह-गय-पस्त्या-सदन-सद्म-दुरोण-हर्म्य-शाल-अगार- आयतनादिसंज्ञकानां गृहाणां वर्णनं मिलति।[41] तत्र गयस्याभिप्राय: पूर्णगृहस्थस्य आवासयोग्यस्थानादासीत्। यथा -

य: स्नीहितीषु पूर्व्य: यंजग्मानासु कृष्टिसु। अरक्षद्दाशुषे गयम्।[42]

एवमेव आवस्थशब्द: अतिथिगृहार्थं प्रयुक्तो दृश्यते।[43] विशालभवनं तु राजप्रासाद:[44] सामान्यगृहाद्विपुलं गृहं सदननाम्ना प्रसिद्धमासीत्।[45]

तत्र वैदिककाले गृहस्य प्रमुखभागा: द्वाराणि (आवागमनस्य मुख्यमार्ग:), सदस् सभा वा (आस्थानमण्डपवत् पुरुषाणामुपवेशनकक्ष:), पत्नीसदनं (अन्त:पुर: अथवा स्त्रीणां कक्ष:), कोष्ठ: (भण्डारगृहम्), अग्निशाला (यज्ञमण्डपम्), पशुशाला (अश्वमती गोमती शाला[46]), कोषगृहम्[47] चासन्। शतपथब्राह्मणे गृहस्य विभिन्नकक्षाणां रोचकवर्णनं मिलति।[48]तैतिरीयारण्यके **धनधानी**[49] शब्दस्य प्रयोग: मिलति। यत्तु सम्भवत: कोषागारार्थं विशेषकक्षो भवति स्म। एवमेव अथर्ववेदे पत्नीनां सदनमिति उल्लिखितं वर्तते, येन गृहे स्त्रीणां कृते विशेषभवनस्य व्यवस्था दृश्यते।[50] त्रिवरुथग:[51] त्रिभुजशयान:[52] त्रिधातुशर्मन्[53] त्रिधातुशरणम्[54]वा संज्ञा त्रितलयुक्तभवनानामासीत्। सामान्यभवनेषु गृहस्य

---

37. अथर्ववेद 7.83.1, 10.6.4 आदि
38. यथा ऐतरेय ब्राह्मण 8.21 इत्यादि
39. ऋग्वेद 2.3.8,1.154.6, 6.16.33, 1.121.2, 4.53.6, 8.101.5,10.11.9,7.92.3 आदि
40. वास्तुशास्त्रविमर्श तृतीयपुष्प भूमिका पृ.11
41. निघण्टु 3.4, निरुक्त 3.13.9
42. ऋग्वेद 1.74.2 एवमेव द्रष्टव्यं 5.10.3, 5.44.7 अपि च अथर्ववेद 2.6.3, 6.84.1
43. छा. उप. 4.1.1
44. बृ.उप. 4.3.37
45. वाज. संहिता 12.79
46. अथर्ववेद 3.12.2 अपि च गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छाशालां विजयते - अथर्ववेद 9.3.13
47. कोषे कोषा: समुज्झिता: - अथर्ववेद 2.3.20
48. शतपथब्राह्मण 3.5.1.11
49. तै.आर. 10.67 उद्धृत भारतीय वास्तुकला का इतिहास पृ. 40
50. ए स्टडी ऑन वास्तुविद्या- तारापद भट्टाचार्य उद्धृत भारतीय वास्तुकला का इतिहास पृ. 40
51. ऋग्वेद 8.20.21
52. अथर्ववेद 8.9.2
53. ऋग्वेद 8.40.12
54. अथर्ववेद 20.83.1 डॉ. पी.घोषालमहोदयमतानुसारेण शीतातपवर्षाभ्य: सुरक्षितं गृहमेव त्रिधातुशरणमस्ति - Lifestyle of Vedic People, Page60

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मुख्यतः त्रीणि अंगानि आसन् - गृहद्वारं सभा पत्नीसदनं च। तदा गृहसुरक्षार्थं गृहाणि आवरणितान्यपि भवन्ति स्म।[55]अथर्ववेदे एकस्मिन् स्थले गृहस्योपमा अलंकृतहस्तिन्या कृतास्ति।[56] हस्तिन्याः पृष्ठभागसदृशः वैदिकगृहाणां आच्छादनं भवतिस्म। गृहाणां आन्तरिकासु बाह्यासु च भित्तिकासु विविधप्रकारकाणामालेखनं भवतिस्म। तत्र सुन्दरगृहस्य तुलना सुसज्जितवधुना सह कृतास्ति।[57] शोभार्थं सर्वाणि वस्तूनि गृहे उपलब्धानि आसन्। यथा -

पूर्णं नारी प्रभर कुम्भमेतत् घृतस्य धाराममृेन
सम्भृताम्.....गृहानुप प्रसीदाभ्यमृतेन सहाग्निना।[58]

तस्मिन् काले भवनानां निर्माणे प्रायः काष्ठवंशादीनां प्रयोगो भवति स्म। यथाथर्ववेदे मिलति-

उपमितं प्रतिमितमथो परिमितामुत।
शालया विश्ववारया बद्धानि विचित्रामसि।।[59]

तदा वंश(बांस)-स्थूण(स्तम्भ)-उपमित(स्तम्भभेद)-प्रतिमित(बीम)-परिमित(क्रासबीम)-वंशशालाजाल(खिडकी फ्रेम)-स्थूणराज(सिरदल)प्रभृतयः गृहनिर्माणे मुख्यांगानि आसन्।[60]शतपथब्राह्मणे वर्णनमस्ति यत् तस्मिन्काले स्थूणराजः दक्षिणतः उत्तरं प्रति भवति स्मातद्यथा-

तस्मान्मनुष्या उदीचीनवंशमेव शालां वा विमितं वा।[61]

छदिस्[62](छत)इत्यस्य वर्णनं तत्रोपलभ्यते। तदा वंशान् परस्परं ग्रन्थनं कृत्वा गृहस्याच्छादनं भवति स्म।[63] यस्योपरि तृणघासादिकानां विषुवन्तस्य[64]प्रयोगः अनुमीयते। एवमेव **अक्षु**[65] अर्थात् आच्छादनं, **'ग्रन्थींश्चकार ते दृढान्'**[66] अर्थात् वंशानां दृढग्रन्थिविषये वर्णनं दरीदृश्यते। तदा गृहाणाम् आच्छादनं गजपृष्ठाकारे अनुमीयते।[67]**अपस्थूण** शब्देन अनुमीयते यत् तस्मिन् काले यदा कदा

---

55. उद्धृतभारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ. 39
56. अथर्ववेद 9.3.17
57. अथर्ववेद 9.3.24
58. अथर्ववेद 3.20.8-9
59. अथर्ववेद 3.5.11
60. भारतीयवास्तुशास्त्र एक चिन्तन- वास्तुशास्त्रविमर्श प्रथम पुष्प पृ. 17
61. शतपथब्राह्मण 3.1.17
62. ऋग्वेद 10.85.10, अथर्ववेद 3.12.3
63. वंशानां नहानानाम् - अथर्ववेद 9.3.4
64. अथर्ववेद 9.3.8 उद्धृतं वास्तुशास्त्रविमर्श प्रथम पुष्प पृ. 17
65. ऋग्वेद 1.108.5, अथर्ववेद 8.8.18 उद्धृतं वास्तुशास्त्रविमर्श प्रथम पुष्प पृ. 17
66. अथर्ववेद 9.3.3 उद्धृतं वास्तुशास्त्रविमर्श प्रथम पुष्प पृ. 17
67. अथर्ववेद 9.3.24 उद्धृतं वास्तुशास्त्रविमर्श प्रथम पुष्प पृ. 17

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

स्वर्णादिधातूनामपि प्रयोगः अलंकरणाय दृढार्थं च भवति स्म।[68]तस्मिन् काले पलद-तृण-मुंज-शर-कुशा-वीरणादिवस्तुप्रभेदानुसारेण गृहस्याच्छादनं भवति स्म।

ग्रामव्यवस्था- वैदिकसभ्यता ग्रामप्रधानसभ्यतासीत्। अतः ग्रामशब्दः ऋग्वेदादिसाहित्ये बहुस्थानेषु समुपलभ्यते। शतपथब्राह्मणानुसारेण केचन ग्रामाः परस्परं सन्निकटाः आसन्।[69] केचन ग्रामाः दूरवर्तिनः आसन् ये परस्परं मार्गेण सम्बद्धाः आसन्।[70] ग्रामे प्रायः शुद्धवायुजलादीनां कृते सुन्दरव्यवस्थासीत्। अतः ग्रामे गृहाणि विरलानि आसन्। तदा बहुजनसंख्यायुक्तग्रामाः **महाग्राम**नाम्ना प्रसिद्धाः आसन्।[71] हैवेलमहोदयस्य मतानुसारेण एते ग्रामाः आयताकाराः आसन् तथा तस्य परितः चतुर्दिक्षु एकमेकं द्वारमासीत्।[72] पर्सी ब्राउनमहोदस्य मतमस्ति यत् वैदिकग्रामाणां परितः काष्ठस्य वेष्टनमासीत् तत्र वेष्टनस्य पुरतः एकमथवा अधिकानि तोरणानि द्वाराणि वा निर्मितानि भवन्ति स्म।[73] पुरः - 'पुर' शब्दस्य प्रयोगः ऋग्वेदे बहुषु स्थलेषु प्राप्यते। यथा -

युधा युध मुप धेदेषि धृष्णुया पुरा पुरं समिदं हंस्योजसा।[74]

तत्रऋग्वैदिककाले पुरशब्दः मुख्यतः दुर्गस्य कृते प्रयुक्तो दृश्यते। अपि च प्राकारस्य कृतेऽपि अनुमीयते।[75]परवर्तिवैदिकसाहित्येऽपि शब्दोऽयं प्राचुर्येण दरीदृश्यते। तदा नगरस्य अर्थे प्रयुक्तोऽस्ति। ऋग्वेदे पुरोपरि आक्रमणं कृत्वा तेषां विनाशस्य वर्णनं मिलति। प्रतीयते तस्मिन् काले पुराणां संख्या अधिकास्ति। सुगमतया तेषां रचना भवति स्म। प्रारम्भे मृत्तिकातः एतेषां निर्माणं भवति स्म।[76] इन्द्रस्य कृते पुरन्दरशब्दस्य प्रयोगः संस्कृतसाहित्ये लभ्यते। तेन पुराणां भेदनं कृतम्।यथा -

अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो विभेदाश्मनेव पूर्वीः।[77]

तत्र पुराणां अश्म-आयसीभेदेन द्वौ प्रकारौ लभ्येते।[78] एतेषां कृते एकस्मिन् स्थले शारदीशब्दस्य प्रयोगः दृश्यते।[79] सम्भवतः शरदृतौ बाह्याक्रमणेभ्यः ग्रामरक्षार्थमेतेषां प्रयोगो भवति स्म। तदा

---

68. ऋग्वेद 5.62.8 उद्धृतं वास्तुशास्त्रविमर्श प्रथम पुष्प पृ. 17
69. शतपथब्राह्मण 13.2.4.2
70. छान्दोग्य उपनिषद् 8.6.2
71. वैदिक इण्डेक्स जिल्द 1, पृ. 244-45 उद्धृतं भारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ. 36
72. उद्धृतं भारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ. 36
73. उद्धृतं भारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ. 36
74. ऋग्वेद 1.53.7 एवमेव द्रष्टव्यं 1.131.1, 1.131.4 , 1.132.4 , 1.174.2 इत्यादयः
75. वैदिक इण्डेक्स जिल्द-1, पृ. 538-539, उद्धृतं भारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ. 37
76. दि वैदिक एज उद्धृतं भारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ. 37
77. ऋग्वेद 2.14.6
78. द्रष्टव्यम् ऋग्वेद 2.14.6 एवं च 2.20.8
79. ऋग्वेद 1.174.2

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भित्तियुक्तपुराणामुल्लेखोऽपि दरीदृश्यते। यथा –

शतभुजिभिस्तमभिहृनुतेरघात्पूर्वी रक्षता मरुतो यमावत।[80]

अतः वैदिकपुराः मुख्यतः बाह्याक्रमणेभ्यः रक्षासाधनानि आसन्। ते प्रकारादिभ्यः सुरक्षिताः दृढमृत्तिकाप्राचीरेभ्यः युक्ताः भवन्ति स्म।[81]

अन्यविषयाः– एतदतिरिक्तं तत्र श्मशानस्यापि उल्लेखो मिलति।[82] अथर्ववेदे बहुषु स्थलेषु शब्दस्यास्य प्रयोगः लभ्यते।[83] श्मशानशब्दः तस्य समाधिस्थलस्य द्योतकः यस्याधोभागे मृतकस्य अस्थीनि स्थापितानि भवन्ति। शतपथब्राह्मणे शवान्नम् (शवस्य कृते अन्नम्) अथवा श्मशान्नम् (पितृणां भोजनम्) इत्यर्थे शब्दस्यास्य प्रयोगः कृतः।[84] यास्केन शवशयनार्थे अर्थात् मृतकस्य विश्रामस्थलार्थे श्मशानशब्दः स्वीकृतः।[85] बेवर महोदयमतेन अश्मन् शयनम् इत्यनेन श्मशानशब्दोत्पत्तिः स्वीकृता।[86]शतपथब्राह्मणे श्मशाननिर्माणविषयकाः नियमाः कथिताः सन्ति।[87]

वैदिकवाङ्मये रथ[88]–चिति[89] पशुसद्म[90]प्रभृतिरचनानामपि वर्णनं समुपलभ्यते। येषां निर्माणादिविधयः न केवलं प्राचीनवास्तुशास्त्रस्य अपितु अर्वाचीनवास्तुकलायाः अपि मूलाधारे स्थिताः सन्ति।

---

80. ऋग्वेद 1.166.8 अपि च अधा मही न आयस्यनाधृष्टो नीपीतये। पूर्भवा शतभुजि। – ऋग्वेद 7.15.14
81. वैदिक इण्डेक्स जिल्द 1 पृ. 538–539, उद्धृतं भारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ. 37
82. वैदिक इण्डेक्स जिल्द 1 पृ. 397, उद्धृतं भारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ. 43
83. अथर्ववेद 2.11.17,8.33.6, 10.23.1 आदि
84. शतपथब्रा. 13.8.1.1
85. निरुक्त 3.5
86. उद्धृत भारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ. 43
87. शतपथब्राह्मण 13.8.1–4
88. ऋग्वेद 1.129.1
89. शतपथब्राह्मण 8.1
90. अथर्ववेद 9.3.13

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

जीर्णादिशिवलिङ्गन्यासविधानम्

श्रीविजयकुमारः

भारतीयसंस्कृतौ आध्यात्मिकज्ञानधारा वैदिककालादेव सृष्ट्यारम्भतः वा सततं विद्यमानास्ति। आवैदिककालाद् आध्यात्मिकपरिप्रेक्ष्ये देववन्दनं पूजनं जपार्चनञ्च दृश्यते। विभिन्नसम्प्रदायेषु विभक्तास्ति एषा आध्यात्मिकधारा। तासां मुख्याः शक्तिपूजकाः शाक्ताः, विष्णूपासकाः वैष्णवाः शिवसाधकाः शैवाश्च इत्युच्यन्ते। विभिन्नसम्प्रदायेषु पूजनार्चनादीनां विविधनियमानां विधीनाञ्च वर्णनं प्रतिपादितम्। एवमेव शैवधर्मे शिवलिङ्गपूजनविषयेऽपि केचन विशिष्टाः नियमाः प्रतिपादिताः। शिवपुराणे[1] एतेषां नियमानां वर्णनं प्राचुर्येण प्राप्यते। शिवस्वरूपविषये वर्णनं चोपलभ्यते यच्छिवः पञ्चमुखदशभुजयुक्तः शुद्धस्फटिक-सदृशकान्तियुक्तः सर्पादिभिरलङ्कृतोऽस्ति। तस्य स्वरूपस्य ध्यानमात्रेण नराणां पापानि विनश्यन्ति। इदं तु प्रतिमानिर्माणाय शिवस्वरूपं वर्तते परन्तु शिवस्य स्तवनाय तस्यापर-स्वरू लिङ्गरूपमस्ति। अपराजितपृच्छायां लिङ्गशब्दस्य निर्वचने कथितमस्ति यत्-

आकाशं लिङ्गमित्याहुः क्षिति स्याज्जलहारिका।
तन्मध्ये सर्वभूतात्मलयनाल्लिङ्गमुच्यते।।[2]

तत्र लिङ्गस्य चलाचलभेदेन मुख्यतया प्रभेदद्वयं दृश्यते। मृण्मयलिङ्गस्य निर्माणं कृत्वा तस्य पूजनादिकं विधाय तस्य जले विसर्जनं क्रियते। इयमेव पार्थिवपूजा। सर्वप्रथमं इयमेव पूजा प्रचलिताऽभवत्। तदा कालान्तरे शिला-काष्ठ-रत्नादिभिः लिङ्गनिर्माणं कृत्वा पूजनस्य पद्धतिः प्रसिद्धा जाता। प्रसङ्गेऽस्मिन् अग्निपुराणे कथितमस्ति[3]-

---

1. प्रथमं च गणाधीशं द्वारपालांस्तथैव च।
दिक्पालांश्च सुसम्पूज्य पश्चात्पीठं प्रकल्पयेत्।।
अथाष्टदलं कृत्वा पूजाद्रव्यसमीपतः।
उपविश्य ततस्तत्र चोपवेश्यं शिवं प्रभुम्।।
त्रयमाचमनं कृत्वा प्रक्षाल्य च पुनः करौ।
प्राणायामत्रयं कृत्वा मध्ये ध्यायेच्च त्र्यम्बकम्।। (श्रीशिवमहापुराणम्, व्याख्याकारः - डॉ. ब्रह्मानन्दत्रिपाठी, चौखम्बासुरभारतीप्रकाशनम्, अ. 11, श्लोकः 32-34)
2. अपराजितपृच्छा 196/64
3. अग्निपुराण 54/2-3
4. तत्रैव अध्याय 33, श्लोक 01

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भित्तियुक्तपुराणामुल्लेखोऽपि दरीदृश्यते। यथा –

शतभुजिभिस्तमभिहृनुतेरघात्पूर्वी रक्षता मरुतो यमावत।[80]

अतः वैदिकपुराः मुख्यतः बाह्याक्रमणेभ्यः रक्षासाधनानि आसन्। ते प्रकारादिभ्यः सुरक्षिताः दृढमृत्तिकाप्राचीरेभ्यः युक्ताः भवन्ति स्म।[81]

अन्यविषयाः– एतदतिरिक्तं तत्र श्मशानस्यापि उल्लेखो मिलति।[82] अथर्ववेदे बहुषु स्थलेषु शब्दस्यास्य प्रयोगः लभ्यते।[83] श्मशानशब्दः तस्य समाधिस्थलस्य द्योतकः यस्याधोभागे मृतकस्य अस्थीनि स्थापितानि भवन्ति। शतपथब्राह्मणे शवान्नम् (शवस्य कृते अन्नम्) अथवा श्मशान्नम् (पितृणां भोजनम्) इत्यर्थे शब्दस्यास्य प्रयोगः कृतः।[84] यास्केन शवशयनार्थे अर्थात् मृतकस्य विश्रामस्थलार्थे श्मशानशब्दः स्वीकृतः।[85] बेवर महोदयमतेन अश्मन् शयनम् इत्यनेन श्मशानशब्दोत्पत्तिः स्वीकृता।[86]शतपथब्राह्मणे श्मशाननिर्माणविषयकाः नियमाः कथिताः सन्ति।[87]

वैदिकवाङ्मये रथ[88]–चिति[89] पशुसद्म[90]प्रभृतिरचनानामपि वर्णनं समुपलभ्यते। येषां निर्माणादिविधयः न केवलं प्राचीनवास्तुशास्त्रस्य अपितु अर्वाचीनवास्तुकलायाः अपि मूलाधारे स्थिताः सन्ति।

---

80. ऋग्वेद 1.166.8 अपि च अधा मही न आयस्यनाधृष्टो नीपीतये। पूर्भवा शतभुजि। – ऋग्वेद 7.15.14
81. वैदिक इण्डेक्स जिल्द 1 पृ. 538–539, उद्घृतं भारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ. 37
82. वैदिक इण्डेक्स जिल्द 1 पृ. 397, उद्घृतं भारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ. 43
83. अथर्ववेद 2.11.17,8.33.6, 10.23.1 आदि
84. शतपथब्रा. 13.8.1.1
85. निरुक्त 3.5
86. उद्धृत भारतीयवास्तुकला का इतिहास पृ. 43
87. शतपथब्राह्मण 13.8.1–4
88. ऋग्वेद 1.129.1
89. शतपथब्राह्मण 8.1
90. अथर्ववेद 9.3.13

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

जीर्णादिशिवलिङ्गन्यासविधानम्

श्रीविजयकुमारः

भारतीयसंस्कृतौ आध्यात्मिकज्ञानधारा वैदिककालादेव सृष्ट्यारम्भतः वा सततं विद्यमानास्ति। आवैदिककालाद् आध्यात्मिकपरिप्रेक्ष्ये देववन्दनं पूजनं जपार्चनञ्च दृश्यते। विभिन्नसम्प्रदायेषु विभक्तास्ति एषा आध्यात्मिकधारा। तासां मुख्याः शक्तिपूजकाः शाक्ताः, विष्णूपासकाः वैष्णवाः शिवसाधकाः शैवाश्च इत्युच्यन्ते। विभिन्नसम्प्रदायेषु पूजनार्चनादीनां विविधनियमानां विधीनाञ्च वर्णनं प्रतिपादितम्। एवमेव शैवधर्मे शिवलिङ्गपूजनविषयेऽपि केचन विशिष्टाः नियमाः प्रतिपादिताः। शिवपुराणे[1] एतेषां नियमानां वर्णनं प्राचुर्येण प्राप्यते। शिवस्वरूपविषये वर्णनं चोपलभ्यते यच्छिवः पञ्चमुखदशभुजयुक्तः शुद्धस्फटिक-सदृशकान्तियुक्तः सर्पादिभिरलङ्कृतोऽस्ति। तस्य स्वरूपस्य ध्यानमात्रेण नराणां पापानि विनश्यन्ति। इदं तु प्रतिमानिर्माणाय शिवस्वरूपं वर्तते परन्तु शिवस्य स्तवनाय तस्यापर-स्वरूपं लिङ्गरूपमस्ति। अपराजितपृच्छायां लिङ्गशब्दस्य निर्वचने कथितमस्ति यत्-

आकाशं लिङ्गमित्याहुः क्षिति स्याज्जलहारिका।
तन्मध्ये सर्वभूतात्मलयनाल्लिङ्गमुच्यते।।[2]

तत्र लिङ्गस्य चलाचलभेदेन मुख्यतया प्रभेदद्वयं दृश्यते। मृण्मयलिङ्गस्य निर्माणं कृत्वा तस्य पूजनादिकं विधाय तस्य जले विसर्जनं क्रियते। इयमेव पार्थिवपूजा। सर्वप्रथमं इयमेव पूजा प्रचलिताऽभवत्। तदा कालान्तरे शिला-काष्ठ-रत्नादिभिः लिङ्गनिर्माणं कृत्वा पूजनस्य पद्धतिः प्रसिद्धा जाता। प्रसङ्गेऽस्मिन् अग्निपुराणे कथितमस्ति[3]-

---

1. प्रथमं च गणाधीशं द्वारपालांस्तथैव च।
दिक्पालांश्च सुसम्पूज्य पश्चात्पीठं प्रकल्पयेत्।।
अथाष्टदलं कृत्वा पूजाद्रव्यसमीपतः।
उपविश्य ततस्तत्र चोपवेश्यं शिवं प्रभुम्।।
त्रयमाचमनं कृत्वा प्रक्षाल्य च पुनः करौ।
प्राणायामत्रयं कृत्वा मध्ये ध्यायेच्च त्र्यम्बकम्।। (श्रीशिवमहापुराणम्, व्याख्याकारः - डॉ. ब्रह्मानन्दत्रिपाठी, चौखम्बासुरभारतीप्रकाशनम्, अ. 11, श्लोकः 32-34)
2. अपराजितपृच्छा 196/64
3. अग्निपुराण 54/2-3
4. तत्रैव अध्याय 33, श्लोक 01

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भूतयेवस्त्रलिङ्गं तु लिङ्ग तात्कालिकं विदुः।
पक्वापक्वं मृण्मयं स्यादपक्त्वात्पक्वजं परम्।
ततो दारुमयं पुण्यं दारुजाच्छैलजं वरम्।
शैलाद्वरं तु मुक्ताजं ततो लौहं सुवर्णजम्॥

शिवपूजने लिङ्गपूजनं विशिष्टं वर्तते। शिवस्य साकारनिराकाररूपद्वयेन पूजनं भवति। साकाररूपे शिवमूर्तेः निराकाररूपे च लिङ्गस्य पूजनं भवति। शिवलिङ्गपूजनेन पापादिनिवृत्तिः तु भवत्येव, तेन शिवलोकप्राप्तिरपि भवति। मयमतमिति ग्रन्थे तुच्छलिङ्ग- अधोगत- ऊर्ध्वगत- बालतरुणलिङ्गादीनां वर्णनं प्रतिपादितं वर्तते[4] तान्यत्र क्रमेण प्रतिपाद्यन्ते। प्रप्रथमं मयमतमाधारीकृत्य त्रिप्रकारकाणां लिङ्गानां वर्णनं प्रस्तूयतेऽत्र। तत्र त्रिविधानि लिङ्गानि–सन्ति निष्कलं सकलं मिश्रञ्च। निष्कलं लिङ्गस्वरूपं, सकलं मूर्तिरूपं मिश्रम् अर्थात् मुखलिङ्गम्, मुखलिङ्गे सकलनिष्कलयोः मिश्रणं भवति। निष्कलं लिङ्गमात्रस्य तथा च सकलं बेरमात्रस्य साङ्केतिकं वर्तते। तन्त्रसमुच्चयेऽपि निरङ्गसाङ्गप्रतिमानां कृते निष्कलं सकलञ्चेति[5] प्रयोगः दरीदृश्यते। मुरारीकृतरत्नावल्यामपि कामार्चान्यार्चादिनाम्नां लिङ्गानां मानं वर्णितमस्ति। यथा[6]–

सकले सतिमूलबिम्बके निगमांशोन्मिति कर्मबिम्बकम्।
सकलाकृतिर्निष्कलेऽपि वा स्थितमासीनमुत प्रकल्पयेत्॥

अर्थात् मूलबिम्बे सकले सावयवे सति निगमांशोन्मिति चतुर्थांशोन्मितं मानं यथा भवति तथा कर्मणि बिम्बकौतुकं कल्पयेत्। निष्कले निरवयवे सकलाकृतिः सावयवत्वेनैव स्थितं स्थिते मूलबिम्बे स्थितम् आसीनमुत आसीनं वा कल्पयेत्। आसीने चोभयथा प्रकल्पयेत्। निगमांशोन्मितीत्येतदुपलक्षणम्।

सकलनिष्कललिङ्गस्य सन्दर्भेस्मिन् भणितमस्ति यत् निष्कलसकलयोः मिश्ररूपमुखलिङ्गमिति भवति। यस्योच्छ्रायः लिङ्गाकृतेः तुल्यं भवति। बिम्बस्य मूर्तिः शरीराभा सदृशमेव भवति। विश्वमूर्तिसदृशं स्ववैशिष्ट्यमिति प्रतिभाति।

भारतीयवास्तुशास्त्रे त्रिविधानां प्रासादशैलीनां प्रचलनमस्ति–नागर–द्राविड–वेसरश्च। प्रासादशैली–मनुसृत्य नागर–द्राविड–वेसरलिङ्गानां वर्णनमपि समुपलभ्यते। सम्पूर्णभारतवर्षे मुख्यतः एतासु शैलीषु शिवालयस्य निर्माणं सम्प्रत्यपि दृश्यते। दक्षिणभारते यथा द्राविडशैल्याः बाहुल्यं वर्तते तथैवोत्तरभारतवर्षे नागरशैल्याः बाहुल्यं वर्तते। तासां शैलीनां कृते लिङ्गानां मानं प्रमाणमपि भिन्नमस्ति। अत्र प्रसङ्गवशात्किञ्चित् वर्ण्यते–

---

5. उद्धृत तत्रैव पृष्ठ 348

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

नागरलिङ्गम्

नागरशैल्यनुसृत्य निर्मितशिवालये प्रासादे वा गर्भगृहस्यार्धमानस्य शिवलिङ्गं मध्यमं भवेत्, प्रासादस्य पञ्चमाशं (1/5) कृत्वा तृतीयांशतुल्यं (1/3) शिवलिङ्गं श्रेष्ठं भवति। यथा[7]–

गर्भार्धमध्यमं श्रेष्ठं पञ्चत्यंशं शिवायतम्।
भवन्ति नवलिङ्गानि तयोर्मध्येऽष्टभाजिते॥

श्रेष्ठमध्यकनिष्ठानि त्रित्रिभेदानि तानि हि।
नागरे नागरस्योक्तं मानं लिङ्गस्य मन्दिरे॥
विकारांशे तदायामे सार्वकामिकं नागरे विदुः॥

द्राविडलिङ्गम्

द्राविडजात्यप्रासादस्य गर्भगृहमानं एकविंशति (21) विभागेषु विभक्तेषु दशभागतुल्यं लिङ्गम् अधमं, त्रयोदशांशं तुल्यं लिङ्गं श्रेष्ठं तथा च अधमश्रेष्ठमानयोः योगस्य अष्टमांशतुल्यानि शिवलिङ्गस्य नवविधमानानि भवन्ति। एतेषां लिङ्गानां जयदपौष्टिकसार्वकामिकाश्च संज्ञाः अभिज्ञायन्ते। प्रोक्तं यथा[8]–

गर्भे त्रिसप्तभागे तु दशांश द्राविडेऽधमम्।
त्रयोदशांशकं श्रेष्ठं मध्येऽष्टांशे तु पूर्ववत्॥

त्रिसप्तांशे निजायामे षट्पञ्चचतुरंशकम्।
जयदादिविशालं तत् पूर्ववद् द्राविडे मतम्॥

वेसरलिङ्गम्

गर्भगृहस्याकारसमं वेसरप्रासादे गर्भगृहस्य मानं पञ्चविंशतिसङ्ख्यया विभक्ते सति एतस्मिन् त्रयोदशांशतुल्यं लिङ्गं हीनलिङ्गं तथा च षोडशांशतुल्यं श्रेष्ठं लिङ्गं भवति। यथोक्तम्[9]–

वेसरे पञ्चपञ्चांशे गर्भागारे विमानके।
त्रयोदशांशकं हीनं श्रेष्ठं स्यात् षोडशांशकम्॥
तयोर्मध्येऽष्टभागे तु नवलिङ्गानि पूर्ववत्।
पञ्चपञ्चांशके दैर्घ्यं वसुधातुरसांशकम्॥

---

6. उद्धृत तत्रैव पृष्ठ 348
7. मयमतम् अ. 33. श्लो. 39½–42½
8. मयमतम् अध्याय 33, श्लोक 42½–44½
9. मयमतम् अध्याय 33ष श्लो, 44½–47

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वेसरस्योदितं व्यासं पूर्ववज्जयदादिकम्॥

अनेन प्रकारेण मयमते विस्तरेण शिवलिङ्गलक्षणादीनि कथितानि सन्ति। तत्र चतुर्णा वर्णानां कृते लिङ्गानां पूजनं वर्णितमस्ति।[10] तत्र कस्य लिङ्गस्य कदा केन प्रकारेण अनुकर्म करणीयमिति अत्र विवेच्यते-

लिङ्गजीर्णोद्धारे विधानम्-

दीप्तागमे कथितमस्ति यत् **'प्रासादलिङ्गपीठानां जीर्णकालेसमुद्धरेत्'**[11] इति। तत्र जीर्णोद्धारः कदा करणीयः इति विषये दीप्तागमे लिखितं वर्तते-

कालक्षेपणजीर्णे हि भिन्ने स्फुटितपातने।
पुराकृतं परित्यज्य लिङ्गपीठनिकेतनम्॥
सौधं च प्रतिमालिङ्गं पुनरावर्त्य मनोरमम्॥

प्रासादभवनादिजीर्णोद्धारस्य विविधविधीनां प्रतिपादनं शास्त्रेषु मिलति एव। प्रासादानां जीर्णोद्धारात्परं लिङ्गजीर्णोद्धारस्य सम्पादनमपि दृश्यते शास्त्रेषु। विभिन्नेषु वास्तुग्रन्थेषु एतेषां नियमानां सिद्धान्तानां प्रतिपादनं दृश्यते। लिङ्गजीर्णोद्धार विषये मयमते प्रोक्तं यत्[12]-

पतितं स्फुटितं लिङ्गं दुस्तरपारासुवृतं च।
वक्रमधोगतलिङ्गं लिङ्गादत्यूर्ध्वगतिलिङ्गम्॥

परितर्कैरूपकामं तदज्ञेन स्थापितं लिङ्गम्।
भिन्नं ज्वलनालीढं जीर्णं सस्फोटनं तु भग्नं च॥

चोरादिभिरुद्धृतं किंदेशं स्थानं तु दूषितैः स्पृष्टम्।
विपरीतमयोगं यल्लिङ्गं सन्दृश्यते तु भुवि॥
तेन सदाशिवमुदितं तज्ज्ञैर्लोकेऽपि जन्तूनाम्।

पतितं वा केनचित् अल्पज्ञमानवेन चाण्डालादिना च स्पर्शितं लिङ्गं यदि भवेत् तदा तत्स्थाने नूतनलिङ्गस्य स्थापनस्य निर्देशः।[13] एतस्मिन् सन्दर्भे तुच्छलिङ्गस्य वर्णनमपि प्राप्यते।[14] लिङ्गस्य

---

10. मयमतम्, अध्यायः -33, श्लोकः 72-73
11. दीप्तागम 59/1
12. मयमतम्, अध्यायः 35, श्लोकः 15-17
13. तत्रैव, अ. 35, श्लो.18
14. मयमतम्, अध्यायः 35, श्लोकः 18-20

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

जीर्णोद्धारावलम्ब्य ऊर्ध्वगतस्य[15] अधोगतस्य[16] लिङ्गस्य च वर्णनमपि मयमते दृश्यते। ज्ञातकालात् भूमिगतलिङ्गं अधोगतलिङ्गं तथा च अज्ञातकालात् किमपि लिङ्गं यदि भूमेः अधोस्थितं भवेत् तर्हि तादृशानां लिङ्गानां पुनः तत्रैव स्थापनं करणीयं, यदि तेषु लिङ्गेषु कश्चिदपि विकारः न भवेत्।

सर्वलक्षणयुक्तं लिङ्गं यदि मन्त्रक्रियादिभिर्हीनं भवेत् तत् पुनः विधिपूर्वकं स्थापनयोग्यं भवतीति।[17] एवमेव लिङ्गस्वरूपवशादपि तस्य जीर्णोद्धारस्य निर्देशो लभ्यते तत्र। अग्निदग्धपतितजीर्ण-लिङ्गस्य स्थापनं पुनर्विधिविधानेन करणीयम्। वास्तुविदां मतानुसारेण कार्यं सम्पादनीयं तथा च जीर्णोद्धारकाले लिङ्गस्य दिशा-विदिशादीनां स्थितिः सम्यग्विचारणीया। सन्दर्भेऽस्मिन् प्रोक्तं यथा[18]-

हीनं ज्वलनालीढं सस्फोटकं च भग्नं च।
लिङ्गं सार्ध्यं त्यक्त्वा पुनस्तत्स्थापयेन्नवं लिङ्गम्॥

अधोत्तरमज्ञानानां मोहेन वाप्यन्यदाननयुक्तम्।
विपरीतं त्यजेत्सहसा उचितं यन्नवमन्यत्तत्रैव स्थापयेद्विधिना॥

अर्थात् हीन- अग्निदग्ध- जीर्ण- स्फुटितलिङ्गस्य पूजनं सततं भवति चेत् तदा तत्स्थाने नूतनलिङ्गस्य स्थापनं करणीयम्। स्थापनकाले लिङ्गस्योर्ध्वभागस्य स्थापनमधोः भवेत् तथा च विपरीतदिशि यदि स्थापनं भवति तदा विधिमनुसृत्य नूतनलिङ्गस्य स्थापनं करणीयमिति।

तलभित्तिद्वारशिखरादीनि प्रासादस्याङ्गानि भवन्ति। तैः प्रासादस्य सम्पूर्णरूपं स्वरूपञ्च परिलक्षितं भवति। एवमेव योनि तल-अक्षादीन्यपि लिङ्गस्याङ्गानि भवन्ति। एतस्मात् हीनं लिङ्गं दोषकारकं मन्यते। तल-अक्षादिभिः रहितलिङ्गस्य स्थापनं वर्जनीयं वर्तते। यथासम्भवं एतादृशानि लिङ्गानि त्याज्यानि विद्वद्भिः। तानि लिङ्गानि पूर्णरूपेण परित्यज्य तत् स्थाने नूतनलिङ्गस्य स्थापनं[19] निर्दिष्टम्। पूर्वं विदितमस्ति यत् चतुर्षु वर्णेषु भिन्न-भिन्नलिङ्गानां अर्चनविधानं वर्तते। ब्राह्मणादिभिः अर्चितं लिङ्गमेव उत्कृष्टं वर्तते। चाण्डाल-शूद्राभिः स्पृष्टलिङ्गम् अर्चनयोग्यं न मन्यते।[20] यदि एतादृशं लिङ्गलक्षणं प्राप्यते वा तदा तत्र निर्देशनं कृतं यत्[21]-

---

15. तल्लिङ्गं तु निमग्नं कालज्ञातं तथा वापि।
तदधोगतमित्युक्तं तल्लिङ्गं चोद्धरेत् समितम्॥ मयमतम्, अध्यायः 35, श्लोकः 21
16. मयमतम्, अध्यायः 35, श्लोकः 21
17. मन्त्रक्रयेतरलिङ्गं सर्वेषां लक्षणोपेतम्।
अज्ञस्थापितमेतत्त द्योजयेद् विधिना॥ तत्रैव, श्लोकः 24
18. मयमतम्, अध्यायः 35, श्लोकः 25-26 (डॉ. शैलजा पाण्डेय कृता टीका)
19. अत्रोचित लक्षणं तत् शून्यं तलं तु वा चाक्षम्।
आग्राह्यं क्षेत्रगतं यत्र तद्योग्यं सर्वथा त्याज्यम्॥
तत्रैवान्यलिङ्गं नवमुचितं स्थापयेद् विधिना। मयमतम्, अध्यायः 35, श्लोकः 27

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पूर्वस्यामुत्तरतो नीत्वान्यस्मिन् शुभे देशे।
सुस्थापितञ्च लिङ्गं पूर्ववदेवानाय्य विधिनाऽपि॥

बेरं वाप्येवं तत्तद्युक्त्यान्यस्मिन्नवे देशे।
स्थाप्यं यदि निर्दोषं सर्वमनुक्तं तु तल्लिङ्गे॥

विद्वद्भिः कथितं यद् द्वादशवर्षाधिकं शून्यं (पूजनादिरहितं) लिङ्गमपि अग्राह्यं अथवा पूजनयोग्यं न भवतीति। उक्तं यत्[22]–

द्वादशवर्षादूर्ध्वं शून्यत्वं याति यल्लिङ्गम्।
तत्तन्निर्दोषं यदि न ग्राह्यमिदं वदन्ति केचिज्ज्ञाः॥
शिलामयं तर्ह्युदके निक्षिपेत् त्वरितं बुधः॥

ततः जीर्णोद्धारः कथं भवेदिति सन्दर्भे भग्न-पतित- मूर्तिलिङ्गादीनां जीर्णोद्धार-विधिः शिवमहापुराणे यत्[23]–

अचलां विन्यसेद्गेहे अतिजीर्णां परित्यजेत्॥
व्यङ्गां भग्नां च शीलाढ्यां न्यसेदन्यां च पूर्वत्।
संहारविधिना तत्र तत्त्वान्संहृत्य देशिकः॥

सहस्रं नारसिंहेन हुत्वा तामुद्धरेद्गुरूः।
दारवीं दाहयेद्वह्नौ शैलजां प्रक्षिपेच्चले॥

धातुजां रत्नजां वाऽपि अगाधे वा जलेऽम्बुधौ।
मानमारोप्य जीर्णाङ्गं छाद्य वस्त्रादिना नयेत्॥

वादित्रैः प्रक्षिपेत्तोये गुरवे दक्षिणां ददेत्।
यत्प्रमाणा च यद्द्रव्या तन्माना स्थापयेद्दिने॥

प्रतिमादीनां जीर्णोद्धारविषयोपरान्ते लिङ्गादीनां जीर्णोद्धारविधेः वर्णनमपि अग्निपुराणे उपलभ्यते। तस्यानुसारेण लक्ष्मोज्झितमर्थात् लक्षणहीनं, भग्नं, स्थूलं, वज्रहतं तन्त्रमन्त्रादिभिः दूषितं, व्यङ्गं लिङ्गं तस्य पीठिकां वृषं च त्यक्त्वा एवमेव चालितं चलितं निम्नं विषमस्थाने स्थितं दिङ्मूढं, पतितादिकं लिङ्गं

---

20. चाण्डालशूद्रकाद्यैः स्पृष्टं च लिङ्गं तर्ह्ययोग्यकं शस्तम्।
नदीतीरं चेत् स्पृष्टं मन्दिररहितं तु तल्लिङ्गम्॥ मयमतम्, अध्यायः 35, श्लोकः 29
21. तत्रैव, अध्यायः 35, श्लोकः 30-31
22. तत्रैव, अध्यायः 35, श्लोकः 32-33
23. शिवमहापुराण, अध्यायः 67, श्लोकः 1-4

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

परित्यज्य नूतनलिङ्गस्य स्थापना कार्या इति।[24] ततः शिवपूजनं विधाय लिङ्गस्थान्सत्वान् विसर्जनाय सम्प्रार्थ्य नूतनलिङ्गे शम्भुसान्निध्यम् अभिकल्पयेत्। क्रमेऽस्मिन् प्रत्येकभागाय पाशुपतमन्त्रेण सहस्रं हुत्वा शान्तिजलेन प्रोक्षणं करणीयम्। कुशेन लिङ्गं स्पृष्ट्वा पाशुपतमन्त्रस्य जपं करणीयम्। तदोपरान्तं तत्त्वाधिपेभ्यः उत्तरक्रमेणार्घ्यं दत्त्वा शिवस्याष्टमूर्तीनां विसर्जनं करणीयम्। वृषभस्य रज्जुना बन्धनं कृत्वा जले निक्षेपणीयम्। वास्तुदिक्पालयोः शुद्ध्यर्थं शतं होमं कृत्वा आचार्यैः विधिवत्तत्र लिङ्गस्थापनं करणीयम्। असुरमुनितन्त्रविद्भिः प्रतिष्ठितस्य लिङ्गस्य चालनं न करणीयमिति।[25] प्रसङ्गेऽस्मिन् तत्रैव अन्यदूषितलिङ्गानां जीर्णोद्धारविषये निर्देशनं प्राप्यन्ते।[26] प्रसङ्गेऽस्मिन् दीप्तागमे लिङ्गजीर्णोद्धारः[27]–

लिङ्गपीठं परित्यज्य महार्णवे नियोजयेत्।
शिवशक्तिं ततो ग्राह्य बाललिङ्गे नियोजयेत्॥

प्रासादलिङ्गमूले तु पीठलिङ्गस्य वामके।
अस्त्रेणोत्पाटनं कृत्वा चण्डयागं समाचरेत्॥

वृषयागं ततः कृत्वा वृषमन्त्रेण देशिकः।
सौधं भूमौ परित्यज्य दारूजं चाग्निना दहेत्॥

लोहजं तेन कार्यं स्यात्सुदृढं लक्षणान्वितम्।
संप्रोक्ष्य विधिना कार्यं महोत्सवमनन्तरे॥

ग्रन्थेऽस्मिन् विस्तरेण जीर्णोद्धारविधिः निगदितः। अत्र ध्यातव्यं यत् पुराकाले यस्मिन्नगरे ग्रामे वा शिवलिङ्गं न भवति स्म तत्र कथमपि प्रसन्नतासम्पन्नतादिगुणाः न तिष्ठतीति विश्वासः आसीत्। यथोक्तं दीप्तागमे[28]–

ग्रामे वा नगरे वापि अरण्ये पर्वतेऽपि वा।
शिवलिङ्गं विना यत्र तत्र जुष्टं न कारयेत्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शिवधामसमन्वितम्॥

परन्तु यदा कालक्षेपत्वात् शिवलिङ्गं जीर्णं भवेत्तदा तस्योद्धारः करणीयः। तत्र शिवलिङ्गमपि नवविधं कथितमस्ति[29]– स्वयम्भुवं पूर्व दैवतं गाणपत्यम् आसुरं सुरम् आर्षं राक्षसं मानुषञ्चेति। एषु

---

24. अग्निपुराण अध्याय 103, श्लो. 01–10
25. अग्निपुराण अध्यायः 103, श्लो. 15–20
26. तत्रैव श्लोक.11–15
27. दीप्तागम 59/5
28. दीप्तागम 53/1–3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अष्टलिङ्गानि सुरासुरादिभिः स्थापितानि। एतेषु मानं न विचारणीयम्। केवलं मानुषे लिङ्गे एव मानादिकं विचार्यते। प्रसङ्गेऽस्मिन्प्रासादमण्डने-

घटितेषु विधातव्यमर्च्चा लिङ्गेषु शास्त्रतः।[30]

तुच्छलिङ्गादिविचारः-

वैदिकपौराणिकपरम्परायां लिङ्गार्चन- स्थापन- जीर्णोद्धारादिविषयाणां वर्णनं प्रतिपादितमस्ति। अग्नि-लिङ्गादिपुराणेषु शास्त्रोक्तलिङ्गार्चनादिपद्धत्योः वर्णनं दरीदृश्यते। परन्तु लिङ्गानां प्रभेदक्रमात्तेषां सङ्ख्या अग्निपुराणे अष्टोत्तरशतम्[31] कथितमस्ति। पतिते चेत्स्थापिते लिङ्गेऽस्मिन्नज्ञेन केनापि अन्यत्सूर्यकिरणाभिहतं लिङ्गं स्थापयेत्तत्र। लिङ्गभेदेषु नवप्रकारकाणां लिङ्गानां वर्णनमपि प्राप्यते यथा[32]-

बहुधालिङ्गभेदाश्च नव चौव समासतः।
मूले ब्रह्मा तथा मध्ये विष्णुस्त्रिभुवनेश्वरः॥

रुद्रोपरि महादेवः प्रणवाख्यः सदाशिवः।
लिङ्गवेदी महादेवी त्रिगुणा त्रिमयाम्बिका॥

तत्र द्रव्यभेदवशात् षड्विधलिङ्गानां वर्णनमप्युपलभ्यते। तथा च प्रभेदवशात् एतेषां सङ्ख्या चत्वारिंशत् मन्यते। प्रोक्तं यथा[33]-

षड्विधं लिंगमित्याहुर्द्रव्याणां च प्रभेदतः।
तेषां भेदाश्चतुर्युक्ता चत्वारिंशदिति स्मृताः॥

शैलजं प्रथमं प्रोक्तं तद्धि साक्षाच्चतुर्विधम्।
द्वितीयं रत्नजं तच्च सप्तधा मुनिसत्तमाः॥

तृतीयं धातुजं लिंगमष्टधा परमेष्ठिनः।
तुरीयं दारुजं लिङ्गं तत्तु षोडशधोच्यते।
मृण्मयं पञ्चमं लिङ्गं द्विधा भिन्नं द्विजोत्तमाः।

---

29. अपराजितपृच्छा पृष्ठ 480
30. प्रासादमण्डनम् अध्याय 08, श्लोक 02
31. अग्निपुराणम्
32. लिङ्गमहापुराणम्, अध्यायः 1, श्लोकः 19-20
33. लिङ्गपुराणम्, अध्यायः 74, श्लोकः 13-18

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

षष्ठं तु क्षणिकं लिङ्गं सप्तधा परिकीर्तितम्॥

श्रीपद रत्नजं लिङ्गं शैलजं सर्वसिद्धिदम्।
मृण्मयं चौव विप्रेन्द्राः सर्वसिद्धिकरं शुभम्।
शैलजं चोत्तमं प्रोक्तं मध्यमं चौव धातुजम्॥

अर्थात् लिङ्गानां द्रव्यभेदवशात् षड्भेदाः (06), चत्वारिंशत् (40) प्रभेदाश्च समुपलभयन्ते। प्रथमं लिङ्गं शैलजम् इति नाम्ना ज्ञायते। अस्य चत्वारः (04) उपविभागाः सन्ति। द्वितीयं रत्नजनितलिङ्गानि भवन्ति एतेषां सप्त (07) उपविभागाः भवन्ति। तृतीयं धातुजानि लिङ्गानि सन्ति एतेषां अष्टौ (08) उपविभागाः प्राप्यन्ते। चतुर्थं काष्ठनिर्मितानि लिङ्गानि भवन्ति एतेषां षोडशोपविभागाः (16) कथिताः। पञ्चमं मृण्मयलिङ्गानि सन्ति एतेषां द्वौ (02) उपविभागौ वर्तेते। षष्ठमं क्षणिकलिङ्गानि वर्णितानि सन्ति येषां सप्तोपविभागाः कथिताः सन्ति। क्रमेऽस्मिन् लिङ्गानां फलमपि प्रतिपादितमस्ति-

	लिङ्गस्य प्रकारः	फलम्
1.	रत्नलिङ्गम्	भाग्यदायकम्
2.	शैलजलिङ्गम्	सिद्धिदायकम्
3.	धातुलिङ्गम्	धनदायकम्
4.	मृत्तिकालिङ्गम्	सर्वसिद्धिदायकम्
5.	काष्ठलिङ्गम्	सांसारिकभोगदायकम्

तत्रापि सर्वकामार्थसाधकलिङ्गानि[34]-

लिङ्गं सुरार्चितं धारालिङ्गं साहस्रलिङ्गकम्।
त्रैराशिकं तु सर्वेषां सर्वकामफलप्रदम्॥

लिङ्गेषु सुरार्चितं (देवेश्वर), धारालिङ्गं (धारेश्वर), सहस्रलिङ्गं, त्रैराशिकञ्च लिङ्गानि समेषां कृते सर्वविधकामफलानि यच्छन्ति। क्रमेऽस्मिन् ऋषीणां कृतेऽपि आर्षलिङ्गस्य वर्णनं कृतं यथा[35]-

सस्थूलमूललिङ्गं यवमध्यं वा पिपीलिकामध्यम्।

---

34. मयमतम्, अध्यायः -33, श्लोकः 80
35. तत्रैव, अध्यायः -33, श्लोकः 85-86

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

लिङ्गं तु शिरः स्थूलं ह्यार्ष लिङ्गं चतुर्भेदम्।।

निजविपुलाष्टांशघ्नं मूले मध्ये तथा तदग्रे च।
विष्ण्वजभागो सम्यक् चतुरस्रं चार्षके लिङ्गे।।

अर्थात् यस्य लिङ्गस्य मूलभागं स्थूलं मूलप्रमाणतः विपरीतं वा भवेत् यवपिपीलिकययोः मध्यमानयोः निर्मितयोः वा भवेत् तद् लिङ्गस्यार्ष संज्ञा भवति। केचन कथयन्ति यत् स्वयम्भुवार्षद्राविडलिङ्गानां किमऽपि प्रमाणं न भवति।[36]

अनेन प्रकारेण लिङ्गानां लक्षणानि वास्तुशास्त्रे विस्तरेण कथितानि सन्ति। परन्तु एतानि लिङ्गानि यदा पतितानि, स्फुटितानि, वक्राणि, अशुद्धादीनि जातानि तदा एतेषां जीर्णोद्धारः करणीयो भवति। तदा कानि लिङ्गानि तुच्छानि? कथमेतेषां जीर्णोद्धारो भवेदिति विषये मयमते कथितमस्ति यत्-

अन्त्येनान्तरितं वा श्वभ्रान्तं नैव सम्प्राप्तम्।
अनभीष्ट मार्गतास्यं तल्लिङ्गं तुच्छमिति कथितम्।
तत्रैव तु तल्लिङ्गं सम्यग्विद्वान् यः समीकुर्यात्।
अन्येऽपि निर्मानं च लिङ्गं तदातव सम्मतम्।
वक्रं च वक्रवृत्तं लिङ्गं यत्तदेव तत्समितम्।।[37]

अर्थात् लिङ्गस्य पतिते सति यदि कश्चिदज्ञपुरुषः तल्लिङ्गं पुनः स्थापयति तदा तत्तुच्छं लिङ्गं जानीयात्। यतोहि शास्त्रविधिरहितस्थापनं तुच्छं ज्ञेयम्। तत्र सूर्यकिरणानभिहतं अन्यलिङ्गं स्थापयेत्। एवमेव अन्त्येन चाण्डालादिभिः अन्तरिते सति अथवा अपवित्रस्थाने अपवित्रवस्तुभिः साकं स्थितं लिङ्गमपि तुच्छलिङ्गं भवति। तथैव गर्तस्थितं पीठस्य खातस्य निम्नतले वा स्थितं लिङ्गमपि तुच्छलिङ्गं भवति। एवमेव अनभीष्टमार्गतास्यमर्थात् यस्य लिङ्गस्य दिशा विहितदिशाविरुद्धाऽस्ति तदपि लिङ्गं तुच्छं ज्ञेयम्। एतादृशानां लिङ्गानामुद्धारः प्राज्ञेन करणीयः। अस्माद्धेतोः शास्त्रविधिपूर्वकं नूतनं लिङ्गं स्थापयेत्। अनभीष्टमार्गतास्यं लिङ्गं प्राज्ञेः समीकुर्यात् अर्थात् विधिपूर्वकं विहितदिशायां तं लिङ्गं स्थापयेत्।

एवमेव वक्रलिङ्गं वक्रवृत्तलिङ्गञ्चापि तुच्छे लिङ्गे। तुच्छलिङ्गम् अपि मानप्रमाणेन संशोध्य स्थापयेदिति। परन्तु अत्र ध्यातव्यं यत् स्वयम्भूदैविकं लिङ्गमासुरलिङ्गादिकं च शिल्पिकर्माप्रयुक्तत्वात् दोषरहिताः भवन्ति। यथोक्तं प्रासादमण्डनेऽपि-

---

36. (टी.ए. गोपीनाथ रावः हिन्दू आईकनोग्राफी, द्वितीय भाग प्रथम खण्ड, पृष्ठ 86) द्रष्टव्य मयमतम्, श्रीकृष्ण-जुगनूसम्पादितं पृष्ठ 369
37. मयमतम्, अध्यायः 35, श्लोकः 19-20

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मानं न्यूनाधिकं वापि स्वयम्भू बाणरत्नजैः।
घटितेषु विधातव्यमर्च्चा लिङ्गेषु शाश्वतः।।[38]

अत्रावधेयं यत्र प्रासादमण्डने तुच्छलिङ्गविषये वर्णनं न प्राप्यते। परन्तु जीर्णोद्धार-परामर्शः तत्रोपलभ्यते-

अथ तच्चालतः प्राज्ञो जीर्णं व्यङ्गं च दूषितम्।
आचार्यः शिल्पिभिः प्राज्ञैः शास्त्रदृष्ट्या समुद्धरेदिति।।[39]

अधोगतादिलिङ्गविचारः

तत्र कालक्रमात् कानिचन लिङ्गानि भूमौ निमग्नानि भवन्ति। एवमेव कानिचन लिङ्गानि जलनिमग्नानि भवन्ति। ततः एतेषां मध्ये कानिचन लिङ्गानि अधोगतलिङ्गानि कानि च ऊर्ध्वगतलिङ्गानि भवन्ति। अस्मिन् सन्दर्भे मयमते निगदितमस्ति यत् - निश्चितकालावधिं यावत् यल्लिङ्गं भूमौ निमग्नं भवति तद् अधोगतलिङ्गमुच्यते। अस्य पुनरुद्धारोऽपि पूर्वविदितप्रक्रियया करणीयम्।

तल्लिङ्गं तु निमग्नं कालज्ञातं तथा वापि।
तदधोगतमित्युक्तं तल्लिङ्गं चोद्धरेत् समितम्।।[40]

अर्थात् तल्लिङ्गं भूमितः निष्कास्य तस्य मानादिकं परीक्ष्य सुयोग्यस्थाने स्थापनीयमिति। एवमेव मयमते ऊर्ध्वगतलिङ्गविषये प्राप्यते यद् अनिश्चितकालं यावत् भूमेरन्तः स्थं लिङ्गं ऊर्ध्वगतलिङ्गं भवति। यस्मिन् स्थानेऽस्य प्राप्तिर्भवति निर्दोषे सति तत्रैवास्य स्थापनं करणीयमिति। यथा[41]-

तल्लिङ्गं तु निमग्नं कालाज्ञातमूर्ध्वगतम्।
तत्र स्थाप्यं पुनरपि निर्दोषकं यदिदम्।।[42]

अस्मिन् क्रमे भविष्यपुराणे शिवलिङ्गस्य चाललनिषेधः प्राप्यते तद्यथा -

सुस्थितं दुःस्थितं वापि शिवलिङ्गं न चालयेत्।
चालनाद्रौरवं याति स्वर्गं न च स्वर्गभाक्।।

---

38. प्रासादमण्डनम् अ. 08, 02
39. तत्रैव श्लो. 14
40. मयमतम् अ. 35,श्लोक. 21
41. तत्रैव श्लोक. 22
42. वास्तु उद्धारधोरणी अ. 03, श्लो.12

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

एवमेवाग्निपुराणेऽपि दृश्यते[43]–

चालितञ्चलितं निम्नमत्यर्थं विषमस्थितम्।
दिङ्मूढं पातितं लिङ्गं मध्यस्थं पतितं तथा॥

अत्र प्रासादमण्डने कथितमस्ति[44]–

स्वस्वस्थाने संस्थितं यच्च विप्रवास्तुशिवालयम्।
अचाल्यं सर्वदेशेषु चालिते राष्ट्रविभ्रमः॥

शिवलिङ्गस्थापने निर्देशः

तत्र पतितादिलक्षणयुक्तस्य शिवलिङ्गस्य स्थापना करणीया न वा अथवा कथं करणीया इति विषये मयमते विस्तरेण चर्चा मिलति। तस्यानुसारेण यदि नद्यः स्रोतः लिङ्गं पतितं तर्हि तन्नीत्वा अन्यस्मिन् शतदण्डदूरे दैविकविधिना शुद्धस्थाने तस्य स्थापना कार्या। तद्यथा–

सरितः स्रोतः पतितं नीत्वा शतदण्डमन्यस्मिन्।
स्थाप्यं तद्दैविकविधिना शुद्धे देशे मुखं प्राग्वत्॥[45]

एवमेव सर्वलक्षणोपेतं निर्दोषं लिङ्गं केनचिदज्ञेन मन्त्रक्रियारहितम् अज्ञानतापूर्वकं स्थापितमस्ति तदा तल्लिङ्गं पुनः विधिपूर्वकं स्थापनीयम्–

मन्त्रक्रियेतरलिङ्गं सर्वेषां लक्षणोपेतम्।
अज्ञस्थापितमेतत्तद्योजयेद् विधिना॥[46]

यदि किञ्चिल्लिङ्गं लक्षणहीनं, दग्धं, जीर्णं, स्फुटितं, भग्नं वा दृश्यते परन्तु तस्य लिङ्गस्य पूजनमर्चनमपि च भवति तथापि तत्र तल्लिङ्गं त्यक्त्वा दोषरहितनूतनलिङ्गस्य स्थापना कार्या। अतः कथयति मयः[47]–

हीनं ज्वलनालीढं जीर्णं सस्फोटकं च भग्नं च।
लिङ्गं सार्ध्यं त्यक्त्वा पुनस्तत्स्थापयेन्नवं लिङ्गम्॥

कदाचित् लिङ्गस्थापनाकाले दिङ्मूढत्वात् अज्ञानाद्वा शिवलिङ्गस्योर्ध्वभागं अधोमुखं स्थापितं भवति अथवा विरुद्धदिशि तस्य मुखं स्यात्, विपरीतं वा स्थापना भवेत्तदा तल्लिङ्गं परित्यज्य

43. तत्रैव 03, 13
44. प्रासादमण्डनम् अ. 08, श्लो.05
45. मयमतम् अ. 35, श्लो.23
46. तत्रैव श्लो. 24
47. तत्रैव श्लो. 25

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तत्स्थाने नियमपूर्वकं नूतनलिङ्गं स्थापयेत्। यथा[48]-

अधरोत्तरमज्ञानां मोहेन वाऽप्यन्यदाननयुक्तम्।
विपरीतं त्यजेत्सहसा उचितं यन्नवमन्यत्तत्रैव स्थापयेद्विधिना॥

एवमेव लिङ्गस्थापने अन्यदोषा अपि भवन्ति। तद् विषये मयमते कथितं यत्-

अत्रोचितलक्षणं तत् शून्यं तलं तु वा चाक्षम्।
अग्राह्यं क्षेत्रगतं यन्न तद्योग्यं सर्वथा त्याज्यम्॥

तत्रैवान्यलिङ्गं नवमुचितं स्थापयेद् विधिना।
चोरादुद्धृतकं तदन्तः पतितं चेत्पञ्चसन्धानम्।
तत्र तदेव स्थाप्यं निर्दोषे पूर्ववद् विधिना॥[49]

अर्थात् सर्वलक्षणोपेतमपि यदि लिङ्गं शून्यतलं अक्षयुतं वा स्यात् (अर्थात् उचिताकृतिहीनं स्यात् अथवा त्याज्यक्षेत्रे स्थितं स्यात्तदाऽपि तत् लिङ्गं स्थापनयोग्यं न भवति। तस्य लिङ्गस्य च परित्यागः करणीयः। तत्स्थाने नूतनलिङ्गं स्थापयेत्। यदि किमपि लिङ्गं चोरात् चोरितं, तत्तु पञ्चसन्धानान्तर्गतं पतितं तदा यदि लिङ्गं निर्दोषमस्ति तर्हि तत्रैव विधिना स्थाप्यम्। एवमेव चाण्डालशूद्रादिभिः स्पृष्टं लिङ्गं पूजनयोग्यं न भवति। यदि नदीतटे मन्दिररहितं लिङ्गं दृश्यते तदा तस्मात् स्थानात् पूर्वदिशि उत्तरदिशि वा नीत्वा शुभे स्थाने विधिपूर्वकं स्थाप्यम्। यथोपलभ्यते-

चण्डालशूद्रकाद्यैः स्पृष्टं च लिङ्गं तर्ह्ययोग्यकं शस्तम्।
नदीतीरं चेत् स्पृष्टं मन्दिररहितं तु लिङ्गम्।
पूर्वस्यामुत्तरतो नीत्वान्यस्मिन् शुभे देशे।
सुस्थापितञ्च लिङ्गं पूर्ववदेवानाय्य विधिनाऽपि॥
बेरं वाप्येवं तत्तद्युक्त्यान्यस्मिन्नवे देशे।
स्थाप्यं यदि निर्दोषं सर्वमनुक्तं तु तल्लिङ्गे॥[50]

अत्र स्थापनसमये ध्यातव्यं यद् यदि किञ्चिल्लिङ्गं द्वादशवर्षाधिकं पूजार्चना-रहितमस्ति तदा निर्दोषे सत्यपि तल्लिङ्गं त्यजेत्। यथा-

द्वादशवर्षादूर्ध्वं शून्यत्वं याति यल्लिङ्गम्।
तत्तन्निर्दोषं यदि नाग्राह्यमिदं वदन्ति केचिज्ज्ञाः॥

48. तत्रैव श्लो. 26
49. तत्रैव श्लो. 27-28
50. तत्रैव श्लो. 29-31

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शिलामयं तर्हयुदके निक्षिपेत् त्वरितं बुधः।[51]

अनेन प्रकारेण शिवलिङ्गस्थापना कार्या। अत्र प्रसङ्गवशाद् शिवलिङ्गप्रतिष्ठा-कालः विचार्यते। सामान्यदेवप्रतिष्ठामुहूर्तातिरिच्य श्रावणमासेऽपि शिवलिङ्गप्रतिष्ठा शुभा भवति। यथोक्तम्- श्रावणे स्थापयेल्लिङ्गमिति[52]। अत्र स्पष्टार्थं स्थापनामुहूर्त्तसारिणीं प्रस्तूयते-

अयनम्	उत्तरायणम्
चान्द्रमासः	पौषः, माघः, फाल्गुनः, चैत्रः, वैशाखः, ज्येष्ठः
पक्षः	शुक्लः
तिथिः	1,2,3,5,6,7,10,11,13 एवं 15
नक्षत्रम्	रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसुः, रेवती, पुष्यः, अनुराधा, श्रवणः, मूलम्, स्वाती, अश्विनी, चित्रा, मघा, उत्तरभाद्रपदा, उत्तराषाढा, उत्तराफाल्गुनी
वारः	सोमः, गुरुः, शुक्रः, बुधः
लग्नराशिः	वृषः, मिथुनः, सिंहः, कन्या, वृश्चिकः, कुम्भः, मीनः
उदयास्तविचारः	सोमबुधगुरुशुक्राणामुदयकालः
लग्नशुद्धिः	लग्नात् त्रिषडायेषु (3,6.11) सूर्यशनिभौमचन्द्रः शुभाः, अष्टमस्थानं ग्रहवर्जितं, षड्सप्तदशमस्थानानि (6,7,10) विहाय शुक्रः शुभः
योगायोगविचारः	➢ उत्तराषाढानक्षत्रं सोमवासरे शुभम् ➢ हस्ताश्विनीनक्षत्रे भौमवासरे विवर्जिते ➢ मृगशिरार्द्र्युत्तरानक्षत्राणि बुधवासरेण सह वर्जनीयानि ➢ श्रवणपुष्यनक्षत्रे शुक्रवासरेण सह विवर्जिते

51. तत्रैव 32-32
52. बृहद्वास्तुमाला

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

	➢ बुधवासरे द्वितीयातिथिः, गुरुवासरे षष्ठीतिथिः, एकादश्यां चन्द्रवासरः अशुभः ➢ सप्तम्यां तिथौ रेवतीनक्षत्रं प्रजाहानिं करोति। ➢ अन्धसंज्ञकनक्षत्राणि नपुंसकनक्षत्राणि च स्थापनकर्मणि वर्जनीयानि। ➢ धूलिवर्षणे, रक्तवर्षणे, मेघगर्जनसमये, उल्कापाते, दिग्दाहे, सूर्यचन्द्रयोः ग्रहणसमये, षडशीतिमुख-सङ्क्रान्तिकाले स्थापनकर्म न करणीयमिति।
विशेषः –	➢ होराद्रेष्काणनवांशादिवर्गेषु शुभग्रहाणां राशिः ग्रहणीयः

बालतरुणलिङ्गादिविमर्शः

शिवलिङ्गोद्धारकाले बालस्थापनस्य विधान[53] वर्तते। अत्रावधेयं यत् मूलशिवलिङ्गस्य शिवालयस्योद्धारकाले चालनं न करणीयम्। यतोहि उक्तमस्ति प्रासादमण्डने-

स्वस्थाने संस्थितं यच्च विप्रवास्तुशिवालयम्।
अचाल्यं सर्वदेशेषु चालिते राष्ट्रविभ्रमः।।[54]

अतः जीर्णोद्धारकाले शिवस्य पूजार्थं बालालये बाललिङ्गस्य उत वा तरुणालये तरुणलिङ्गस्य स्थापना क्रियते। तत्र अल्पावधिकपूजार्थं बाललिङ्गस्य स्थापना भवति। परन्तु दीर्घकालपर्यन्तं यस्य शिवालयस्योद्धारं सम्भाव्यते तत्र तरुणालये तरुणलिङ्गस्य स्थापनां क्रियते। परन्तु तरुणलिङ्गस्य पूजा अधिकाधिकं द्वादशवर्षपर्यन्तमेव भवति। तदधिके दोषावहो भवति। यथोक्तं मयमते-

यावत्संप्रार्थितार्थं तदुदयसमये मूलहर्म्यं प्रकल्प्य
तस्मिन्नुक्त्वा विधेयं सकलमपि वरं स्थापयेद् बालधाम्नि।
द्विः षट्संवत्सरान्तं तरुणभवनकं तद्वरं नेष्टमाद्यै-
रन्येषां कर्मणां स्यात्तदवधिरधिकं सर्वदोषप्रदं तत्।।[55]

---

53. आद्यारम्भे जीर्णभिन्ने हीनाङ्गानांकल्पते पातने च।
54. लिङ्गे बेरे स्फोटनाद्यङ्गहीने कुर्याद्बालस्थापनं पीठबन्धे।। मयमतम् अ. 35, श्लो.48
55. प्रासादमण्डनम् अ. 08, श्लो. 05

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तत्र मूलस्थानस्येशानोत्तरपूर्वयाम्यदिक्षु अपि बालस्थापन[56] कर्तु शक्यते। बालस्थापननिमित्तार्थ मूलस्थानतः चतुर्हस्तमानप्रमाणेनोत्तरदिशि बालस्थापनं करणीयम्। यथा मिलति मयमते[57]–

लयशशीलयपीठकरं चतुः त्रिचतुरंशकलाक्षरं तु वा।
गुणयुगेन्द्रियषण्मुनिहस्तकैः प्रवरमध्यमके तरुणालयम्॥

बालस्थापनादिविषये द्रव्यादिनिर्देशः

तरुणालयनिर्माणाय पाषाणलोहकाष्ठानां प्रयोगः क्रियते, परञ्च बालस्थापनाय सरल–कालज–चन्दन–सालक– खदिर– मारुद–पीपल–तिन्दुकादीनां काष्ठानां प्रयोगो भवति। यथा[58]–

उपलोहकुजे तरुणालयेष्वभिहितास्तरवोऽपि च बालके।
सरलकालजचन्दनसालका खदिरमारुदपिप्पलतिन्दुकाः॥

इदमेव द्रव्यं लिङ्गादिनिर्माणेऽपि प्रयोज्यं भवति।

बालतरुणयोः लिङ्गप्रमाणम्

बाललिङ्गस्योदयमानम् अर्थात् बाललिङ्गस्योच्छ्रितिः तद्गर्भस्योच्छ्रायमानस्यार्धं श्रेष्ठं भवति। गर्भस्योच्छ्रायमानस्य चतुर्थांशमानं यदि बाललिङ्गस्य स्यात्तदा अधममानमस्ति। अनयोः श्रेष्ठहीनयोः मध्ये यदन्तरं तस्मिन् अष्टभिर्भक्तं सति यन्मानं प्राप्यते तत्क्रमेण वारम्वारं अधममाने योजनेन अन्यमानानि प्राप्यन्ते। अनेन प्रकारेण अधममानतः श्रेष्ठमानपर्यन्तं बाललिङ्गस्य नवविधमानानि प्राप्यन्ते। यथा कल्प्यते–

गर्भगृहस्योच्छ्रायमानम् = 32 हस्तमितम्

तदा 32 ÷ 2 = 16 श्रेष्ठमानम्

एवमेव 32 ÷ 4 = 8 अधममानम्

ततः श्रेष्ठाधमयोरन्तरम् = 16 – 8 = 8

अस्य अष्टमांशः यदा क्रियते तदा 8 ÷ 8 = 1 हस्तमानम्

ततः प्राप्तमानम् अधममाने उत्तरोत्तरं योजनेन–

---

56. मयमतम् अ. 35, श्लो. 58
57. उद्धृतं मयमतं श्री कृष्णजुगनू सम्पादितम् पृष्ठ 418
58. तत्रैव श्लो. 49

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

1.	8		अधममानम्		
2.	8	+	1	=	9
3.	9	+	1	=	10
4.	10	+	1	=	11
5.	11	+	1	=	12
6.	12	+	1	=	13
7.	13	+	1	=	14
8.	14	+	1	=	15
9.	15	+	1	=	16

अनेन प्रकारेण अधममानतः श्रेष्ठमानपर्यन्तं बाणलिङ्गस्य नवविधमानानि जातानि। बाललिङ्गस्योच्छ्रायमनुसृत्यैव तत्परिधिः निर्मातव्या।[59]

तत्र तरुणलिङ्गस्यापि नवविधमानानि प्राप्यन्ते। पञ्चदशाङ्गुलमितम् अधममानं ततः क्रमशः16, 17, 18, 19, 20, 21, 22, 23 अङ्गुलपर्यन्तं नवविधमानानि सन्ति। मानमिदं तरुणलिङ्गस्य भूमेरन्तःस्थे तरुणलिङ्गसमुन्नत्यर्थं वर्तते। यथा[60]–

तिथिकराग्रजमादितयाङ्गुलाङ्गुलिविवर्धनया नवमानकम्।
तरुणलिङ्गसमुन्नतकर्तृवद् गुणयुगांशकमासनिवेशनम्।।[61]

तरुणलिङ्गस्योच्छ्रायमानं मूलप्रासादस्य मूलतलस्य सममपि भवितुं शक्यते। परञ्च तद्हीनं यदि भवेद् तदा तस्यार्धमानस्य प्रमाणतः हीनं न स्यात्। उक्तद्वयोः मानयोरन्तरं यदि अष्टभिः विभक्तं क्रियते तदा नवविधयोदयमानानि प्राप्तानि भवन्ति। यथोक्तं मयमते–

भवति मूलतलेतरतुङ्गकं सममुतार्धकमुत्तममाधमम्।
नवविधं वसुभागयुतेन्तरे तरुणलिङ्गसमुन्नतमीरितम्।।[62]

अनेन प्रकारेण जीर्णादिशिवलिङ्गानां विधिपूर्वकं न्यासेन कर्त्ता सुखादिकं प्राप्नोतीति।

59. तत्रैव अ.35, श्लो. 57
60. तत्रैव श्लो.51
61. तत्रैव श्लो.52
62. तत्रैव श्लो.53

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ग्रामविन्यासः

श्रीगणेशदत्तचतुर्वेदी

मयमतानुसारेण वसति विन्यासः पञ्चधा भवति ग्राम-खेट-खर्वट-दुर्ग-नगराणि च, एतेषां दण्डप्रमाणेन त्रयो भेदाः भवन्ति। हीनग्रामस्य (कनिष्ठग्रामस्य) मानं चतुरधिकषष्ठिदण्डतुल्यं भवति। मध्यमग्रामस्य मानं तस्य द्विगुणं (128 दण्डपरिमितं भवति) उत्तमग्रामस्य मानं त्रिगुणं अर्थात् (164×3=1929) दण्डतुल्यं भवति। यथा-

ग्रामः खेटः खर्वटमथ दुर्गं नगरमितिः च पञ्चविधम्।
दण्डैस्तेषां मानं वक्ष्येऽहं त्रि-त्रिभेदभिन्नानाम्॥
चतुरधिकषष्टिदण्डो ग्रामः स्याद्धीनहीनमिति कथितः।
ग्रामस्य मध्यमस्य द्विगुणं त्रिगुणं तथोत्तमं प्रोक्तम्॥[1]

अङ्गुलादिमानलक्षणम्

तादृशं ब्रीहित्रयदैर्घ्यवन्मानमङ्गुलमिति कथ्यते।

अङ्गुलद्वादशकस्य वितस्ति कथ्यते। वितस्ति द्वयस्य हस्तमानमिति कथ्यते। हस्तद्वयस्य धनुर्मुष्टिरिति ज्ञायते। धनुर्मुष्टिद्वयस्य दण्ड इति नाम। तादृशं दण्डद्वयं नृपदण्डमिति भवति। तादृशनृपदण्डद्वयस्य ब्रह्मदण्ड इति नामेव प्रसिद्धमस्ति। एतादृशं मानं वास्तुशास्त्रेषु शिल्पशास्त्रेषु च वास्तुशास्त्रस्य विद्वद्भिः कथितम्।[3] समराङ्गणसूत्रधारे मानप्रमाणं भिन्नरूपेण कथितम्[4] यथा-

8 अणुः = 1 रजकणः, वालाग्रः = 1 लिक्षा, यूका = 1 यवः, 24 अङ्गुलम् = 1 हस्तः (1.5)8 रजकणः = 1 वालाग्रः लिक्षा = 1 यूकाः 8 यवः = 1 अङ्गुलः (1.875 से. मी.) 4 हस्तः = 1 दण्डम् (6 फीटमितम्)

समराङ्गणसूत्रधारे त्रिविधं हस्तप्रमाणं कथितम्[5] - (1) उत्तमहस्तप्रमाणम् (2) मध्यमहस्तप्रमाणम् (3) अधमहस्तप्रमाणञ्च। अष्टावङ्गुलप्रमाणात्मकहस्तस्य संज्ञा "प्रायशः"। अयमेव उत्तमहस्तः।

---

1. मयमतम् 9/10-10
3. विश्वकर्मावास्तुशास्त्र 7/74-77
4. समराङ्गणसूत्रधार 9/4-5
5. तत्रैव 9/2-3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मध्यमस्य सप्ताङ्गुलप्रमाणात्मकहस्तस्य 'साधारणः' इति संज्ञाऽस्ति। षडङ्गुलप्रमाणात्मकहस्तस्य 'शयः' संज्ञास्ति। अयमेव अधमहस्तः।

अनेन प्रकारेण आचार्येण हस्तस्य भेदत्रयं कथितम्।[6] ग्रामपुरनगरादिनिवेशे उत्तमहस्तमानस्य प्रयोगः गृह्यते। यथा[7]–

विश्वकर्मावास्तुशास्त्रे कथितं यत् ग्रामपुरनगरादीनां चतुष्पथवीथी–वलभी–चत्वर–मनुजभवन–विपणि–निषद्या–मार्गशाला–सस्य–भूमीनाञ्च मापनं दण्डेन नृपदण्डेन वा क्रियते। तथैव ग्राम–गिरि–दुर्ग–वन–नदी–तटाक–नृपप्रासाद–राजभवन–शुद्धान्तादिभवनानामपि मापनं नृपदण्डेन देवभवनानां च मापनं ब्रह्मदण्डेन क्रियते।[8]

मयमतानुसारेण ग्रामस्य मानम्–

दण्डानां पञ्चशतं कोशं तद्द्विगुणमर्धगव्यूतम्।
गव्यूतं तद्द्विगुणं ह्यष्टसहस्रं तु योजनं विद्यात्॥

अष्टधनुश्चतुरस्रा काकणिका तच्चतुर्गुणं माषम्।
मासचतुर्वर्तनकं तत्पञ्चगुणं वाटिका कथिता।
वाटिकाया युगगुणिता ग्रामकुटुम्बावनिः श्रेष्ठाः॥[9]

पञ्चशत्दण्डानां कोशं भवति। तद्द्विगुणं (क्रोशस्य द्विगुणं) अर्धगव्यूतं मन्यते। अर्धगव्यूतस्य द्विगुणं गव्यूतं मन्यते। अष्टसहस्रदण्डानां योजनं भवति। अष्टधनो चतुरस्र मापं काकणिका भवति। काकणिकायाः चतुर्गुणं माषं भवति। माषस्य चतुर्गुणं वर्तनकं, तस्य पञ्चगुणं वाटिकासंज्ञकं मानं भवति। वाटिकायाः चतुर्गुणं ग्रामस्य एकपरिवारस्य विन्यासाय श्रेष्ठं मानं भवति।

मयमतानुसारेण मानस्य स्पष्टार्थचक्रम्–

---

6. तत्रैव 9/28–30
7. समराङ्गणसूत्रधार 9/31–33
8. विश्वकर्मावास्तुशास्त्र 7/80–84
9. मयमतम् 9/1–3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

500 दण्डाः = 1 क्रोशम्	2 क्रोशं = 1 अर्धगव्यूतः
2 अर्धगव्यूतौ = गव्यूतः	8000 दण्डः = 1 योजनम्
8 धनुः = चतुर्भजाकारकाकणिका	4 काकणिकाः = 1 माषः
4 माषः = 1 वर्तनकः	5 वर्तनकः = 1 वाटिका
4 वाटिका = ग्रामे कुटुम्बस्य विन्यासाय श्रेष्ठं भूखण्डं भवति	

ग्रामस्य मानम्

ग्रामस्य शतसहस्रैर्दण्डैः पर्यन्तमानमिदमुक्तम्।[10]

उत्तमग्रामस्य मानं शतसहस्रदण्डपरिमितं कथितम्। विंशतिसहस्रदण्डात् प्रारभ्य समसंख्यायां वृद्ध्या ग्रामस्य पञ्चविधमानं भवति। कनिष्ठ (हीन) ग्रामस्य मानं पञ्चाशद्दण्डपरिमितं भवति। पञ्चशतदण्डवृद्ध्या विंशतिसहस्रदण्डपरिमितं एकस्य कनिष्ठग्रामस्य मानं भवति।[11] अनेन प्रकारेण ग्रामस्य चत्वारिंशद् भेदाः भवन्ति। इदं ग्रामस्य मानमस्ति। ग्रामस्य दैर्घ्यं द्विसहस्रदण्डपरिमितं, सहस्रदण्डतुल्यं पञ्चशतदण्डपरिमितं च भवति ग्रामस्य विस्तारः दण्डात् नवशतं, सप्तशतं, पञ्चशतं, त्रिशतं भवति। नगरस्य विस्तारः सहस्रदण्डात् प्रारभ्य द्विसहस्रदण्डपर्यन्तं भवति। वसति विन्यासः पञ्चविधं भवति।[12] ग्राम-खेट-खर्वट-दुर्ग-नगराणि च पञ्चवसति विन्यासानि। प्रत्येकस्य भेदत्रयं भवति।[13]

ग्रामस्य मानम्

हीनग्रामस्य मानं 64 दण्डपरिमितं, मध्यमग्रामस्य मानं तस्य द्विगुणं 64×2=128 दण्ड-परिमितम्, उत्तमग्रामस्य मानं तस्य त्रिगुणं (64×3=192 दण्डपरिमितम्) भवति।[14]

खेटस्य मानम्

हीनखेटस्य मानं 256 दण्डपरिमितं, मध्यमखेटस्य मानं 320 दण्डपरिमितं तथा उत्तमखेटस्य मानं 384 दण्डपरिमितं भवति।[15]

---

10. मयमतम् 9/4
11. मयमतम् 9/5-6
12. मयमतम् 9/7-8
13. मयमतम् 9/9-10
14. मयमतम् 9/11
15. मयमतम् 9/12

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

खर्वटस्य मानम्

कनिष्ठखर्वटस्य मानं 448 दण्डपरिमितं मध्यमखर्वटस्य मानं पञ्चशतोत्तरद्वादश (512) दण्डपरिमितम्। उत्तमखर्वटस्य मानं 576 दण्डपरिमितं भवति।[16]

दुर्गस्य मानम्

कनिष्ठदुर्गस्य मानं 832 दण्डपरिमितं मध्यमदुर्गस्य मानं 704 दण्डपरिमित्तमुत्तमदुर्गस्य च मानं 768 दण्डपरिमितं भवति।[17]

नगरस्य मानम्

कनिष्ठनगरस्य मानं 832 दण्डपरिमितं, मध्यमनगरस्य मानं 896 दण्डपरिमितं तथा च उत्तमनगरस्य मानं 906 दण्डपरिमितं भवति।[18] षोडशदण्डवृद्ध्या प्रत्येकस्य नवभेदाः भवन्ति।

दानवराजमयेन ग्रामस्य अष्टभेदाः कथिताः-

दण्डकमपरं स्वस्तिकमितं उर्ध्वं प्रस्तारं चैव।
पश्चात् प्रकीर्णकं स्यान्नन्द्यावर्तं परागमथ पद्यम्॥
स्याच्छ्रीप्रतिष्ठितेनैवाष्टविधं ग्रामुदिष्टम्॥[20]

(1) दण्डकः (2) स्वस्तिकः (3) प्रस्तरः (4) प्रकीर्णकः (5) नन्द्यावर्तः (6) परागः (7) पद्यः (8) श्रीप्रतिष्ठितः।

विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे द्वादशभेदाः कथिता। यथा-

आद्यस्तु मण्डकग्रामः प्रस्तरस्तदन्तरम्।
बाहुलीकस्तृतीयस्तु पराकस्तु चतुर्थकः॥

चतुर्मुखः पञ्चमः स्यात् षष्ठः पूर्वमुखस्तथा।
सप्तमो मङ्गलग्रामस्तष्टमो विश्वकर्मकः॥

नवमो देवराडग्रामो विश्वेशो दशमो मतः।
एकादशस्तु कैलासो द्वादशो नित्यमङ्गलः॥

---

16. मयमतम् 9/13
17. मयमतम् 9/14
18. मयमतम् 9/15
20. मयमतम् 9/33-34

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इत्येवं द्वादशग्रामाः शिल्पशास्त्रे प्रकीर्तिताः।[21]

आद्यो मण्डकग्रामः। द्वितीयः प्रस्तरग्रामः। तृतीयो बाहुलिकग्रामः। चतुर्थः पराकग्रामः। पञ्चमश्चतुर्मुखग्रामः। षष्ठः पूर्वमुखग्रामः। सप्तमो मङ्गलग्रामः। अष्टमो विश्वकर्मग्रामः। नवमो देवेशग्रामः। दशमो विश्वेशग्रामः। एकादशः कैलासग्रामः। द्वादशो नित्यमङ्गलग्रामः। अनेन वास्तुशास्त्रे (शिल्पशास्त्रे) द्वादशविधग्रामाः कथिताः।

आचार्यामानानुसारेण ग्रामस्याष्टभेदाः सन्ति-

दण्डकं सर्वतोभद्रं नद्यावर्तं तु पद्मकम्।
स्वस्तिकं प्रस्तरं चैव कार्मुकं च चतुर्मुखम्।
एवं चाष्टविधं ग्रामं तत्तद्रूपेण संज्ञितम्।।[34]

दण्डक-सर्वतोभद्र-नन्द्यावर्त-पद्मक-स्वस्तिक-प्रस्तरकामुकचतुर्मुखा एते अष्टग्रामाः सन्ति। सर्वेषां ग्रामाणां मानदृष्ट्या अनेकभेदाः भवन्ति। प्रथमदण्डकग्रामस्य त्रयः भेदाः सन्ति। क्षुद्रदण्डकः, मध्यमदण्डकः उत्तमदण्डकश्च।

क्षुद्रकदण्डकस्य नवत्रिंशद्भेदाः सन्ति। अस्य दैर्घ्यं पञ्चविंशतिदण्डात् प्रारभ्य द्वि-द्विदण्ड-वृद्ध्या एकाधिकशतदण्डपर्यन्तं नवत्रिंशद्भेदाः भवन्ति।[35]

मध्यमदण्डकग्रामस्य दैर्घ्यं एकत्रिंशत्दण्डात् प्रारभ्य 107 दण्डपर्यन्तं द्वि-द्विदण्डवृद्धयसप्तषष्ठि (67) भेदाः भवन्ति।[36]

उत्तमदण्डकग्रामस्य दर्घ्यं सप्तत्रिंशद्दण्डात् प्रारभ्य द्वि-द्विदण्ड-वृद्ध्या पञ्चचत्वारिंशद् भेदाः भवन्ति। अयन्तु ब्राह्मणानां निवासायोपयुक्तो वर्तते-

एतत्तु दण्डकं प्रोक्तं भूसुराणां तु योग्यकम्।[37]

शिल्परत्ने ग्रामस्य अष्टभेदाः कथिताः-

दण्डकः स्वस्तिकश्चैव प्रस्तरश्च प्रकीर्णकः।
नन्द्यावर्तः परागश्च पद्मकः अप्रतिष्ठितः।

---

21. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र 7/6-9
34. मानसार भाग-3, 9/1-2
35. मानसार 9/5-7
36. तत्रैव 9/8-9
37. तत्रैव 9/11

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ग्रामादीनां तु सामान्यं विन्यासत्वष्टधा स्मृतः।।[38]

ग्रामविन्यासे वासविचारः

गृहे, नगरे (पुरे), ग्रामे, वेश्मनि सर्वत्र च देवानां स्थानानि परिकल्पितानि। यथा गृहे वास्तुनरस्य परिकल्पना कृता तथैव नगरे ग्रामे च कार्या। तत्रापि च यानि मर्माणि तानि प्राग्वच्चिन्तनीयानि। तेषु नगर-ग्रामेषु ब्राह्मणाद्या-वर्णा (ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा) यथाक्रमं कल्पनीयाः। यत्र दिग्भागे यस्योचितं तत्र वासयेदित्यर्थः।

ग्रामे नगरे वा ब्राह्मणानामुत्तरस्यां दिशि वासगृहाणि[39] कार्याणि, पूर्वस्यां क्षत्रियाणाम्, दक्षिणस्याम् वैश्यानां, पश्चिमायां शूद्राणामिति। यथा प्राङ्मुखस्य गृहास्यद्वारमुत्तराभिमुखं कार्यम् दक्षिणभिमुखस्य प्राङ्मुखम्, पश्चिमाभिमुखस्य दक्षिणाभिमुख उत्तराभिमुखस्य पश्चिमाभिमुखमिति।[40]

उत्तमादिग्रामे ब्राह्मणानां संख्या- यस्मिन् ग्रामे ब्राह्मणानां द्वादशसहस्रसंख्यास्ति स ग्रामः श्रेष्ठः कथ्यते। मध्यमग्रामे दशसहस्रं तथा च कनिष्ठग्रामे अष्टसहस्रसंख्या भवति। मध्यमोत्तमे ग्रामे ब्राह्मणानां संख्या सप्तसहस्रं भवति मध्यमस्य मध्यमग्रामे षट्सहस्रं तथा मध्यमस्य अधमग्रामे पञ्चसहस्रसंख्या वर्तते। अधोत्तमग्रामे ब्राह्मणानां संख्या चतुःसहस्रं, अधोसमं ग्रामे त्रिसहस्रं तथा अध माधमग्रामे एकसहस्रं संख्या भवति। नीचोत्तमग्रामे ब्राह्मणानां सहस्रसंख्या भवति। नीचमध्यमग्रामे सप्तशतं तथा नीचाल्पग्रामे ब्राह्मणानां संख्या पञ्चशतं भवति। ब्राह्मणानां वासदृष्ट्या क्षुद्रकग्रामस्य दशभेदाः सन्ति। एषु ग्रामेषु यथाक्रमेण ब्राह्मणानां संख्या 800, 1600, 2400, 84, 64, 50, 32, 24, 16, 12 भवति एवंविधक्षुद्रग्रामस्य भेदाः सन्ति।[41] यस्मिन् ग्रामे ब्राह्मणस्य एकपरिवारो वसति स ग्रामः कुटिकसंज्ञकनामकग्रामः वा एकभोगनामक ग्रामः कथ्यते।

ग्रामस्य दक्षिणभागे गोशाला तथोत्तरभागे पुष्पवाटिका तथा पूर्व-पश्चिमद्वारसमीपे तापसानां वासः कार्यः। जलाशय-वापी-कूपाश्च ग्रामस्य सर्वत्रभागेषु कार्या, वैश्यानां वासः दक्षिणदिशि तथा शूद्राणां ग्रामस्य परितः कुर्यात्। पूर्वोत्तरदिशायां (दिशि) कुलालानां नापितानां तथा अन्यत्कर्मोपयुक्तानां वासः कल्पनीयः।

मत्स्योपजीविनां (मछुआरा) वासः ग्रामस्य वायव्यदिशि भवेत् तथा च पश्चिमदिशि मांसैः उपजीविनां निवासः कल्पनीयः। तैलोपजीत्रिनां (तेलियो) वासः ग्रामस्य उत्तरदिशि चिन्तनीयः।[42]

---

38. शिल्प
39. बृ. सं. 53/67
40. बृ. सं. 53/68
41. मयमतम् 9/25-30
42. तत्रैव 9/87-91

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ग्रामेषु गृहस्य लक्षणम्

ग्रामेषु गृहस्य दैर्घ्यं त्रि, पञ्च, सप्त तथा नवधनुप्रमाणतुल्यं भवति। गृहस्य विस्तारः दैर्घ्यात् क्रमशः द्वि-द्वि दण्डं वर्धयेत् यावत् द्विगुणावधिकं न भवति।[44]

ग्रामात् किञ्चिद्दूरं आग्नेयकोणे अथवा वायव्यकोणे स्थपतीनां निवासः कार्यः। शेषाणामपि तत्र कर्तव्यम्। तस्मात् किञ्चिद्दूरे रजकस्य निवासः कुर्यात्। ग्रामस्य क्रोशमात्रदूरे पूर्वदिशि चाण्डालस्य निवासं कुर्यात्। ग्रामस्य पूर्वोत्तरदिशि पञ्चशद् दण्डैः दूरं श्मशानस्थलं (अन्त्येष्टिक्रियास्थानम्) स्थापयेत्।[45]

गृह-ग्राम-पुराणां चतुर्षु कोणेषु ऐशान्यां चरकी, आग्नेयां विदारि, नैर्ऋते पूतना, वायव्ये राक्षसी च निवसन्ति। अतः एषु कोणेषु सामान्यजनानां निवासे दोषाः भवन्ति परन्तु एषु कोणेषु श्वपचादयः अन्त्यज-चर्मकार-प्रभृतयः वृद्धिमाप्नुवन्ति।[46]

ग्रामेषु वीथिविधानम्

सर्वेषां ग्रामाणां बहिः अन्तश्च मङ्गलवीथ्यावृताः ग्रामस्य मध्यभागे (ब्रह्मस्थाने) देवालयं अथवा पीठं (चबूतरा) स्थापयेत्। मार्गस्य दैर्घ्यं एक, द्वि, त्रि, चतुर्भिः, पञ्चभिः कार्मुकं (धनुपरिमितं) भवति। ग्रामस्य मध्यवीथी ब्राह्मवीथी कथ्यते। सैव ग्रामस्य नाभिरूपेण ज्ञायते।[47]

ग्रामावृता वीथी मङ्गलवीथिसंज्ञकं तथा पुरावृता वीथी जनवीथिसंज्ञकं भवति। द्वयोः वीथ्योः संज्ञा रथ्यावीथी प्राचीनाचार्यैः कथिता।[48]

ग्रामेषु द्वाराणि

ग्रामस्य द्वारं भल्लाट-महेन्द्र-राक्षस-पुष्पदन्तपदेषु स्थापयेत्-तत्र चत्वारः जलमार्गा अपि भवन्ति। जलमार्गस्य वास्तुपदानि वितथ-जयन्ताः सुग्रीवः मुख्याः एते चत्वारः सन्ति। तथा भृशाः-पूषा, भृङ्गराज-दौवारिक-शोष-नागादिव्यादीनां पदषु उपद्वारं भवति। एतेषां वास्तु उपद्वाराणां विस्तारः त्रि, पञ्च, सप्त-हस्त प्रमाणेन भवति। एतेषां उपद्वाराणां यो विस्तारः तस्माद् द्विगुणं, सार्द्धगुणं, वाङ्ग्रिहीनं उच्छ्रेयं भवति। सर्वेषां ग्रामन् परितः परिखाः (खाई) सुरक्षादृष्ट्या निर्मातव्यं तथा वप्र अपि निर्मेयुः।[49]

---

44. मयमतम् 9/91-92
45. तत्रैव 9/91-92,95-98
46. बृ. सं. 53/81-82
48. तत्रैव 9/39
49. मयमतम् 9/57-60

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

नद्याः दक्षिणभागे ग्रामस्य विन्यासः प्रशस्तो वर्तते। एकाशीतिपदवास्तुविन्यासे तथा च चतुःषष्ठिपदविन्यासे ग्रामस्य मध्यभागः ब्रह्मक्षेत्रं, ततः परं दैवक्षेत्रं कथ्यते। तत्पश्चात् मानुष एवं पैशाचक्षेत्रस्य सङ्कल्पं कुर्यात्। दैवं मानुषक्षेत्रे ब्राह्मणः निवासं कुर्यात् तथा च कर्मोपजीविनां गृहस्य निर्माणं पैशाचक्षेत्रे वा ब्राह्मणगृहस्य निर्माणं अपि कर्तव्यम्। पूर्वादिदिक्षु क्रमानुसारेण देवालयं स्थापयेत्।[50]

ग्रामनिर्माणे गर्भविन्यासः

ग्रामादीनां च सर्वेषां गर्भविन्यासमुच्यते।
सगर्भं सर्वसमत्यै विगर्भं सर्वनाशनम्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गर्भं सम्यग्विनिक्षिपेत्।।[51]

सर्वेषां गृह-ग्राम-पुर-नगरादीनां विन्यासे गर्भविन्यासमवश्यमेव करणीयम्। गर्भयुक्तविन्यासः सर्वसम्पत्तिदायकः तथा गर्भहीनविन्यासः सर्वविनाशस्य कारणं भवति। अत एव प्रयत्नपूर्वकं सम्यगूरूपेण गर्भविन्यासं कुर्यात्।

गर्भविन्यासे निक्षेपवस्तूनि

मृत्तिका-कन्द (मूल-जड़)-लौहपात्रस्थिताम्रं-धातु इन्द्रनीलादिरत्नादिकं गर्भविन्यासस्य द्रव्याणि सन्ति। एतानि द्रव्याणि दोषहीनानि भवेयुः।[52] बृहद्वास्तुमालायामनेन प्रकारेण कथितम्-

मृदिष्टका-स्वर्ण-रत्न-धान्य-शैवालसंयुतम्।
ताम्रपात्रस्थितं सर्वं खातमध्ये नियोजयेत्।।[53]

ग्रामविन्यासे चतुषष्टिपदविभागः कुर्यात्-

यः पुनः स्याच्चतुः षष्ठिपदस्तेन विभाजयेत्।
नरेन्द्राशीविरग्रामखेटादि नगरादि च।।[54]

चतुषष्ठिपदस्य विन्यासः भूपालशिविरस्य स्थापने ग्राम-खेट-पुर-नगरादिविन्यासे च क्रियते। ग्रामनिर्माणे चतुषष्ठिपदस्य विन्यासं कुर्यात्। सूर्यपदे गर्ते जलं पूरयित्वा मृत्तिकां न्यसेत्, तत्पश्चात् अन्नोपरि ताम्रपात्रं विधेयम्। ताम्रपात्रस्य विस्तारः पञ्चधा कथितः। एतेषां प्रमाणं चतुर्दश, द्वादश, दश,

50. तत्रैव 9/61-63
51. तत्रैव 9/101-102
52. तत्रैव 9/103
53. बृ. वा. माला श्लो. 143
54. समराङ्गणसूत्रधार 13/5

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अष्ट अथवा चतुरङ्गुलतुल्यं भवेयुः। ताम्रपात्रस्य उच्छ्रेयो विस्तारतुल्यः भवेत्। तत्र पञ्चविंशति अथवा नवकोष्ठकाः भवेयुः। उपपीठपदे (पञ्चविंशतिकोष्ठकताम्रपात्रे) वास्तुदेवानां स्थानं दद्यात्। सूर्यस्य कोष्ठे रजतनिर्मित वृषस्य तथा इन्द्रपदे सुवर्णनिर्मितेद्रस्य मूर्तिं स्थापयेत्।[55]

यमस्य पदे ताम्रनिर्मितयमराजस्य मूतिं, वरुणपदे रजतनिर्मितवरुणस्य मूर्तिं स्थापयेत्। सोमपदे श्वेतवर्णस्य (रजतमय) अश्वः तथा रजतनिर्मितगजं स्थापयेत्। ईशपदे पारपं, अग्निपदे त्रपु (टिन), निर्ऋतिपदे सीसं स्थापयेत्। समीरणपदे सुवर्ण, जयन्तपदे सिन्दूरं, भृशपदे हरितालं तथा वितथपदे मनः शिलां (मैनशीक) स्थापयेत्। भृङ्गराजपदे माक्षिकं सुकन्धरपदे जलावर्त शोषपदे गैरिकं (गेरु) तथा मुख्यपदे अञ्जनं स्थापयेत्। अदिति पदे रक्तवर्णस्य ताम्रपात्रं, चतुष्पदे लोकानाथानां अनेन प्रकारेण स्थापयेत् यत्तेषां मुखं आभ्यान्तरं भवेत्।[56] आपवत्सपदे मुक्ता (मोती) सवितापदे पुष्परागं तथा विवस्वानपदे वैडूर्यं स्थापयेत्। इन्द्रजयपदे वज्रं (हिरकं) मित्रकपदे इन्द्रनीलं, रुद्रराजपदे महानीलं, महीधरपदे मरकतं च स्थापयेत्। मध्यमे पात्रस्य मध्ये पद्मरागं विन्यसेद् सर्वाणि रत्नानि धातवश्चैव् स्व-स्त्रस्थाने स्थापयेत्। देवानां स्थानं विधिपूर्वक कृत्वा रत्नानि स्थापयेत्। चतुर्दिक्षु सुवर्णं, आयसं, ताम्रं रौप्यं च स्वस्तिकानि स्थापयेत्।[57]

ब्रह्मस्थानाद् बहिः पूर्वादौ सुवर्णसहितेन शालिं, रुप्येण गेन ब्रीहिं, आयसेन सह कोद्रवं स्थापयेत्। त्रपु (टिन) सहितेन कङ्कं (कंगुनी), सीसेन सह माषं, तिलेन सह वैकृतं (पारा) मुद्गेन सह (मूंग) सहितं आयसं, कुलत्थेन सह ताम्रं स्थापयेत्। प्रथमे बलिं दत्त्वा तत्पश्चात् उपर्युक्तपदार्थान् पात्रे संस्थापयेत्। द्वारस्य दक्षिणभागे पुष्पदन्ते, भल्लाटे, महेन्द्रे एवं गृहक्षतपदे अथवा विष्णुस्थाने (मन्दिरे) लक्ष्मीस्थाने, स्कन्दस्थाने तथा ग्रामस्य रक्षणार्थं तथा सर्वकामाभिवृद्ध्यर्थं गर्भविन्यासः करणीयः। आदौ गर्भविन्यासं कुर्यात् तदा तदुपरि मूर्तिं स्थापयेत्।[58]

विन्यासदोषाः

चाण्डालचर्मकारश्मशानतोयाशयापयानश्च।
देवगृहविश्वकोष्ठग्रामावृतदेशमार्गपरिवृत्तिः।।[59]

यदि चाण्डालचर्मकारयो आवासः, श्मशानस्थानं, जलाशयः, देवालयः, विश्वकोष्ठ, (पदार्थानां संग्रहस्थली) ग्रामं परितः परिवेशः, ग्रामं परितः मार्गः, यथोचितं स्थानं न भवेयुः तदा तस्य परिणामं कष्टकारकं भवति।

55. मयमतम् 9/104,106,107
56. तत्रैव 9/108-113
57. मयमतम् 9/114-117
58. तत्रैव 9/118-126
59. तत्रैव 9/99

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अन्यच्च-

व्यसनं ग्रामविनासो नृपभङ्गो भवति मरणं च।
देवालयान्तरापणशून्यत्वं शोध्यसञ्चयं चापि॥
मार्गेऽशुद्धक्षेपणमीदृग ग्रामस्य शून्यतादायि॥[60]

उपर्युक्तकारणेन ग्रामस्य विनाशं भवति। राज्ञः हानिः (मरणं) भवति। देवालयानां, आपणानां शून्यत्वं शोध्यसञ्चयं (कूड़ासञ्चयं) तथा मार्गे अशुद्धवस्तूनां (कूड़ा आदि) क्षेपणं ग्रामस्य शून्यतां ददाति।

ग्रामेषु प्रासादस्थानानि

वास्तुक्षेत्रस्याभ्यन्तरे देवानां स्थापनं कुर्यात्। ग्रामस्य बाह्ये अथवा आभ्यन्तरे स्वेच्छापूर्वकं शिवालयस्य स्थापनं कुर्यात्। भृङ्गराजे अथवा अग्निपदे विनायकस्य मन्दिरं स्थापयेत्। ईशे, सोमे अथवा अन्यपदेषु शिवमन्दिरं स्थापयेत्।[61] सूर्यपदे सूर्यस्य मन्दिरं, अग्निपदे कालिकायाः मन्दिरं, भृशपदे विष्णुमन्दिरं तथा यमपदे कार्तिकेयमन्दिरं स्थापयेत्। भृशे, मृगे अथवा नैर्ऋत्ये केशवस्य मन्दिरं, सुग्रीवे अथवा पुष्पदन्तस्य पदे गणाध्यक्ष (गणेश) मन्दिरं स्थापयेत्। आर्यकस्य भवनं नैर्ऋत्यकोणे, विष्णोः देवालयं वरुणपदे स्थापयेत्।

वायोः पदे मदिरालयं, मुख्यपदे कात्यायनीमन्दिरं, सोमपदे कुबेरस्य मन्दिरं अथवा मातृदेवानां देवालयं स्थापयेत्। शिवमन्दिरं ईशे, पर्जन्ये अथवा जयन्तपदे स्थापयेत्। कुबेरस्य मन्दिरं सोमे अथवा शोषपदे स्थापयेत्। तत्रैव गणेशस्य मन्दिरमपि स्थापयेत्। अदितिपदे मातृदेवीनां तथा मध्ये विष्णोर्मन्दिरं स्थापयेत् तत्रैव सभामण्डमपि निर्मातव्यम्।[62] सभास्थलं ब्रह्मपदे अथवा ईशाने आग्नेयकोणे वा स्थापयेत्। विष्णुमन्दिरं उत्तर-पश्चिमभागे अथवा दक्षिणभागे निर्मातव्यम्।[63] ग्रामादिविन्यासे शिवस्य स्थानं पूर्वाभिमुखं अथवा पश्चिमाभिमुखं शुभदं भवेत् परन्तु विष्णुस्थानं सर्वदिक्षु शुभं भवति। शेषदेवगणाः पूर्वाभिमुखं, मातृणामुत्तरमुखं, सूर्यमन्दिरस्य द्वारं पश्चिमाभिमुखं निर्मातव्यम्। पुरादिषु देवालयानां निर्माणं गृहनिर्माणात् पूर्वं करणीयम्।

---

60. मयमतम् 9/100
61. तत्रैव 9/57-58
62. तत्रैव 9/67-69, 71-73
63. मयमतम् 9/74
64. तत्रैव 9/75

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दौवारिकः देवताः

ग्रामविन्यासे चण्डेश्वरः, कुमारः, धनदः, काली, पूतना, कालीसुतः, तथा खड्गी इमे सर्वे देवाः दौवारिकाः (द्वारपालाः) कथिताः।[64]

देवालयनिर्माणस्य वर्ज्यस्थानानि

वास्तुमण्डलस्य हृदये वंशस्थाने, शूले, सूत्रे, सन्धिस्थले, कर्णसिरायां च एतेषु षट्स्थानेषु देवालयस्य निर्माणं न करणीयम्।[65]

पुराणेषु ग्रामादिरचना

इतिहासपुराणेषु ग्रामादिविषयकं विवरणं अनेकेषु प्रसङ्गेषु वर्णितं दृश्यते। समराङ्गणसूत्रधार-ग्रन्थस्याध्ययनेनेदं ज्ञायते यत् नगरं, मन्दिरं, दुर्गं, पुष्करं च राज्ञादीनामेवाधीनत्वेन भवति। राजा यत्र निवासं करोति तन्नगरमेव राजधानीति कथ्यते। शाखा नाम नगरम्। कर्वटं नाम नगरसदृशं किञ्चित् विशालं नगरं भवति। कर्वटाद् किञ्चिद् किञ्चिद् ऊनमविकसितं निगम उच्यते। निगमात् किञ्चिद् ऊनमविकसितं ग्रामशब्देनोच्यते। गृहाणां समूहः ग्रामशब्देनोच्यते। यत्र गावः निवसन्ति तत् गोष्ठकम् उच्यते। उपस्थानं भवेद् राज्ञा यत्र तत् पत्तनमिति कथ्यते। यत्र कुटिकां विधाय वासः क्रियते पत्र-शाखा-तृणोपलैः तन्नाम कुटिका। पुलिन्दाः कुर्वते वासं तन्नाम पल्ली इति। नगरं वर्जयित्वा अन्यत् सर्वं जनपदशब्देन बोध्यते। नगरेण समं कृत्स्नं राष्ट्रं देशोऽथ मण्डलं कथ्यते। गृहमेव आवासः सदनं सद्मनिकेतमन्दिरमिति कथ्यते। गृहस्योपरि या भूमिः भवति तन्नाम हर्म्य इति परकीर्तितम्। तस्यारोहणमार्गे सोपानमिति कथ्यते। अनेनेदं स्पष्टं भवति यत् ग्रामशब्दोऽयं पुरनगरयोरेकमविकसितं स्वरूपम्। पुराणेषु पुण्यमयस्य ग्रामत्रयस्योल्लेखः द्रष्टुं शक्यते।

सप्तपुर्यस्त्रयो ग्रामा नवारण्या नवोषशः।
चतुर्दशानि गुह्यानि युक्तिद्वाराणि भूतले।।[66]

पुराणेषु कालग्रामस्य, शालग्रामस्य तथा नन्दिग्रामस्य च महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते। एनमतिरिच्य हिमालयनिकटे स्थितस्य कलापग्रामस्यापि चर्चा पुराणेषु वर्तते। पुराणेषु सम्भलग्रामस्यापि चर्चा दृश्यते यत्र भगवतः विष्णोः कल्कि-अवतारः भविष्यति। श्रीमद्भागवतस्य व्याख्यायां श्रीधरस्वामिना प्रोक्तं यद् ग्रामाः हट्टादिशून्याः। तत्रः तेन पुर-पत्तन-खेट-खर्वटादीनामपि लक्षणं प्रदत्तम्। खेटाः कर्षकग्रामाः। खर्वटः पर्वतप्रान्तग्रामाः। मार्कण्डेयपुराणे ग्रामस्य लक्षणं द्रष्टुं शक्यते-

---

65. तत्रैव 9/86
66. उद्धृत्य वास्तुशास्त्रविमर्शः पृ. 257
67. मारकण्डेयपुराण अवन्ती क्षेत्रम् 45/3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तथा शुद्धजलं प्राप्या सुसमृद्धं कृषीवला।
क्षेत्रोपभोगभूमध्ये वसतिभूमिसंज्ञिता।।[67]

अनेनेदं स्पष्टं लक्ष्यते यत् पुराणकाले ग्रामेषु शुद्धसंस्कारयुक्ताः जनाः तिष्ठन्तिस्म। ग्रामेषु कृषिः उत्कृष्टा जायते। क्षेत्राणि उर्वरकानि भवन्ति। मार्कण्डेयपुराणे एकस्मिन् स्थले खेटखर्वटादीनामपि निर्देशः कृतः वर्तते। पुराणेषु ग्रामः, जनपदस्य एकं भागं मत्वा देशविभागसम्बन्धितो विचारः अपि क्रियते। अस्य विषयस्य प्रमाणं सहस्यादिखण्डे प्राप्यते यत्र ग्रामसंख्यानुसारेण देशमण्डलादीनां लक्षणं वर्णितं वर्तते।

शतग्रामो भेवेद्देशो देशश्चत्वारि मण्डलम्।
शतमण्डलं भवेत् खण्डम्।।[68]

अत्र देशस्य मूले ग्रामस्य सत्ता स्वीकृता। ग्रामस्य नामकरणविषये एकमसाधारणं तथ्यं मिलति–

यस्मिन् ग्रामे निवासो यो यत् संज्ञश्च वणिग् भवेत्।
तस्य ग्रामस्य तन्नाम ह्यभवत् पृथिवीपते।।[69]

यस्मिन् ग्रामे यः वणिकः अस्ति। वणिकस्य नाम्नः तस्य ग्रामस्य नाम भविष्यति। पुराणेषु मानवसमाजस्य तस्याः अवस्थायाः चित्रणमस्ति। पुरा समाजे ग्रामपुरदुर्गादीनां सुष्ठु व्यवस्था नासीत् वैवस्वतमन्वन्तरे एव पुरग्रामादीनां व्यवस्था अभवत्।

न हि पूर्वं विसर्गे वै विषमे पृथिवी तले।
संविभागः पुराणां वा ग्रामाणां वाऽभवत् तदा।।

न शस्यति न गोरक्ष्यं न कृषिर्न वणिक् पथः।
वैवस्वतेऽनन्तरे तस्मिन् साम्प्रतं समुपस्थिते।।

वैन्यात् प्रभृति भो विप्रोः सर्वस्यै तस्य सम्भवः।[70]

खर्वटस्य ग्रामस्य च लक्षणं विष्णुपुराणस्य श्रीधरीटीकायां समुट्टङ्कितं वर्तते–

एकतो यत्र तु ग्रामो नगरं चैकतः स्थितम्।
मिश्रं तु खर्वटं नाम नदीगिरे समाश्रयम्।।

---

68. समराङ्गणसूत्रधारे नगरादिसंज्ञानाम् अ. 18 पृ. 97
69. उद्धृतं वास्तुशास्त्रविमर्शः षष्ठपरिच्छेदः पृ. 258
70. श्रीमद्भागवतम् श्रीधरस्वामी भाष्यम् 4.18.13 उद्धृत च वास्तुविमर्शः षष्टपरिच्छेदः पृ. 258

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

विप्राश्च विप्रभृत्याश्च यत्र चैव वसन्ति ते।
स तु ग्राम इति प्रोक्तः शूद्राणां वास एव च॥[71]

पुराणयुगं नगराणां संरक्षणार्थं ग्रामाः नगरवद् कृताः –

कच्चिन् नगरगुप्तर्थं ग्रामा नगरवत् कृताः।
ग्रामवच्च कृताः प्रान्ताः ते च सर्वे तत्त्वदर्पणाः॥[72]

ग्रामस्य पूर्वे ब्राह्मणाः, दक्षिणे क्षत्रियाः, उत्तरे शूद्राः वासं कुर्युः। ग्रामस्य मध्ये वैश्याः तथा वणिकानां वासव्यवस्था कार्या। ईशानकोणे रङ्गकाराः, कुविन्दः, रजकाः, अग्निकोणे अग्निजीविनः सुवर्णकारलौहकाराणां निवासव्यवस्था कार्या। नैर्ऋत्यकोणे अन्त्यज, चर्मकारः, बुरुडाः, शौण्डिकाः, म्लेच्छादीनां वासव्यवस्था कार्या। व्याधादीनां निवासव्यवस्था वायव्यदिशि कुर्यात्। वापीकूपतडागादीनां पश्चिमे, उत्तरे च विन्यासः कुर्यात्।

ग्रामविन्यासे आयादिगणनाविचारः

आयादि विन्यासे शुभायः ग्रहणीयः। शुभाय हेतु प्रमाणदण्डसम्मतभूखण्डे यदि विसङ्गतिं आगच्छति तदा दण्डप्रमाणं योजनीयं अथवा न्यूनं कुर्यात्। शुभायेव सम्पत्तिकारकं भवति। यथा –

'आयादि सम्पदर्थं वृद्धिहानिं च यष्टिभिः कुर्यात्'[73]

भवननिर्माणाय भूखण्डस्य क्रयणार्थं प्रथमं चिन्तनीयं भवति यत् भूखण्डोऽयं मार्गे स्थितः अस्ति अथवा नास्ति। यस्य चतुष्कोणे युक्तस्य भूखण्डस्य अग्रे चतुर्दिशिपर्यन्तं मार्गाः भवन्ति तद् ब्रह्मस्थलमित्युच्यते। एतस्मिन् स्थले निवसतां जनानां सुखं, स्वास्थ्यं, सम्पत्तिश्च, सदैव वृद्धिकरी भवति।

---

71. उद्धृतं वास्तुविमर्शः षष्टपरिच्छेद पृ. 258
72. मारकण्डेयपुराणम् 49.47 उद्धृतं वास्तुविमर्शः पृ. 258
73. मयमतम् 9/18

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मनुष्यालयचन्द्रिका ग्रन्थविमर्शः

श्रीदीपकवशिष्ठः

वास्तुशब्दस्याभिप्रायः निवासोपयुक्तं स्थानं भवति। अयं शब्दः "वस्" निवासे धातोः "तुण्" प्रत्ययेन निष्पन्नो भवति। यत्र निवासो भवति तदैव वास्तु। वास्तोः वास्तुशास्त्रस्य च परम्परा वैदिककालादेवास्ति। ऋग्वेदे अथर्ववेदे च वास्तुशास्त्रस्य स्थापत्यकलायाः वा सम्बद्धाः मन्त्राः संदृश्यन्ते येन तत्कालीनप्रोन्नतशिल्पव्यवस्थायाः दिग्दर्शनं भवति। वेदेषु गृह-दुर्ग-पुर-भवनसम्बद्धसंकेतेन वास्तुविकासस्य प्रोन्नतं ज्ञानं भवति।

वास्तुशास्त्रमत्यन्तं प्राचीनमस्ति। ऋग्वेदेऽस्य विषयकमन्त्राः तत्कालीनप्रोन्नताशिल्पव्यवस्थायाः परिचयं ददति। अथर्ववेदस्य उपवेदत्वेन स्थापत्यवेदः परिगण्यते। तत्र वास्तुशास्त्रे सामान्यजनात् नृपपर्यन्तं सर्वेषां कृते स्थानादिचयनाद्गृहप्रवेशपर्यन्तं वास्तुविषयनियमाः सिद्धान्ताश्च निर्देशिताः सन्ति। तत्र वास्तुशास्त्रस्य मानकग्रन्थेषु एते निबद्धाः सन्ति तेषां विश्वकर्मप्रकाश-मयमतप्रभृतयः ग्रन्थाः प्रमुखाः सन्ति।

अस्मिन् क्रमे एकः महत्वपूर्णः ग्रन्थः "मनुष्यालयचन्द्रिका" अस्ति। अस्य प्रणयनं दक्षिणभारतस्य केरलप्रदेशे राजाश्रये अभवत्। ग्रन्थेऽस्मिन् अधिकांशश्लोकाः मौलिकाः न भूत्वा तन्त्रसमुच्चयतः, मानववास्तुलक्षणतः, देवालयचन्द्रिकातः उद्धृताः सन्ति। "चन्द्रिका" शब्दस्य रचना चन्द्र+ठन्+टाप् इति शब्देन जातास्ति। अस्यार्थः चन्द्रप्रभा, ज्योत्स्ना वा।

शुभलक्षणरहितस्थाने निवासेन सर्वदा अशुभतायाः रुग्णतायाश्च आशङ्का भवति अतः निवासस्थानं सर्वदा शुभं भवेत् यथोक्तम्–

लक्षणहीने धाम्नि वसतामशुभानि सम्भवन्त्येव।
जन्माद्यवसानान्तं मनसा निश्चित्य कारयेत् तस्मात्॥[1]

वास्तुशास्त्रानुसारेण भवनानां प्रासादानाञ्च निर्माणं कथं करणीयम् एवञ्च वास्त्वाधारीकृत्य निर्मिते भवने प्रासादे वा किं वैशिष्ट्यं वर्तते एषां चिन्तनं ग्रन्थेऽस्मिन् वर्तते। केरलादिप्रदेशेषु गतचतुश्शताब्दिकालतः शिल्पाचार्येषु एषः ग्रन्थः लोकप्रियोऽस्ति। ग्रन्थस्यास्य मलयालमभाषायामनुवादः

---

1. मनुष्यालयचन्द्रिका अध्या.-1, श्लो.-15

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अपि शिल्पकाराणां कृते उपादेयोऽस्ति। अतिलघुकलेवरयुक्ते ग्रन्थेऽस्मिन् विशेषरूपेण वास्तुशास्त्रानुसारेण जनानाम् आवासः, भवनं तत्र आवश्यक-सुविधा इत्यादयः विषयाः प्रतिपादिताः। तथ्यानाम् आधारेण प्राप्यते यद् अस्य ग्रन्थस्य प्रणयनं 16 तमशताब्द्यां जातम्।

ग्रन्थोऽयं सप्ताध्यायेषु 246 श्लोकेषु विभज्योपस्थापितोऽस्ति। मुख्यरूपेण ग्रन्थेऽस्मिन् मानवजीवनोपयोगी आवासगृहाणां, गृहोपयोगी कूप-वापि-साधारोर्ध्व-प्रासादानां द्वारमानानाञ्च विस्तृतवर्णनं प्राप्यते। मङ्गलपद्यानामाधारे ग्रन्थोऽयं केरलीय इति स्पष्टं परिलक्ष्यते। यथा–

श्रीमत्कुण्डपुरे विराजति परक्रोडे च तेजः परं
नावानाम्नि च धाम्नि यच्च नितरां मल्लीविहारालये।
अश्वत्थाख्यनिकेतनेऽपि च पुरे श्रीकेरलाधीश्वरे
सम्भूयैतदुरुप्रकाशविषये चित्ते ममोज्जृम्भताम्।।[2]

ग्रन्थकारः स्वेष्टदेवं गुरुञ्च स्मृत्वा ग्रन्थस्य उपस्कारकग्रन्थानां परिचयं दत्वा भूमि-चयनस्य विचारं प्रस्तौति। भूमेः किं लक्षणं, भूमेः कति प्रकाराः, भूमेः परीक्षणस्य कः विधिः, स्थापत्यादीनां कथं वरणम्, किं स्थपतिलक्षणम्, ब्राह्मणादिचातुर्वण्येभ्यः वर्णेभ्यः कीदृशी भूमिः श्रेष्ठा एवञ्च वृक्षाणां कृते शुभाशुभदिग्ज्ञानम् किं इत्यादयः विषयाः ग्रन्थकारेण प्रतिपादिताः। यथा–

पूर्वस्यां वकुलो वटश्च शुभदोऽवाच्यां तथोदुम्बर-
श्चिञ्चा चाम्बुपतौ तु पिप्पलतरुः सप्तच्छदोऽपि स्मृतः।
कौबेर्यां दिशि नागसञ्ज्ञिततरुः प्लक्षश्च संशोभनाः
प्राच्यादौ तु विशेषतः पनसपूगौ केरचूतौ क्रमात्।।

अश्वत्थोऽग्निभयं करोति बहुधा प्लक्षः प्रमादप्रदो
न्यग्रोधः परशस्त्रपातमुदरव्याधिं तथोदुम्बरः।
सम्प्रोक्तप्रतिदिक्स्थितास्त्वपि च ते चान्ये सुवर्णात्मका-
श्छेद्या मन्दिरतस्तरुच्चयुगसीमाभ्यन्तरस्था यदि।।[3]

भूमेः परीक्षणस्य अनन्तरं दिशा-परीक्षणं, वीथीविन्यासः तथा च शङ्कुविधिना दिग्ज्ञानं मुख्यरूपेण परिभाषितं वर्तते। शङ्कुः कथं भवेत्? शङ्कुस्थापनं भूमौ कथं करणीयं, ब्रह्मसूत्रं (पूर्व-पश्चिम रेखा) तथा च यमसूत्रं (याम्योत्तररेखा) कथं निर्धारितं भवेत्, ईशानादिकोणानयनं कथं भवेत्, वीथीविन्यासविचारः, शुभाशुभवीथीनां च (यथा गणेशवीथी-अग्निवीथी-जलवीथी-नागवीथी-यमवीथी-कुबेरवीथी-देववीथी-पिशाचवीथीनां) वर्णनमस्ति। यथा–

---

1. मनुष्यालयचन्द्रिका अध्या.-1, श्लो.-2
2. मनुष्यालयचन्द्रिका अध्या.-1, श्लो.-22-23

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

नन्द द्वन्द्वपुटेन वा वृतितया बाह्यादिमध्यान्तिमा
वीथ्यः स्युः परितः पिशाचदिविषद्वित्ताधिभूदण्डिनाम्।
नागाम्ब्वग्निविनायकद्रुहिणनाम्नां चासु निन्द्याः स्मृताः
पैशाचाग्न्यहिदण्डिनां गृहविधौ वीथ्यश्चतुर्दिक्ष्वपि॥[1]

तत्र वास्तुपुरुषोत्पत्तिकथा एवमेव वर्णितास्ति। यथा–

आसीद् दैत्यः प्रद्दप्तो निजभुजबलवीर्यादिनाक्रान्तकाष्ठा-
निष्ठो द्वेष्टा सुराणां स तु युधि पतितो विद्धगात्रो धरित्र्याम्।
व्याप्तः सर्वत्र पश्चाद् बहुतरपरिवृत्यैव पृथ्वीं विमथ्नन्
मर्त्या दुःस्था मुनीन्द्रास्त्वपि च मखभुजस्तावदेवं बभूवुः॥

सर्वव्याप्तेऽप्यमुष्मिन्नतनु तनुघटाभ्यन्तरे व्योम यद्वत्
तद्वन्नित्यं विशेषान्नगरपुरमहीक्षेत्रखण्डाङ्कनादौ।
उत्ताने नैर्ऋताशाविनिहितचरणे यावदीशात्तशीर्षे
जाते तावन्निषेदुः स्थिरमिह विबुधास्तस्य देहे क्षणेन॥[2]

ग्रन्थेऽस्मिन् भू-आकारनिर्धारणं, पदविन्यासः, एकाशीतितमे पदे वास्तोः न्यासक्रमचक्रम् देवतान्यासक्रमश्च वर्णितः। शुल्बसूत्रकालादेव यज्ञार्थं वेदिकानिर्माणे अङ्गुलीनां, रज्जोः च प्रयोगः क्रियते स्म। तत्र अङ्गुलादिमानज्ञानार्थं साष्टतिलानां एका 'शिम्बि' कथितः, यस्याः आधारेण यवोदरादिमानानि ज्ञेयानि। अपराजितपृच्छा-वास्तुमण्डनादिग्रन्थेषु "कम्बी" इति शब्दः प्रचलितः अस्ति। यथा–

शिम्बिः साष्ट तिलैर्यवोदरमिति प्राहुस्तदष्टोमिन्मतं
मात्राख्याङ्गुलैरिनमितैः प्रोक्ता वितस्तिस्ततः॥
तद्वद्धं करकिष्करत्निभुजदोर्मुष्ट्यादिसञ्ज्ञ तत-
स्त्वेकैकाङ्गुलवृद्धितोङ्गुलविशेषादप्यथो भिद्यते॥[3]

तत्र प्राजापत्यादिहस्तमानम्, यवोदरानुसाराङ्गुलमानस्य त्रिविधाः भेदाः, वर्णभेदात् ग्रामस्य भेदः, देवालयस्य सीमानिर्धारणम्, योनिविचारः, योनिज्ञानार्थं प्रमापणविधिः, आय-व्ययोः विचारः, वर्णानुसारेण हस्तमानप्रयोजनम् इत्यादयः विषयाः निरूपिताः। यथा–

भूसुरकार्ये निलये धनुर्ग्रहं च प्रकीर्णं च।
वैपुल्यधनुर्मुष्टी भूपानां मानसाधने योज्ये॥

1. मनुष्यालयचन्द्रिका अध्या.-2, श्लो.-16
2. मनुष्यालयचन्द्रिका अध्या.-2, श्लो.-27-28
3. मनुष्यालयचन्द्रिका अध्या.-3, श्लो.-1

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्राजापत्यं च वैदेहं वैश्यानां सम्मतं भवेत्।
किष्कुः प्राच्यं च शूद्राणां किष्कुः सर्वत्र संमतः॥[7]

योनीनां नामानि एवं च शुभाशुभत्वविचारोऽपि अस्य अध्यायस्य विशेषता वर्तते। यथा–

प्राच्यां केतुर्विधेयः स तु भवति विधानेषु सर्वत्र नित्यं
शालायां दक्षिणस्यां मृगपतिरुदितः केतुयोनिश्च योज्यः।
मातङ्ग केतुसिंहवपि च धनपतौ पश्चिमे स्याद् वृषोऽन्ये
केतुः सिंहो गजश्चापि च निजनिजकोणालयेऽप्येवमेव॥[8]

एवञ्च इष्टविस्ताराधारे शालामानम्, भवनाङ्गमानपरिगणना, लुपानीप्रादीनां प्रमाणम्, देवालयार्थं गुणविस्तारविधिः, विस्तारदैर्घ्यानुपातः, एकद्वित्रिशालचतुःशालभवनस्य वैशिष्ट्यम् चात्र वर्णितं विद्यते। यथा–

एकं स्याद् यदि दक्षिणं गृहमुभे चेत् तच्च पाश्चात्यकं
ते सौम्यं च गृहत्रिके गृहचतुष्के प्राच्यमेतानि च।
वाञ्छन्ति क्वचिदेकमेव भवनं यद्यत्र पाश्चात्यकं
चेष्टं गेहयुगादिनिर्मितिविधौ प्रागुक्तवत् कल्प्यताम्॥[9]

मनुष्यालयचन्द्रिकायाम् अनेन प्रकारेण मानववास्तुलक्षणम्, मत्स्यपुराणम्, राजवल्लभवास्तुशास्त्रम्, बृहत्संहितादिग्रन्थानुसारं शालाविधानं वर्णितं वर्तते। यथा–

सौम्यशालाविहीनं यत् त्रिशालं धान्यकं च तत्॥
क्षेमवृद्धिकरं नृणां तथा बहुपुत्रफलप्रदम्।
शालया पूर्वया हीनं सुक्षेत्रमिति विश्रुतम्॥
धन्यं यशस्यमानुष्यं शोकमोहविनाशनम्।
शालया याम्यया हीनं यद् विशालं तु शालया॥
कुलक्षयकरं नृणां सर्वव्याधिभयावहम्।
हीनं पश्चिमया यत् तु पक्षघ्नं नाम तत् पुनः।
मित्र बन्धुसुतान् हन्ति तथा सर्वभयावहम्॥[10]

जलनिष्कासनार्थं गृहाधारस्य ऊर्ध्वस्थापनस्य विषये अर्थात् वास्तुकार्ये उच्छ्रायनिर्देशम्, भवने उपपीठस्य आवश्यकतायाः निर्देशः, मल्लीकुट्टिम् (वृक्षारोपणकृते स्थानादिज्ञानम्), पत्रमानम्,

---

7. मनुष्यालयचन्द्रिका अध्या.–3, श्लो.–5/6
8. मनुष्यालयचन्द्रिका अध्या.–3, श्लो.–30
9. मनुष्यालयचन्द्रिका अध्या.–4, श्लो.–27
10. मत्स्यपुराणम्, 254. श्लो. 4–8

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गृहयोनि-गमनस्य नियमाः, पादुकादीनां प्रमाणम्, अधिष्ठानोपरान्त-स्तम्भप्रमाणानि च इत्यादयः विषयाः अत्र विशेषरूपेण वर्णिताः। यथा–

कृत्वाधिष्ठानमेवं दृढतरमथ तत्छेषितं पादमानं
विद्यादङ्घ्र्युच्चमस्मिन्नृतु तुरग भुजङ्गाङ्क पङ्क्तीश भक्ते।
एकांशेनान्वितं वा विरहितमथवेतीप्सितात्ताङ्घ्रिदीर्घादोमा-
सज्ञाङ्घ्रिपीठोच्चयमपनयता पोतिकाया घनं च॥[11]

अस्मिन्नेव स्तम्भपीठस्य स्थापनम्, स्तम्भे दण्डमानम्, स्तम्भस्य वृत्तादित्रयविधानपरिकल्पनम्, स्तम्भोपरि पोतिकाख्यस्य मानम्, पोतिका-प्रमाणम्, चूलीलूपयोः विषये कथनम्, कीलस्य स्थित्यादिकं ग्रन्थ निरूपितं वर्तते। यथा–

कीलास्ति कूटसूत्रेष्वखिलनिलयमध्येऽपि च द्वारमध्ये
कर्तव्यास्ते समस्ता यवमितगतिभिः सूत्रतोऽतीतमध्याः।
युक्त्या पङ्क्तिं लुपानां सममपि परिकल्प्याथ मध्ये त तासां कार्याः
कीलास्त्वयुग्माः खलु सकललुपायुग्मसङ्ख्या विधेयाः॥[12]

तुला विन्यासविषये तत्र निगदितम्–

यद्वा कपोतवलभीविलसत्तुलो-
लुपोद्यत्पिधानफलकादितुलाविशेषैः।
युक्तं च खण्डफलकादिविचित्रचित्र-
मूर्तिप्रभेदसहितं महितं विदध्यात्॥[13]

लुपादिविषये विश्वकर्मावास्तुशास्त्रग्रन्थे मानववास्तुलक्षणे, वास्तुविद्यायाञ्च विस्तृतरूपेण विवरणं प्राप्यते। तेषामनुसारेण ग्रन्थेऽस्मिन्नपि कूटलुपादिकानां वर्णनं दृश्यते यथा–

नानाप्रमाणलसितायोजनीया कृयार्हका।
क्षुद्रावरणमानेन क्वचिद्योज्या लुपा मता॥
विमाने शिखरप्रान्ते मण्डपान्तेवराटके।
गोपुरद्वारवलभीप्रान्ते वा पादकान्तके॥[14]

लुपादि-संयोजनम्। यथा–

---

11. मनुष्यालयचन्द्रिका अध्या.-5, श्लो.-21
12. मनुष्यालयचन्द्रिका अध्या.-5, श्लो.-38
13. मनुष्यालयचन्द्रिका अध्या.-5, श्लो.-40
14. विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम्, 63, श्लो.8-9

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आयातचतुरश्रगृहे विकृतिलुपा वंशबद्धकूटगताः।
वंशस्थाग्रास्त्वन्याः प्रकृतिलुपाः कीलिता ह्ययः कीलैः॥[15]

अनेन प्रकारेण मनुष्यालयचन्द्रिकाग्रन्थे वास्तुशास्त्रीयग्रन्थदृष्ट्या प्राचुर्येण मानकवचनानि प्राप्यन्ते। तत्र 'विश्वकर्मावास्तुशास्त्रादिकानां प्राचीनसिद्धान्तानां न केवलमनुरणं दृश्यते अपितु नैकेषु स्थलेषु विशिष्टनियमाः अपि अभिनवदृष्टया सम्प्राप्यन्ते। कथयितुं शक्यते यद्ग्रन्थोऽयं वास्तुशास्त्रीय-सिद्धान्तानां नियमानां वास्तुशास्त्रदृष्ट्या सङ्कलनं कृत्वा मानकग्रन्थरूपे वास्तुशास्त्रस्य ज्ञानागारं समृद्धं करोति। वस्तुतः मनुष्यालयचन्द्रिका वास्तुशास्त्रस्य एकोऽनुपमो ग्रन्थोऽस्तीति।

---

31. मनुष्णलयचन्द्रिका अध्या. – 6, श्लो. – 12

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भूगर्भस्थतलान्वेषणविधिः

श्रीनवीनपाण्डेयः

वेदेषु मानवजीवनस्य कल्याणाय अस्माकम् ऋषिमुनयः प्रतिक्षणं चिन्तनं कृतवन्तः। मानवानां कृते प्रकृतिसंरक्षणविषयकाणां नैकेषां धर्मग्रन्थानां रचना ऋषिभिः कृता। अस्माकं प्रकृतिः मानवमात्रस्य प्रकृतिः नाऽपितु सम्पूर्णजीवजगतः प्रकृतिरस्ति। अस्माकं शरीरस्य रचना पञ्चभौतिकतत्वैः अभवत्। तानि तत्वानि प्रकृतितः प्राप्यन्ते। तेषां नामानि पृथ्वी जलम् अग्निः वायुः आकाशश्च सन्ति। अत्र सर्वाणि तत्वानि स्वस्य-स्वस्य स्थाने पूर्णानि सन्ति। मानवशरीरे सप्ततिप्रतिशतं जलं भवति। अस्माकं भूखण्डे अपि सप्तति प्रतिशतं जलं अस्ति। भूमौ जलस्य ज्ञानविषये यस्य विधेरावश्यकता भवति तस्य नाम दकार्गलमस्ति। भूमिगतजलस्य ज्ञानं दकार्गत्वेनैव भवति। यतोहि प्रयोजनमनुदिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते इति लौकिकन्यायेन दकार्गलस्य किं प्रयोजनमिति जिज्ञासा समुत्पद्यते। तत्र बृहत्संहितायां दकार्गलस्य विषये विशदचर्चा सम्प्राप्यते। **उक्तं हि - धर्म्यं यशस्यं च वदाम्यतोऽहं दकार्गलं येन जलोपलब्धिः**[1] इति। जलं विना जीवनं दुष्करम्। अतः कूपतडागजलाशयादीनां निर्माणेन धर्मयशः प्राप्तिः भवतीति प्रयोजनम्। विष्णुधर्मोत्तरपुराणे जलप्रशंसायां लिखितं यद् भुवि स्वर्गे च जलं विना जीवनमसम्भवमिति। अतः धर्मात्मना विदुषा पुरुषेण वा अनेकत्र जलाशयाः निर्मातव्याः। कूपनिर्माणफलम् अग्निष्टोमयज्ञफलतुल्यं, मरुस्थले कूपखननेन यत्फलं तत्तु अश्वमेधीयफलतुल्यं भवति। पर्याप्तजल-समृद्धकूपनिर्माणेन सर्वपापनाशो भवति। कूपनिर्माता स्वर्गं सम्प्राप्य सर्वविधं सुखं भुङ्क्ते। स्थानवैलक्षण्येन भोगवैलक्षण्यञ्च भवति। यथोक्तम् -

उदकेन विना वृत्तिर्नास्ति लोकद्वये सदा।
तस्माज्जलाशयाः कार्याः पुरुषेण विपश्चिता॥

अग्निष्टोमसमः कूपः सोऽश्वमेधसमो मरौ।
कूपः प्रवृत्तपानीयःसर्वं हरति दुष्कृतम्॥

कूपकृत्स्वर्गमासाद्य सर्वान् भोगान् समश्नुते।
तत्रापि भोगनैगुण्यं स्थानाभ्यासात् प्रकीर्तितम्॥[2]

धरणितले विद्यमानस्य जलस्य विशेषचिह्नद्वारा ज्ञानमिति दकार्गलशास्त्रस्य प्रयोजनम्। यथा विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदग्रन्थस्य प्रयोजनविषये ग्रन्थकारेण चक्रपाणिमिश्रेण निगदितम् -

1. बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.1
2. विष्णुधर्मोत्तरपुराणे उद्धृतं वृहद्वास्तुमालायां दकार्गलाध्यायः श्लो.1-3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

यावन्मानं जलं वै धरणितलगतं ज्ञायते यैश्च चिह्नैः
यावद्धस्ताभिस्तत्पुनरपि च शिरा यद्दिशातोऽभियाति।

पाषाणाद्यन्तरं यन्मधुरमधुरं शर्क्करा वाप्यधस्तात्।
तत्सर्वं संब्रूवेऽहं सकलजनहितं वीक्ष्य शास्त्राणि शश्वत्।।[3]

येन प्रकारेण पुरुषाणामवयवेषु शिरा नाड्यः प्रोन्ननिम्नसंस्था अधरोत्तरभावेन, तथा तेन प्रकारेण भूमावप्यधरोत्तरभावेन प्रोन्नता निम्नाः स्थिताः भवन्ति।[4]

तत्रादौ देशविचारः –

जलस्रोतसम्बन्धे साधारणप्रदेशः, अनूपप्रदेशः, जाङ्गलप्रदेशः, पर्वतान्वितस्थानानां विचारो भवति।[5] तत्र आनूपप्रदेशे जलस्य स्थितिः भूमिसन्निकर्षे एव भवति तथा जाङ्गले, मरुस्थले तथा पर्वते स्थाने जलञ्च दूरे भवतीति।[6]

तत्र शिरासंज्ञा –

पूर्वमेव निगदितं यथा येन प्रकारेण मनुष्यशरीरे शिरा नाडयो भवन्ति तथा तेनैव प्रकारेण भूमावप्यधरोत्तरभावेन शिरा भवन्ति। पर्वतात् वृक्षमूलात् वा जलवाहिका निर्झरे तथा जलश्रोते याति एताः सर्वाः जलवाहिका शिरानाम्नाज्ञायन्ते। क्वचित् क्वचित् एताः शिराः कन्दरासु अपि दृश्यन्ते इति।[7] तासां शिराणां संज्ञा अग्रे विविच्यते। इन्द्राद्या देवाः क्रमेण प्राच्याद्यानां दिशां पतयः भवन्ति। तद्यथा इन्द्रः पूर्वस्याधिपतिः, अग्निराग्नेयाधिपतिः, यमो दक्षिणाधिपतिः, निर्ऋति नैर्ऋत्यधिपतिः, वरुणः पश्चिमदिवपतिः, पवनः वायुदिक्पतिः, चन्द्रः उत्तरदिक्पतिः तथा च ईशानकोणस्याधिपतिः रुद्रः कथितः।[8] दिक्पतिसंज्ञया तत्रनाम्नोपलक्षिता शिरा भवति। यथा पूर्वस्यां दिशि या शिरा सा ऐन्द्री, आग्नेयां आग्नेयी, दक्षिणस्यां याम्या, नैर्ऋत्यां निर्ऋती, पश्चिमे वारुणी, वायव्ये वायवी, उत्तरे सौम्या, ऐशान्ये ऐशान्या इति शिरानामानि। एवमष्टासु दिक्ष्वष्टौ शिरा भवन्ति।[9]

---

3. विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.2
4. बृहत्संहिता दकार्गलाध्यायः श्लो.1
5. साधारणानूपाश्चं जाङ्गलान्पर्वतान्वितान्।
   देशनिमित्तजान् ज्ञात्वा वदेत् सर्वं विचक्षणः।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.3
6. आनूपे निकटे यथोक्तमतिभिर्नीरं भवेज्जाङ्गले।
   दूरे स्याच्च मरुस्थलेऽश्मनिकरे देशे सशैले पुनः।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.4
7. पर्वताद्वृक्षमूलाद्वा शिराधो याति निर्झरे।
   सर्वाः शिराः क्वचित्सिद्धा दृश्यन्ते कन्दरासु च।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.6
8. पुरुहूतानलयनिर्ऋतिवरुणपवनेन्दुशङ्करा देवाः।
   विज्ञातव्याः क्रमशः प्राच्याद्यानां दिशां पतयः।। बृहत्संहिता दकार्गलाध्यायः श्लो.3
9. बृहत्संहिता दकार्गलाध्यायः श्लो.3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

क्र.सं.	दिक्	दिगीशाः	शिरानामानि
1.	पूर्वा	इन्द्रः	ऐन्द्री
2.	आग्नेया	अग्निः	आग्नेयी
3.	दक्षिणा	यमः	याम्या
4.	नैर्ऋत्या	राक्षसः	निर्ऋती
5.	पश्चिमा	वरुणः	वारुणी
6.	वायव्या	वायुः	वायवी
7.	उत्तरा	चन्द्रः	सौम्या
8.	ईशानी	ईशः	ऐशानी

तत्र मध्ये महाशिरानाम्नी नवमी शिरा भवति। आसां सर्वासां दिग्विदिक्स्थानां मध्यभागे नवमी महाशिरा भवति। एताभ्यो नवभ्यो अन्याः शिराः शतशः विनिःसृता प्रख्याताश्च भवन्ति।[10] यथा-

कुमुदा नाम शिरा सा पुरुषत्रयवाहिनी भवतीति।[11]

या शिरा पातालादूर्ध्वं गच्छति सा शुभाः, याश्च शिराश्चतुर्दिक्षु संस्थितास्ताश्चापि शुभाः। कोणादिगुत्था विदिगुत्पन्नाः शिराः न शुभाः।[12] या भूमिः खन्यमाने अतिकठिना तथा पाषाणसन्निभाः सा पर्पटाश्मभूमि नाम्ना प्रसिद्धा भवति। तस्याः अधोभागे बहुजलं भवति।[13]

शिराचिह्ननिर्देशः

जांगलयोगाः - यत्र सर्वदिक्षु जलं न भवेत्, वेतवृक्षाश्च तत्र उद्भूताः तर्हि तत्र करत्रयमितं पश्चिमदिशि क्षितौ सप्तहस्तात्मकं, द्विहस्तात्मकं, सार्धहस्तात्मकम् अधः जलशिरा भवति। प्रथमं स्वर्णिमभा शिला, क्रमशः पश्चात् पर्पटः तत्पश्चात् जलम् भवति।[14] तत्र बृहत्संहितायामपि अस्य

---

10. दिक्पतिसंज्ञा च शिरा नवमी मध्ये महाशिरानाम्नी।
एताभ्योऽन्याः शतशो विनिसृता नामभिः प्रथिताः।। बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.4
11. बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.23
12. पातालादूर्ध्वशिरा शुभा चतुर्दिक्षु संस्थिता याश्च।
कोणादिगुत्था न शुभाः शिरानिमित्तान्यतो वक्ष्ये।। बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.5
13. खन्यमानेऽतिकठिना मृच्चपाषाण सन्निभाः।
पर्पटाश्माभिघात तस्यास्तदधः स्याज्जलं बहु।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.7
14. जलाष्टा यविवर्जिते भवति वेतसोऽदुर्यदा
करत्रयमितौ क्षितौ वरुणदिग्गताघः शिरा।
तदा मुनिकरैः मिता करयुगे तथो सार्द्धके
शिलीकनकसन्निभा तदनु पर्पटस्तोयगः।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.8

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वर्णनं मिलति। अम्बुरहिते देशे यत्र स्वभावतः एव जलं न विद्यते, तस्मिन् देशे जाङ्गले यदि वेतसवृक्षो दृश्यते ततस्तस्माद्वेतसवृक्षात् त्रिभिर्हस्तैः पश्चिमयां दिशि खाते सार्धपुरुषमितं सति तोयं वक्तव्यम्। पुरुषशब्देन अत्रोर्ध्वबाहु विंशत्यधिकमङ्गुलशतं पुरुषो ज्ञेयः। ततश्च तस्मिन् खाते पश्चिमा शिरा वहति। तत्र क्रमशः पाण्डुरवर्णः भेकः (मण्डूकः), पश्चात् पीतवर्णा मृत्स्ना, ततस्तस्मिन् खाते पुटभेदकः पाषाणो भवति तदधः तोयं भवति।[15]

अर्जुनवृक्षाज्जलशिराज्ञानम् –

यदि अर्जुनवृक्षादुत्तरे वल्मीको भवति तर्हि तस्माद् अर्जुनाद् वारुण्यां सार्द्धैस्त्रिभिर्पुरुषैः परिमितं अधश्च जलं निश्चितं भवति। तत्र अर्धपुरुषात्मकमधः श्वेता शर्करा, क्रमशः पश्चात् धूसरगोधा, शर्करा, पीतामृत्स्ना तदनु श्वेतमृत्स्ना इति तस्य खातस्य चिह्नानि।[16] बृहत्संहितायामपि अस्य वर्णनमस्ति यथाह –

उदगर्जुनस्य दृश्यो वल्मीको यदि ततोऽर्जुनाद्धस्तैः।
त्रिभिरम्बु भवति पुरुषैस्त्रिभिरर्धसमन्वितैः पश्चात्॥
श्वेता गोधार्धनरे पुरुषे मृद्धूसरा ततः कृष्णा।
पीता सिता ससिकता ततो जलं निर्दिशेदमितम्॥[17]

जम्बूवृक्षाज्जलशिराज्ञानम् –

जम्बूवृक्षस्य समीपे यदि वल्मीको भवति तर्हि वल्मीकात् दक्षिणदिशि सार्धद्विपुरुषाधः सुस्वादु जलं भवति। तत्र कपोताभा मृत्स्ना भवति। तथा वल्मीकस्य पश्चिमे यदि बदरीवृक्षश्च भवति तत्र तस्मात् बदरीवृक्षात् पश्चिमे त्रिपुरुषात्मकमिदमधस्तात् वक्तव्यम्। तत्र द्विकरमितं यदि गोधा मिलति तर्हि जलम् अवश्यमेव लभ्यते।[18] जम्मूवृक्षस्य पूर्वदिशि समीपस्थो यदि वल्मीको भवति,

---

15. यदि वेतसोऽम्बुरहिते देशे हस्तैस्त्रिभिस्ततः पश्चात्
सार्धे पुरुषे तोयं वहति शिरा पश्चिमा तत्र॥
चिह्नमपि चार्धपुरुषे मण्डूकः पाण्डुरोऽथ मृत् पीता।
पुटभेदकश्च तस्मिन् पाषाणो भवति तोयमधः॥ वृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.6–7
16. वल्मीकोऽर्जुन सौम्यगो यदि भवेत् हस्तत्रये चार्जुनात्।
वारुणयां पुरुषैस्त्रिभिः परिमितं सार्द्धं जलं निश्चितम्।
श्वेताभार्द्धनरेषु धूसररुचिर्गोधा ततः शर्करा।
पीता चानु सिता जलस्य निकटे तत्रास्ति सुस्वादु च॥ विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.10
17. बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो. 12–13
18. जम्बूवृक्षसमीपगाच्च मधुरं वल्मीकतो दक्षिणे
नीरं स्यात् पुरुषद्वयेऽर्द्ध पुरुषे पारावताभा कृषत्
वल्माकात् बदरी जलेश दिशिचेत्तोयं तदा पश्चिमे
वक्तव्यं पुरुषास्त्रिभिः करयुगे गोधात्विति प्रत्ययः॥ विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.11

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तस्मात् जम्बुवृक्षात् दक्षिणपार्श्वे दक्षिणस्यां दिशि पुरुषद्वये खाते स्वादु जलं भवति। तत्रापि चिह्नानि भवन्ति, अर्धपुरुषे च खाते मत्स्यो दृश्यते ततः पारावातः तत्पश्चात् पाषाणो भवति। तथा चात्र नीलवर्णा मृत्स्ना दृश्यते तत्र दीर्घकाले च प्रभूतं जलं भवतीति बृहत्संहितायाम्।[19]

सिन्धुवारवृक्षाज्जलशिराज्ञानम् –

यदि वल्मीके सिन्धुवारवृक्षः (निर्गुण्डी) भवेत्तर्हि तस्मात् दक्षिणदिशि पुरुषपरिमितं अधस्तात् जलं भवति। तत्र पूर्वे सार्धद्वयं पुरुषप्रमाणात्मकं दूरे कपिलामृत्स्ना तथा शर्करा मिलति। एवञ्च यदि पलाशवृक्षस्य पार्श्वे कोलो (वराहकृतखातः) भवति तर्हि तत्र पलाशवृक्षस्य हस्तत्रयं पश्चिमीदेश सार्धत्रयपुरुषपरिमितमधः क्रमशः श्वेतशर्करा, रक्तशर्करा पश्चाज्जलं भवति।[20] बृहत्संहितायामपि अस्यवर्णनमस्ति परञ्च तत्र चिह्नभेदो भवति। तत्र अर्धपुरुषे खाते रोहितवर्णस्य मत्स्यो भवति। ततो कपिला गौरवर्णा मृत्तिका तदनु शुक्लवर्णः पाण्डुवर्णा बालुका क्रमेण प्राप्यते ततः परतः स्वादुजलं भवति। यथाहि –

वल्मीकोपचितायां निर्गुण्ड्यां दक्षिणेन कथितकरैः।
पुरुषद्वये सपादे स्वादु जलं भवति चाशोष्यम्॥

रोहितमत्स्योऽर्धनरे मृत् कपिला पाण्डुरा ततः परतः।
सिकता सर्कराऽथ क्रमेण परतो भवत्यम्भः॥[21]

बिल्वोदुम्बरवृक्षाभ्यां जलशिराज्ञानम् –

बिल्वोदुम्बरिके वृक्षे यत्र मिलिते तत्र हस्तत्रयात्मके दूरे दक्षिणस्यां दिशि त्रयपुरुषात्मके अधः नीरं भवति। तत्र सार्धपुरुषमितं खाते दर्दुरः मिलति ततः पश्चात् जलं भवति। यदि कुत्रापि काकोदुम्बरो भवति तस्य समीपे यदि वल्मीको भवति तर्हि तस्याम् पश्चिमदिशि पुरुषत्रयमिते खाते जलं प्राप्यते। बृहत्संहितायामपि अस्य वर्णनं कृतं यद् यत्र विल्वोदुम्बरसंयोगो भवति तस्मिन्

---

19. जम्बुवृक्षस्य प्राग्वल्मीको यदि भवेत् समीपस्थः।
तस्मादक्षिणपार्श्वे सलिलं पुरुषद्वये स्वादु॥
अर्धपुरुषे च मत्स्यः पारावतसन्निभश्च पाषाणः।
मृद्भवति चात्र नीला दीर्घ कालं बहु तोयम्॥ बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.9–10

20. वल्मीके यदि सुन्धुवार विटपस्तद् दक्षिणे पुंमिते
तोयं सार्द्धनरद्वयेऽथ कपिला मृच्छर्कराच्छा क्रमात्
कोलश्चेन्मिलितः पलाशतरुणा हस्तत्रये पश्चिमे
स्यात्सार्द्ध त्रिनरेप्यधः क्षितितले श्वेतारुणा शर्करा॥ विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.12

21. बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.14–15

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दक्षिणस्यां दिशि हस्तत्रयं विहाय त्रिभिर्सार्द्धैः पुरुषैरधोऽम्बुजलं भवेत्।[22] बिल्ववृक्षः स यत्र दृश्यते तस्यां समीपे यदि वल्मीको दृश्यते तदा तस्मिन्नेव वल्मीके शिरा भवति सपादे पुरुषत्रये खाते अधः सा शिरा पश्चिमाशिरा भवति। तत्र चिह्नान्यपि कथितानि यथा पाण्डुरा च मृत्तिका प्रथमं भवति, ततो शुक्लवर्णः पाषाणो भवति क्रमशः श्वेतवर्णो मूषकः दृश्यते तत्पश्चात् जलम् भवति।[23]

अश्वत्थवृक्षाज्जलशिराज्ञानम् –

अश्वत्थवृक्षात् पूर्वदिशि अल्पजलदा शिरा भवति। त्रयपुरुषात्मके खाते अधः तत्र क्षारीय तथा लौहसमः मृत्स्ना भवति। तथा यदि कलिवृक्षस्य दक्षिणे वल्मीको भवति तर्हि तस्मात् पश्चिमदिशि पुरुषमिते खाते अधः प्रथमशिरा पश्चात् चतुर्पुरुषे अधः द्वितीया शिरा च भवति।[24]

कपित्थवृक्षाज्जलशिराज्ञानम् –

कपित्थवृक्षात् दक्षिणे तत्र वल्मीको भवेत् तथा वृक्षाधः यदि मण्डूको भवेत्तर्हि प्राच्यां दिशि सप्तकरमितं अथवा उत्तरदिशि सप्तकरमितं दूरे चतुर्भिः पुरुषाधः जलं भवति। तत्र चिह्नानि च एकपुरुषाधः कर्बुरकः सर्पः पश्चात् कृष्णवर्णीया मृत्स्ना क्रमशः पाषाणः, पुटकः तत्पश्चात् सुस्वादुजलस्य शिराद्वयं उत्तरदिशि दृश्येते।[25] यथाह बृहत्संहितायामपि –

याम्येन कपित्थस्याहिसंश्रयदुदग्जलं वाच्यम्।
सप्त परित्यज्य करान् खात्वा पुरुषान् जलं पञ्च॥

---

22. बिल्वोदुम्बरिके यदा च मिलिते हस्तत्रये दक्षिणे
नीरं स्यात्पुरुषत्रयेऽर्द्ध पुरुषे नीचौस्तदा दर्दुरः।
कोकोदुम्बरिका यदास्ति निकटे वल्मीकतः पश्चिमे
तोयं पंत्रितये ततोऽर्ध पुरुषे गौरादृशन्मृत्तथा॥ विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.13

23. बिल्वोदुम्बरयोगे विहाय हस्तत्रयं तु याम्येन।
पुरुषैस्त्रिभिरम्बु भवेत् कृष्णोर्द्धनरे च मण्डूकः॥
काकोदुम्बरिकायां वल्मीको दृश्यते शिरा तस्मिन्।
पुरुषत्रये सपादे पश्चिमदिक्स्था वहति पाषाणः।
पुरुषार्द्धे कुमुदनिभो दृष्टिपथं मूसको याति॥ बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.18–20

24. प्राक् पिप्पलतरोशिराऽल्पजलदा हस्तत्रयेऽधोमता
क्षारालोहसमा च मृत्त्वथशिरा शोणोत्तरे तन्मिता।
वल्मीकः कलिवृक्षतो यमदिशि स्यात् पश्चिमे पुंमिते
तत्पश्चात्सयदा तदार्द्धसहितैः पुंभिः चतुर्भिः शिरा॥ विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.14

25. वल्मीकश्च कपित्थकात् यमदिशि स्याद्दुर्दुरोऽधस्तरो
प्राच्यां सप्तकरेऽप्यथवोत्तरगतं पुंभिश्चतुर्भिर्जलम्।
सर्पः कर्बुरको भवेच्च पुरुषे मृत्स्ना च कृष्णा ततः
पाषाणः पुटकः शिराद्वयमथो सौम्यां जलेनाश्रयः॥ विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.16

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कर्बुरकोऽहिः पुरुषे कृष्णा मृत् पुटभिदपि च पाषाणः।
श्वेता मृत् पश्चिमतः शिरा ततश्चोत्तरा भवति।।[26]

तिलकवृक्षाज्जलशिराज्ञानम् –

वल्मीकस्योत्तरदिशि यदि तिलकवृक्षो भवेत् तत्र दूर्वाः कुशाश्चापि भवेत्तर्हि तस्मात् वृक्षात् पञ्चहस्तमितं दूरे अधः पश्चिमतः पूर्वदिशि गमनशीला जलशिरा च भवति। तथा नारिकेल-तालवृक्षौ यत्र समुपस्थितौ तत्र यदि वल्मीको भवेत्तर्हि पश्चिमदिशि षड्हस्तं वर्जयित्वा अधः चतुर्पुरुषमितं मिष्टं जलं भवति।[27]

अश्मन्तकाज्जलशिराज्ञानम् –

यत्र निर्जले क्षेत्रे अश्मन्तकवृक्षस्य वामे यदि बदरीवृक्षो वल्मीको वा भवति तत्र तस्मात् प्राच्यां दिशि षट्पुरुषकरतो दूरे सार्द्धत्रिपुरुषपरिमितं अधः खाते जलं भवति। तत्र चिह्नान्यपि प्रथमं कूर्मः ततश्च क्रमशः पुरुषपरिमिते धूसरवर्णको पाषाणको तत्पश्चात् याम्यां तु आगता प्रथमा तथा सौम्याऽगता द्वितीया शिरा तत्र द्वे शिरे भवतः।[28]

अन्ययोगश्च –

अश्मन्तकवृक्षस्य वामे उत्तरस्यां दिशि यदि बदरीवृक्षो दृश्यते, अहिनिलयो वल्मीको वा दृश्यते, तदा तस्याश्मन्तकस्येत्तरस्यां दिशि षड्भिः हस्तैः परतः सार्द्धेपुरुषत्रय अधस्तोयं भवति। तत्र चिह्नान्यपि तत्र पुरुषपरिमिते खाते कूर्मो दृश्यते ततः धूसरः पाषाणो दृश्यते तत्पश्चात् श्वेतवर्णा मृत्स्ना दृश्यते। पश्चात् आदौ दक्षिणा शिरा भवति, द्वितीया ऐशान्या शिरा च भवति।[29]

---

26. बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.41-42
27. वल्मीकोत्तरतो यदास्ति तिलकस्तत्रैव दूर्वाः कुशाः
स्निग्धा पञ्चकरैर्मिता त्वथ शिरा तत्पश्चिमे पूर्वगा।
वल्मीको यदि नारिकेलविटपी वा तालवृक्षास्तदा
पश्चात् षट्करतो जलं मधुरं पुंभिश्चतुर्भिर्मितम्।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.17
28. वामेश्मन्तकतो भवेच्च बदरी वल्मीकिका वा यदा
प्राच्यां षटकरतो जलं त्रिपुरुषैः सार्द्धैश्च चिह्नानि चेत्
कूर्मः स्यात् प्रथमे ततश्च पुरुषे पाषाणको धूसरो
याम्यां त्वाद्य शिरापरोत्तरगता तस्याऽधः साक्षया।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.18
29. अश्मन्तकस्य वामे बदरी वा ख्श्यतेऽहिनिलयो वा।
षड्भिरुदक् तस्य करैः सार्धे पुरुषत्रये तोयम्।।
कूर्मः प्रथमे पुरुषे पाषाणो धूसरः ससिकतामृत्
आदौ च शिरा याम्या पूर्वोत्तरतो द्वितीया च।। बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.43-44

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

हरिद्रावृक्षाज्जलशिराज्ञानम् –

यदि हरिद्रातरोः उत्तरेण यदि वल्मीको दृश्यते तदा हरिद्रातरोः पूर्वस्यां दिशि हस्तत्रयं परतः सत्र्यंशैः पञ्चभिः पुरुषैः सत्र्यंशैस्त्रिभागाधिकैः अधो जलं भवति। तत्र चिह्नानि–प्रथमे पुरुषे खाते नीलो भुजगः दृश्यते पश्चात् पीतमृत्स्ना दृश्यते पश्चात् मरकतोपमो सदृशः पाषाणो दृश्यते ततः कृष्णा भूः तत्पश्चात् आदौ वारुणी शिरा, तथा द्वितीया दक्षिणी च शिरा लभ्यते तत्र।[30] तत्र विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदे चापि अस्य योगो वर्तते यथाह –

हरिद्राद्वामभागे फणि निलयमथो तस्य हस्तत्रये प्राक्।
तोयं स्यात् पञ्चपुंभिः सिततमभुजगपुंमिते पीतमृत्स्ना॥

भूमिः कृष्णा ततो वै वरुणदिशि शिरा तत्पुरो दक्षिणस्याम्।
औषध्यो वा जलं स्यात् तरु तृण लतिका तत्र तोयं समीपे॥[31]

सर्पगृहाज्जलशिराज्ञानम् –

यदि अहिगृहात् दक्षिणे यदि करञ्जवृक्षो भवति तर्हि तस्मिन् दिशि द्विहस्तपरिमिते दूरे च सार्द्धपुरुषाधः क्रमशः कूर्मः पश्चात् अर्द्धपुरुषात्मके अधः धूम्रवर्णा मृत्स्ना तत्पश्चात् अरुणवर्णीयप्रस्तरः ततः जलं भवति तत्र।[32] यदि करञ्जवृक्षस्य दक्षिणस्यां दिशि अहिनिलयः सर्पगृहम् इति च दृश्यते तदा याम्ये करञ्जवृक्षात् हस्तद्वयं त्यक्त्वा अधः सार्द्धे पुरुषत्रितये जलशिरा भवति। तत्र चिह्नानि च पुरुषार्द्धे कच्छपः तत्पश्चात् क्रमशः प्रथमः पूर्वाशिरा दृश्यते पश्चात् ततोऽन्या उत्तरस्यां दिशि द्वितीया च शिरा सुस्वादुजला भवति तस्मात् अधः हरितवर्णा मृत्स्ना भवति तत्पश्चाज्जलं भवति।[33] अन्ययोगश्च अहिगृहस्य विषये बृहत्संहितायां यथाह–

---

30. वामेन हरिद्रातरोर्वल्मीकश्चेज्जलं भवति पूर्वे।
हस्तत्रितये सर्त्यशैः पुम्भिः पञ्चभिर्भवति॥
नीलो भुजगः पुरुषे मृत् पीता मरकतोपमश्चाश्मा।
कृष्णाभूः प्रथमं वारुणी शिरा दक्षिणेनान्या॥ बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.45–46
31. विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.19
32. सद्माहेऽकरञ्जदक्षिणगतं हस्तद्वये दद्दिशि
स्यात्सार्द्धे पुरुषत्रयेऽर्द्ध पुरुषे कूर्मेस्ततो द्वे शिरे।
कौबर्य्यां मधुकात्तदस्ति सलिलं चेदुत्तरे पश्चिमे
सर्पस्तत्र पुमार्द्धके च धरणी धूम्रारुणः प्रस्तरः॥ विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.15
33. यद्यहिनिलयो दृश्यो दक्षिणतः संस्थितः करञ्जस्य।
हस्तद्वये तु याम्ये पुरुषत्रितये शिरा सार्द्धे॥
कच्छपकः पुरुषार्द्धे प्रथमं चोद्भिद्यते शिरा पूर्वा।
उदगन्या स्वादुजला हरितोऽश्माधस्ततस्तोयम्॥ बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.33–34

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उत्तरतश्चमधूकादहिनिलयःपश्चिमे तरोस्तोयम्।
परुहत्यपञ्च हस्तानर्धाष्टमपौरुषान् प्रथमम्॥

अहिराजः पुरुषेऽस्मिन् धूम्रा धात्री कुलुत्थवर्णोऽश्मा।
माहेन्द्री भवति शिरा वहति सफेनं सदा तोयम्॥[34]

औषधयनुसारेण च योगाः -

जलरहिते क्षेत्रे यदि एतादृशानि जलीयचिह्नानि औषधयश्च यत्र भवन्ति यथा - भाङ्गी, दन्ती, रुदन्ती, तृवृत, तमाल, लक्ष्मणा, तथा मालिका आदि औषधयः, तत्र तेषां दक्षिणदिशि त्रिपुरुषाधः परिमितं जलं भवति। अन्ययोगश्च यत्र वृक्षशाखा नम्राः भवन्ति, स्निग्धाः खर्व शाखा च यत्र भवन्ति, सुविकटाः लम्बवृक्षाश्च यत्र भवन्ति तत्र वृक्षाणां शाखा भूमेः नताः यद्यस्ति तर्हि तत्र जलं भवति नतशाखाप्रमाणं अधः जलम् भवति। तत्र बृहत्संहितायामपि अयं योगो वर्ण्यते[35] यथाह -

जलपरिहीने देशे दृश्यन्तेऽनूपजानि चेन्निमित्तानि।
वीरणदूर्वा मृदवश्चयत्र तस्मिन् जलं पुरुषे॥

भार्ङ्गी त्रिवृता दन्तीसूकरपादी च लक्ष्मणा चौव।
नवमालिका च हस्तद्वयेऽम्बु याम्ये त्रिभिः पुरुषैः॥

स्निग्धाः प्रलम्बशाखा वामनविकटद्रुमाः समीपजलाः।
सुषिरा जर्जरपत्रा रुक्षाश्च जलेन सन्त्यक्ताः॥[36]

भूमिचिह्नानुसारञ्जलशिराज्ञानम् -

यत्र भूमिः गमनकाले गम्भीरशब्दं जनयति तत्र त्रिपुरुषपरिमितमधो जलं भवति। चक्रशीर्षा खर्जूरवृक्षः यत्र भवति तर्हि तत्र त्रिनरपरिमितमधः पश्चिमे जलं भवति।[37] श्वेतपुष्पैः सहितं यदि पलाशवृक्षो कोलवृक्षो वा भवति तदा तत्र वामे जलं द्विहस्तपरिमितं दूरे भवति। परञ्च एतज्जलम्

---

34. बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.35-36
35. भार्ङ्गी दन्ती रुदन्ती तृवृदसितदलो लक्ष्मणा मालिका वा
तत् याम्ये तोयमस्ति त्रिनरपरिमिते स्निग्धपत्रेऽन्यवृक्षे।
नम्रैका यत्र शाखा भवति च तदधस्तत्प्रमाणं जलं वा
स्निग्धा खर्वस्तथा स्यात् सुविकटविटपा लम्ब शाखाश्च यत्र॥ विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.20
36. बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.47-49
37. भूमिः गम्भीरशब्दं जनयति चरणैराहता पुंत्रयात् स्यात्
खर्जूरी चक्रशीर्षा त्रिनरपरिमिते पश्चिमे तत्र तोयम्।
पुष्पैः श्वेतैः पलाशो भवति यदि तदा कर्णिकारोऽथकोल
सव्येहस्तद्वये तत्सुरवसति चमत्कारि नश्येत्रिवर्षात्। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोत्सवः श्लो.21

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

त्रिवर्षानन्तरं नष्टो भवतीति। वृहत्संहितायामपि अयं योगो वर्णितः –

नदति मही गम्भीरं यस्मिंश्चरणाहता जलं तस्मिन्।
सार्द्धैस्त्रिभिर्मनुष्यैः कौबेरी तत्र च शिरा स्यात्।।[38]

अन्ययोगाश्च वाष्पधूम्राभ्यां जलशिराज्ञानम् –

यत्र निर्जले क्षेत्रे भूमौ वाष्पं तथा धूम्रो दृश्यते तर्हि तत्र क्षेत्रे पुष्कलं जलं भवति। द्विपुरुषपरिमिते क्षेत्रे तज्जलं भवतीति। तत्र चिह्नान्यपि–पुरुषे परिमितं खाते पाण्डुवर्णीयो जलं दृश्यते।[39]

मरुभूमौ जलशिराविचारः –

मरुभूमौ निर्जलेक्षेत्रे यदि करीरवृक्षस्योत्तरदिशि वल्मीको भवेत्तर्हि करीरवृक्षात् दक्षिणदिशि पञ्चपुरुषाधः जलं भवति। तत्र खाते प्रथमः पीतवर्णस्य भेकः दृश्यते। रोहितकीवृक्षात् त्रयहस्तपश्चाद्यदि सर्पगृहो भवेत्तर्हि तत्र द्विषड्भिः पुंभिः अधः सलवणं जलं भवति।[40] बृहत्संहितायामपि, अस्य योगस्य वर्णनम् अस्ति। यथाह –

उत्तरतश्च करीरस्याहिगृहं दक्षिणे जलं स्वादु।
दशभिः पुरुषैर्ज्ञेयंर्यं पुरुषे पीतोऽत्र मण्डूकः।।[41]

वल्मीकाज्जलशिराज्ञानम् –

यत्र मरुदेशे गौरवर्णीयः वल्मीको भवेत्तत्र पश्चिमस्यां पञ्चपुरुषाधो परिमिते जलशिरा भवति। तत्र चिह्नानि च – पश्चिमदिशि शिलाभूमिः, पुरुषपरिमितं अधः च पीतमृत्स्ना भवति। वल्मीकात् पूर्वदिशि यदि पीलूवृक्षो भवेत् तस्माद् दक्षिणदिशि सप्तपुरुषाधः परिमिते स्वादु जलं भवति। चिह्नानि चात्र–पुरुषपरिमितं अधः श्वेतश्यामवर्णो सर्पो दृश्यते तत्पश्चात् सलवणं जलं भवति।[42]

---

38. बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.54
39. सोष्मो धूम्रो यदि वा स्यात् द्विपुरुषपरिमितस्तत्र वारिप्रवाहो।
भूमेर्नीतचौस्त्वथस्थं द्विनरमिति पयः पाण्डुरूभूय नश्येत्। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोत्सवः श्लो.22
39. वल्मीकः सौम्यगश्चेदथ मधुरजलं स्यात् करीराच्च याम्यां
पानीयं पङ्क्तपुंभिः प्रथमनरमिते पीतवर्णोस्ति भेकः।
रोहितद्रोश्च पश्चादहि गृहमपि चेत् त्रिहस्तात् जलं स्यात
पुंभिः नीरं द्विषड्भिः सलवणमथशिराः पुष्कलाः पश्चिमास्था।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.24
41. बृहत्संहितायां दकार्गलाधयायः श्लो.67
42. वल्मीको गौरवर्णो यदि भवति ततः पश्चिमास्यां समीपे
पंपञ्चाधः शिरा वै शशिदिशि च शिली पंमिते मृच्च पीता।
वल्मीकः पीलु पूर्वो यमदिशिपुरुषात् सप्तपुंभिश्च तोयं
श्वेतश्यामोऽहिराद्ये वहुल सलवणं पुंसि हस्त प्रमाणम्।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.26

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इन्द्रद्रुमाज्जलशिराज्ञानम् –

इन्द्रद्रुमस्य पूर्वदिशि यदि अहिनकुलौ भवेताम् तर्हि तस्मात् पश्चिमदिशि हस्तपरिमितात् पुरुषपरिमिते तत्र गोधा तथा च चतुर्दशपुरुषपरिमिते खाते अधः जलं दृश्यते। कण्टकवृक्षः तथा नीमवृक्षो यदि समक्षमेव मिलतः यत्र तत्र तयोः पश्चिमयोः अष्टादशपरिमिते खाते अधः ईशगाढ्या नाम्नी शिरा च भवति।[43] यथाह बृहत्संहितायामपि –

इन्द्रतरोर्वल्मीकः प्राग्दृश्यः पश्चिमे शिरा हस्ते।
खात्वा चतुर्दश नरान् कपिला गोधा नरे प्रथमे।।[44]

कर्कन्धुपीलूवृक्षाभ्यां जलशिराज्ञानम् –

यदि मरुप्रदेशे कर्कन्धुवृक्षः तथा पीलूना मिलितः तत्र तस्मात् पूर्वदिशि त्रिहस्तपरिमिते दूरे विंशतिपुरुषाधः सलवणं जलम् भवति।।[45]

बिल्वकरीराभ्यां जलशिराज्ञानम् –

बिल्ववृक्षः यदि करीरवृक्षे मिलितो भवेत्तर्हि तस्मात् द्विहस्तादूरे चतुर्विंशतिपरिमिते खाते पुष्कलं नीरं च भवति।[46]

शमीवृक्षाज्जलशिराज्ञानम् –

निर्जले क्षेत्रे मरुप्रदेशे यत्र वल्मीकात् दक्षिणायां दिशि ग्रन्थिभिर्युक्तो शमीवृक्षो भवेत् तत्र तस्मात् वृक्षात् पश्चिमदिशि पञ्चाशत् पुरुषपरिमिते खाते अधः मधुरं जलं भवति। तत्र श्वेतकण्टकैर्युतैः शमीवृक्षात् दक्षिणदिशि अशीतिपुरुषपरिमिते खाते जलं भवति। तत्र अर्धपुरुषपरिमिते सर्पो भवति। यदि सर्पगृहात् समीपे यदि नीमवृक्षो भवेत्तर्हि तत्र पञ्चविंशतिपरिमिते खाते जलं भवति।[47]

---

43. इन्द्रद्रोः पारगहिगृहमतः पश्चिमे हस्तमात्रे
तोयं पुंभिर्दशयुगमितैः पुंमिते गोधिकास्ते।
निःपत्रद्रोर्भवति मिलिता कण्टकारी त्रिहस्ते
वारुण्यां स्यात् धृतिकरमितरीशगाढ्या शिरा चेत्। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.27
44. बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.69
45. कर्कन्धुश्चेति भवति मिलितः पूलुना वै त्रिहस्ते।
प्राच्यां तोयं बहुसलवणं विंशतिभ्यश्च पुंभिः।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.28
46. बिल्वः स्याच्चेत् ककुभमिलितो वा करीरो द्विहस्तात्
पश्चान्नीरं बहुलमधुरं तत्वसङ्ख्यैश्च पुंभिः।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.28
47. वल्मीकाद्दक्षिणस्यां यदि भवति शमी ग्रन्थिभिर्भूरियुक्ता
तद्वारुण्यां शतार्द्धैः जलमिति मधुरं पुंभिराद्यैः प्रदिष्टम्।
श्वेतैः स्यात्कण्टकैः सा यमदिशि पुरुषैर्वारि वाशीति सङ्ख्यैः
सर्पोऽर्द्धे पुंसि नीपोऽहिभवन मिलितः पञ्चविंशैर्नरैस्तत्। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.32

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पृथिव्यामन्यचिह्नैः जलशिराज्ञानम् –

यत्र मरुप्रदेशे यदि पृथिव्यां बहुस्निग्धा मृत्स्ना भवेत्तर्हि तत्र पञ्चविंशतिपुरुषमिते खाते मधुरं सुस्वादु जलं भवति। तत्र त्रिपुरुषान्ते खाते पाण्डुवर्णीया मृत्स्ना वा कृष्णवर्णा मृत्स्ना भवति। महानिम्बस्य वामे भागे सप्ततिपुरुषपरिमिते खाते जलं भवति। तत्र कोमलानि पत्राणि तथा सुमधुरविहगानां निवासो भवति।[48]

तत्र अन्ययोगेभ्यः औषधीभ्यश्च जलशिराज्ञानम् –

मरुदेशे यत्र गुल्मौषधयश्च, नीमवृक्षो शिम्पावृक्षो वा भवेत् तत्र पञ्चदशपुरुषपरिमिते खाते अधः जलं भवति। तत्र नागनिवासोऽपि भवतीति।[49] यदा वल्मीकोपरि दूर्वा कुशा दर्भाश्च पाण्डुरास्सन्ति तदा वल्मीकमूर्धनि मध्ये कूपो देयः। अत्रास्मिन् स्थाने एकविंशति पुरुषैर्परिमिते खाते जलम् भवतीति[50]।

अनुपदेशे जलस्थितिः

अनूपेदेशः बहूदकस्य पर्यायभूतो भवति। तत्र भूमेः समीपे एव बहूदकं भवति। तत्र एतस्य विषये विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदेऽपि[51] प्राहः–

आनूपदेशसमीपवर्ती सुनिश्चितं भूरिजलं च।।[52]

आनूपदेशे यदि औषधयः, जलीयवनस्पतिः, गुल्मवल्लयः, सार्द्राभूः तथा यत्र मशको वीरणं वोलयावाश्च भवेत् तत्र पुरुषपरिमिते खाते जलं भवति। यदि निम्नाभूः भवेत्तर्हि त्रिकरपरिमिते च परिमाणे खाते तत्र जलं भवति।[53]

तत्रानूपे क्षेत्रे जलं बहुसमीपे एव भवति। यत्र दन्ती, रुदन्ती, त्रिवृता, शिवा, माषपर्णी,

48. या सा स्निग्धा बहुभुवि यदा पञ्चविंशैनरैः स्यात्
तोयं कृष्णात् त्रिपुरुषमधो मृत्तिका पाण्डुरा वा।
पुंसप्तत्या भवति च महानिम्बतो वामभागे
पानीयं स्यात् मृदुघनदलात् सुस्वरास्तद्विहङ्गाः।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.33
49. गुल्मैषध्यः सुहरितदला यत्र वा नीमशिम्पाः।
तत्राम्बुः स्यात् तिथिनरमितं तत्र सर्प्पोऽथदेवः।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.34
50. वल्मीकमूर्धनि यदा दूर्वा च कुशाश्च पाणिडुराः सन्ति।
कूपो मध्ये देयो जलमत्र नीरैकत्रिंशत्या।। बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.77
51. तदनूपे वाच्यं जाङ्गलभूमौ तु पञ्चभिः पुरुषैः।
एतैरेव निमित्तैर्मरुदेशे सप्तभिः कथमेत्। बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.89
52. विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.39
53. देशेऽनूपे हरितजलजा औषधि गुल्मवल्यो
भूमिः सार्द्रामशकसहिता वीरणं वोलयावा।
तोयं तत्र प्रचुरमधुरं पुंमितेऽधः स्थितं स्यात्
निम्नाभूर्वा त्रिकरपिरमितं तत्र तोयं प्रदिष्टम्।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.35

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गरुडवेगा, ज्योतिष्मती, व्याघ्रपदी तथा वाराही वनस्पतयः यत्र स्थिताः तदनूपे प्रदेशे बहुसमीपे भूमौ जलं भवतीति।[54]

साधारणदेशे जलस्थितिः –

साधारणदेशे सर्वत्र एव जलं भवति इति प्राचीनविद्वद्भिः ऋषिभिश्च प्रोक्तम्। निकटस्थचिह्नेषु दशहस्तपूर्वे तु प्रभूतं जलं भवतीति।[55]

पर्वतीयदेशे जलस्थितिः–

पर्वतीयक्षेत्रेषु तस्य देशस्य स्थितिं परिमाणञ्च दृष्ट्वा विचक्षणः जलसम्बन्धे जलस्थितिं वदेत् इति।[56] पर्वतीयक्षेत्रे बोधिवृक्षः, उदुम्बरवृक्षः, पलाशवृक्षः, तथा न्यग्रोधश्च यत्र मिलन्ति तत्र त्रिपुरुषपरिमिते खाते भूरि जलं भवति। एतद् पर्वतीयक्षेत्रेषु जाङ्गले योगः।[57] तथाह च बृहत्संहितायां–

न्यग्रोधपलाशोदुम्बरैः समेतैस्त्रिभिर्जलं तदधः।
वटपिप्पलसमवाये तद्वद्वाच्यं शिरा चोदक्।।[58]

तत्र भूमिगुणानुसारेण जलस्थितिः –

प्राचीनोक्त्यानुसारेण यस्य स्थानस्य संज्ञा निर्झरेणैव भवेत् तत्पर्वते पाषाणसन्धौ द्रुममूलतः च तत्र जलसिद्धिरेव भवति।[59]

अनूपदेशे त्वथ पर्वतीये शिरोद्भिः भूरिजला च दृष्टा।
तीर्थेऽन्यदेशेऽपि च देवताग्रे भूमेरधस्तात् क्वचिदूर्ध्वगामी।।[60]

शिलाविचारे जलनिर्णयः –

पूर्वदिशि उन्मुखः उदुम्बरसमाभा, अञ्जनाभा, वैडूर्यसमाभा, पलालसमा धूम्रवर्णीयाभा तथा कपिलवर्णीयाभा युक्ता शिला यदि भवेत् तत्र समीपे बहुजलं भवति इति।[61] अनेन प्रकारेण जलज्ञानं विधाय तत्र जलप्राप्त्यर्थं कूपादिकं कार्यमिति।

---

54. दन्ती रुदन्ती तृवृता शिवा वा स्यामाषपर्णी गरुडाशुवेगा।
ज्योतिष्मती व्याघ्रपदी वराही यत्रास्ति तत्राम्बु समीपवर्ती।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.36
55. विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.40
56. विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.41
57. बोधिद्रुमोदुम्बरिकापलाश न्यग्रोधयोगश्च मिथो यदि स्यात्
पुंभिस्त्रिभिस्तत्र जलं च तेषां मधःस्तले जाङ्गलके च भूरि।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.43
58. बृहत्संहितायां दकार्गलाध्यायः श्लो.96
59. उक्ता पुरा निर्झरसंज्ञका या देशे भवेत्सा खलु पर्वतीये।
पाषाणसन्धे द्रुममूलतो वा सिद्ध्यैव निर्याति न तत्र मानम्।। वश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.48
60. विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोत्सवः श्लो.49
61. प्रागुन्मुखोदुम्बरभाञ्जनाभा वैडूर्यकावत् द्युतिमौक्तिकाच्छा।
पलालधूम्राकपिला शिला या तस्याः समीपे बहुतोयमस्ति।। विश्ववल्लभवृक्षायुर्वेदः प्रथमोल्लासः श्लो.50

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वनस्पतीमहत्त्वम्

डॉ. रामबाबूपाण्डेयः

वनस्य पतिः वनस्पतिः। अत्र पारस्करादित्वात् सुडागमे वनस्पतिरिति। संस्कृतसाहित्ये वनस्पितिजगतो वर्णनं विविधरूपेण प्राप्यते। वनस्पतिशब्देन सामान्यरूपेण वृक्ष एव गृह्यते स्म। पश्चात्तु वृक्षवीरुधवनस्पत्योषधिश्च मध्ये अन्तरं स्थापितम्। वृक्ष शब्दस्तु वृक्षार्थे एव रूढः सञ्जातः। फलपक्वान्ते ये वीरुधावनस्पतयः शुष्यन्ति ते ओषधयः कथ्यन्ते। पुष्पोद्गमविनैव फलोत्पादकवृक्षा वनस्पति-कोट्यां परिगण्यन्ते, वट-अश्वत्थ-प्रभृतयः। उक्तं च मनुस्मृतौ-'विना पुष्पं फलिद्रुमः'[1] अपि च 'अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः'[2] वृक्षमात्रम् इति। नन्दीवृक्षोऽश्वत्थभेदः प्ररोहो गजपादपः। स्थालीवृक्षः क्षयतरुः क्षीरी च स्याद्वनस्पतिः[3]। इति। घृतपृष्ठस्य पुत्रविशेषे भागवते यथा- आत्मा मधुरुहो मेघपृष्ठः सुधमा भ्राजिष्ठो लोहितवर्णो वनस्पतिरिति घृतपृष्ठसुधाः[4]। वटवृक्षः तत्पर्य्यायो यथा- 'वटो रक्तफलः शृङ्गी न्यग्रोधाः स्कन्धाजो ध्रुवः। क्षीरी वैश्रवणावासो बहुपादो वनस्पतिः।।' इति भावप्रकाशस्य पूर्वखण्डे प्रथमे भागे कथिमस्ति।

श्रीमद्भगवद्गीतायां कथिमस्ति यत्- सम्पूर्ण भौतिकं जगत् अव्यक्तपरमेश्वरस्य योगमायया उत्पद्यते। ईश्वरः सर्वमभिव्याप्य तिष्ठति। तं विना ब्रह्माण्डस्य किमपि वस्तु स्थातुं न शक्नोति- **'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्'**[5] भवन्तु मानवाः, सागराः, गिरयः, नद्यः, वनानि, वनस्पतयः, अन्यानि च सकलानि भौतिकवस्तूनि वा सर्वत्र भगवत एवैश्वर्यं विलसति। जनानां सुखसमृद्ध्यर्थं वनस्पतीनाम् अस्तित्वं सुतरां महत्त्वपूर्णमस्ति। मानवस्य आर्थिकप्रगतौ, सामाजिकविकासे, सांस्कृतिकेऽभ्युदये, औषधिविज्ञानसमुन्नतौ च वनस्पतीनां योगदानं सर्वथा उल्लेखनीयमास्ते। मानवानामपि वनस्पतीनां विकासे संरक्षणे च महत्त्वपूर्णं योगदानंविद्यते। वेदशास्त्रार्थतत्त्वदृष्टारो ऋषयः सर्वप्रथमं वनस्पतीनां यथार्थज्ञानं प्राप्तवन्तः। गृहस्थानां, तपस्वीनां, गुरुकुलानां, चिन्तकानां, पशुपक्षिणां, शुद्धवातावरणस्य च कृते वनस्पतयः महोपयोगिनः सन्ति। वनस्पतीनां सर्वाणि अङ्गानि परोपकारार्थम्- पुष्पाणि, फलानि, काष्ठानि सर्वाण्यपि अवयवानि परोपकाराय एव, तेषां किमपि वस्तु स्वार्थाय नहि।

---

1. मनु. 1/47
2. मेदिनी-216
3. भावप्रकाशे -1.1
4. भा. पु. 5.20.21
5. श्रीमद्भ.गीता10.39

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अत एव साधु कथितम्- **'परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः'** । वृक्षाः सर्वेषां प्राणिनां कृते जीवनप्रदातारो भवन्ति। अतस्तेषां जीवनं सर्वोत्कृष्टं भवति। ते महीरूहाः धन्याः सन्ति येषां पार्श्वात् कोऽपि जनो निराशो न याति-

अहो एषां वरं जन्म सर्व प्राण्युपजीवनम्।
धन्या महीरुहा येभ्यो निराशां यान्ति नार्थिनः॥

वृक्षाः स्वपुष्पैः फलैः छायाभिः मूलैः वल्कलैः काष्ठैः गन्धैः निर्यासैः भस्मभिः अङ्गारैः शाखाभिश्च सर्वेषां कल्याणं कुर्वन्ति-

पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः।
गन्धनिर्यासभस्माथितोक्मैः कामान् वितन्वते।[6]

वृक्षाः न केवलं पुष्पैः फलैः काष्ठादिभिश्च विश्वं समृद्धं कुर्वन्ति, अपितु प्राणदायकवायुना पर्यावरणमपि शुद्धं कुर्वन्ति। वादरायणश्रीकृष्णद्वैपायनेन पर्यावरणसंतुलनाय वनानां महत्त्वमित्थं प्रतिपादितं महाभारतस्य उद्योगपर्वणि-

निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रः छिद्यते वनम्।
तस्माद् व्याघ्रो वनं रक्षेद् वनं व्याघ्रं च पालयेत्॥[7]

स्वसुखनिरभिलाषः वनस्पतिः लोकहितार्थं प्रतिदिनं कष्टं सहते, मूर्ध्ना तीव्रमातपमनुभवति परन्तु सर्वदा संश्रितानां जनानां छायां कुर्वन्ति- उक्तञ्च **'छायामन्यस्य कुर्वन्ति तिष्ठन्ति स्वयमातपे'**। पर्यावरणस्य परिष्कारार्थं वृक्षाः अहर्निशं कार्यं कुर्वन्ति। चाणक्यनीतिदर्पणे प्रतिपादितं यत् एकेनैव सुवृक्षेणसुगन्धिना सम्पूर्णं वनं पर्यावरणं च सुवासितं भवति यथा एकैनैव सुपुत्रेण सम्पूर्णकुलं संसारे कीर्तिं प्राप्नोति-

एकेनापि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना।
वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा॥[8]

कतिपयपादपाः धार्मिकदृष्ट्या विशेषरूपेण महत्वपूर्णाः सन्ति। 'वृक्षायुर्वेदे' प्रतिपादितमस्ति यत् यो नरः एकम् अश्वत्थम्, एकं न्यग्रोधं, दश चिञ्चिणीं, त्रयं कपित्थबिल्वामलकं पञ्चाम्रवृक्षान् चारोपयति स कदापि नरकं न याति-

अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेकं न्यग्रोधमेकं दशचिञ्चिनीकम्।
कपित्थबिल्वामलकत्रयञ्च पञ्चाम्ररोपी नरकं न पश्येत्॥[9]

---

6. भा.पु. 10.22.34
7 म. भा. उद्योगपर्वणि 29/55
8 चाणक्यनीतिदर्पणे 3/14
9 वृक्षायुर्वेदे 23

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

यत्र च सपुष्पफला वृक्षा उच्छिद्यन्ते तत्र प्रकृतिः रुष्टा भवति। तत्र अतिवृष्टिः अनावृष्टिः दुर्भिक्षं च प्रादुर्भवति येन तत्रस्था जनाः बहुविधक्लेशं प्राप्नुवन्ति। अतः वृक्षाः कदापि नहि विच्छेद्याः। पत्रपुष्पफलदायिवृक्षाणां का कथा, महाकविकालिदासस्तु व्यवहरति यत् विषवृक्षोऽपि कदापि न छेदनीयः - **'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्'**[10] वराहपुराणे इदं तथ्यं स्थापितमस्ति यत् यः नगरोपवने स्थितान् वृक्षान् छिनत्ति सः जृम्भणं नाम नरकं प्रति गच्छति। वृक्षजातीनां छेदनं तु साक्षाद् नरकमेव - **छेदनं वृक्षजातीनां द्वितीयं नरकं स्मृतम्**[11] अतः वृक्षाः कदापि नहि विच्छेद्याः।

वृक्षाः सर्वथासंरक्षणीयाः। फलोत्पादकवृक्षाणां छेदनं दण्डनीयोऽपराधोऽस्ति इत्यपि कविभिः निवेदिताः। अस्माकं शास्त्रेषु वनस्पतिलोकेन सह कथं व्यवहर्त्तव्यमित्येतत्सम्बन्धे प्रचुरनिर्देशाः प्रदत्ताः सन्ति। सामान्यतया सर्वे पादपाः समानरूपेण आदरणीयाः संस्कृतवाङ्मयस्य अवगाहनेन इदं स्पष्टमस्ति यत् वृक्षाः प्राचीनकालादेव देवता इव पूजिता आसन्। यजुर्वेदे ऋषिणा वृक्षाणां वनानां औषधीनां वनस्पतीनां नमस्कारः कृतो विद्यते, येषु वृक्षेषु सूर्यस्य अशुद्धिं हरणशीलानि किरणानि प्रवेशं कुर्वन्ति। तेषां च वृक्षाणां वनानां संरक्षकान् प्रत्यपि नमनं कृतं तत्र, अनया भावनया ऋषीणां पर्यावरणं प्रति सद्भावना प्रदर्शिता वर्तते। सा वस्तुतः प्रशंसनीया अस्ति। यथा-

नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो वनानां पतये नमः
वृक्षाणां पतये नमः औषधीनां पतये नमः।
वृक्षाणां पतये नमः अरण्यानां पतये नमः॥[12]

वस्तुतः वनस्पतीनां, वनानाम्, औषधीनां संरक्षकाः पालकाः संवर्द्धकाः अनेन कारणेन नमस्कारयोग्याः सम्मानयोग्याश्च सन्ति वैदिकानाम् ऋषीणां दृष्टौ, यतोहि तैः सर्वैः प्राणिनामाधारभूतानां पोषकतत्त्वानां च संरक्षणकृतमस्ति।

एतैः वृक्षैः वनस्पतिभिश्च प्राप्तेन आहारेण खलु अस्य संसारस्य पोषणं भवति, सर्वे प्राणिनः स्वस्थाः भूत्वा संसारस्य सर्वेषु कार्येषु प्रवृत्ताः भवन्ति। एतादृश्याः कृतज्ञतायाः भावना अथर्ववेदेऽपि प्रकृतिं प्रति उल्लिखितमस्ति। यथा-

तिस्रो दिवस्त्रिप्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक्।
त्वयाहं सर्वाभूतानि पश्यानि देव्योषधे॥[13]

वैदिकानाम् ऋषीणां विशेषतः अथर्ववेदीयानां ऋषीणाम् औषधीं प्रति अतीव सायुज्यमासीत्। ते खलु तेषामौषधीनां महत्त्वं जानन्ति स्म। तेषां च गुणेभ्योऽपि सम्यक्तया परिचिता आसन्, अनेनैव

---

10 कुमारसंभवम् 2/55
11 वराहपुराणे 61/2
12 यजु. १६/१७-२०
13 अथर्व.4.20.2

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तैः वनसम्पदां प्रति वेदेषु स्थले-स्थले कृतज्ञता प्रदर्शिताः। तैः एतदपि कथितमस्ति यत् एतेषां वनवृक्षादिकानां संपोषणस्य ज्ञानं सर्वेषां कर्तव्यमस्ति। एताः खलु सर्वाः औषध्यः अस्माकमपि वचनान् श्रृणवन्तु। अथर्ववेदे अस्य भावाभिव्यक्तिः सम्यक्-तया संजाता यथा -

यश्चाहं वेदवीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा
अज्ञाता जनीमश्च या यासु विद्म च समभृतम्।
सर्वाः समग्राः औषधीर्बोधन्तु वचसो मन
यथेमं पारयामासि पुरुषं दुरितादधि॥[14]

तपस्विनामाश्रमस्थेषु वनस्पतिषु अद्भुद्चमत्काराः प्राप्यन्ते। अभिज्ञानशाकुन्लस्य चतुर्थेऽङ्के महर्षेः काश्यपस्याश्रमे विभिन्नवनस्पतीनां विस्मयकारिणो व्यवहाराः सादरम् उल्लेखनीयाः सन्ति। शकुन्तलायाः प्रस्थानकाले तस्याः मण्डनार्थं वनदेवैः वनस्पतिभिश्च बहुमूल्यानि माङ्गल्यानि विविधानि आभूषणानि क्षौमवस्त्राणि लाक्षारसप्रभृतिवस्तूनि सहर्षं प्रदत्तानि। यथा-

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविस्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥[15]

अनेन ज्ञायते यत् तपोवने तरवः सम्यक् संरक्ष्यन्ते। स्वप्नवासवदत्ते आदिनाटककारः भासो व्यवहरति-**'वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः'**[16] एतेन वर्णनेन स्पष्टमिदं यत् संस्कृतसाहित्ये वनस्पतीनां भूयिष्ठं जीवनदर्शनं निरूपितमस्ति। अद्यापि सर्वे जनाः यदि तथैव वृक्षान् प्रति भावना धारयेयुः तर्हि सर्वेषां जीवनं सुखदायकं भवेत्।

वनस्पतयः औषधिगुणसम्पन्ना भवन्ति। अस्माकम् आदिकाव्ये वाल्मीकिरामायणे तथ्यमिद स्फुटं निरूपितमस्ति। युद्धकाण्डे यदा लक्ष्मणः शत्रुवाणेन मृतकल्पः सञ्जातः। तदा सुषेणः बलिष्ठं हनुमन्तम् औषधिमानयनार्थमुवाच-

सौम्य शीघ्रमितो गत्वा पर्वतं हि महोदयम्।
पूर्वं तु कथितो योऽसौ बीरजाम्बवता तव॥
दक्षिणे शिखरे जातां महौषधिमिहानय।
विशल्यकरणीं नाम्ना सावर्ण्यकरणीं तथा॥

---

14. अथर्व. 8.7.18-19
15. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4.5
16. स्वप्नवासवदत्तम् 1/21

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सञ्जीवकरणीं वीर सन्धानीं च महौषधिम्।
सञ्जीवनार्थं वीरस्य लक्ष्मणस्य त्वमानय॥[17]

बलिष्ठः हनुमान् सपर्वतमौषधिमानीतवान्। सुषेणः त्वरितमेव लक्ष्मणं तदौषध्या विरुजं विशल्यं च चकार।

वृक्षायुर्वेदानुसारं वृक्षाणां महत्त्वं प्रयोजनानि च - यथा अश्वत्थः- अश्वत्थवृक्षस्य रसः कषायःभवति। अयं गुरुगुणयुक्तः, रूक्षः वीर्यशीतः च। अयम् अवत्थः आकारस्य कारणात् वृक्षजातौ अन्तर्भवति तथैव औषधीयत्वस्य कारणात् औषधीयानां सस्यानां गणेऽपि अन्तर्भवति। अश्वत्थस्य फलानां खादनेन मलबद्धता निवार्यते। जीर्णक्रिया चापि वर्धते। अस्य त्वचः चूर्णं व्रणस्य उपरि लेपयति चेत् व्रणः अपगच्छति। अस्य चूर्णं, वटवृक्षस्य चूर्णं, 'बसरि' इत्यस्य वृक्षस्य चूर्णं, औदुम्बरवृक्षस्य चूर्णं, 'हूवरि' वृक्षस्य चूर्णं च योजयित्वा जलं योजयित्वा सम्यक् क्वथनीयम्। इदं कषायं 'पञ्चवल्कलकषायम्' इति उच्यते। इदं कषायं मुखे संस्थाप्य गण्डूषकरणेन मुखस्य पिटिकाः अपगच्छन्ति। महिलानां श्वेतस्रावः अस्ति चेत् गर्भाशयस्य प्रक्षालनार्थम् अपि इदं कषायम् उपयोक्तुं शक्यते। अस्य काण्डस्य दारूणि बहूपयोगाय न भवन्ति। केवलम् इन्धनत्वेन उपयोक्तुं शक्यते। सजीववृक्षस्य कश्चन निर्यासः स्रवति। एषः सुवर्णाभरणनिर्माणार्थं भवति। पञ्चाग्नि वृक्षेणु अयं अन्यतमः। अस्य वृक्षस्य शाखानां सपत्रः परभागः समिद्रूपेण यज्ञादिषु उपयुज्यते। अस्य मूलस्य त्वक् आयुवेदीयौषधिनिर्माणे उपयुज्यते। अयं श्लोकः वृक्षस्य गरिमां सूचयति- **'अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेकं न्यग्रोधमेकं दशचिञ्चिनीकम्।**[18] इत्यादि।

निम्बवृक्षस्य रसः तिक्तः, अस्य त्वक्, निर्यासः, पर्ण, पुष्पं, पल्लवं, फलं, बीजस्य तैलं, रसः च औषधित्वेन उपयुज्यते। यद्यपि निम्बः अत्यन्तं तिक्तः तथापि संजीवनी इव। पुस्तकानां मध्येऽपि अस्य पर्णानि स्थाप्यन्ते। तेन पुस्तकानि कीटैः न खाद्यन्ते। मषकाणां निवारणाय अस्य काष्ठैः पर्णैः वा धूमः उत्पाद्यते। निम्बवृक्षस्य कटुता दाहहन्त्री चापि उक्तञ्च-

निम्ब! त्वदीयकटुता यदि दाहहन्त्री गायन्तु मूढमनुजास्तव दोषगाथाः।
तप्तास्त एव तपनोपमपित्ततापैः गास्यन्ति मित्रवर! तावकगीतिकानि॥[19]

हे! निम्ब यदि त्वदीय कटुता दाहहन्त्री मूढजनाः तव दोषगाथा गायन्तु। मित्रवर! ते एव तपनोपमपित्ततापैः तप्ताः तावकगीतिकानि गास्यन्ति। अतः निम्बः संजीवनी इवैव।

वटवृक्षः अत्यन्तः विशालः वृक्षः, तस्मात् सः वृक्षगणे अन्तर्भवति। औषधीयानां गुणानां सस्यानां गणे अपि अन्तर्भवति। अस्य रसः कटुः तथा कषायः। अयं रूक्षः, शीतगुणयुक्तः च। अस्य

17. श्रीमद्वा. रा. युद्धकाण्डे 101.30-33
18. वृक्षायुर्वेद 23
19. तत्रैव

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

रसः कण्ठवेदनां, व्रणं, गुल्फछेदनं, दन्तवेदनां, दन्तपल्याः वेदनां च निवारयति। अस्य त्वचा निर्मितं चूर्णं जले संयोज्य निर्मितं कषायं मधुमेहरोगिणां हितकरम्। अस्य वृक्षस्य पर्णस्य उपरि तैलं लेपयित्वा तद् उष्णीकृत्य पिटकानामुपरि स्थापनेन पिटिकाः बहुशीघ्रं अपगच्छन्ति। अस्य वृक्षस्य फलं वृष्यत्वेन अपि उपयुज्यते। पादपानां लोकोत्तरं माहात्म्यं विचार्य गुरुमिव तान् नमस्करोति पण्डितराजजगन्नाथः। स लिखति-

धत्ते भरं कुसुमपत्रफलावलीनां, धर्मव्यथां वहति शीतभवां रुजं च।
यो सर्वमर्पयति चान्यसुखस्य हेतोः तस्मै वदान्यगुरवे तरवे नमोऽस्तु।[20]

अस्मिन् विषये इत्येव निवेद्यते यत् संस्कृतसाहित्ये वनस्पतिविषये यत् किमपि वर्णितं तन्न ज्ञातुं शक्यते वैयाकरणैः। औषधिविशेषज्ञाः एव अस्मिन् विषये ज्ञातुं समर्थाः सन्तीति।

---

20. भामिनीविलास-वन्यरत्ने

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दिनमान

पं. देवनारायण झा

"दिन दिनेशस्य यतोऽत्र दर्शने तमी-तमो हन्तुरदर्शने सति।" इस गोलीय वचन प्रमाण से क्षितिज से ऊपर सूर्य रहने पर दिन और क्षितिज से नीचे सूर्य रहने पर रात्रि होती है। अर्थात् पृथ्वी का जो भाग सूर्य बिम्ब के सामने पड़ता है। वह दिन कहलाता है और जो भाग सूर्य के प्रकाश से ओझल रहता है वह रात्रि होती है। पृथ्वी अपनी धुरी पर प्रायः 24 घंटे में एक बार चक्कर लगा लेती है। यह 24 घंटे का दिन-रात्रि का मान औसत है। काल के अनेक मान हैं। इनमें नौ मान प्रसिद्ध हैं।

ब्रह्मं दिव्यं तथा पित्र्यं प्राजापत्यं च गौरवम्।
सौरञ्च सावनं चान्द्रमार्क्षं मानानि वै नव ॥[1]

ब्राह्मम्- ब्रह्मसम्बन्धी, दिव्य- देव सम्बन्धी, पित्र्य- पतृसम्बन्धी, प्राजापत्यम्- मनु सम्बन्धी, गौरवम्- बृहस्पतिसम्बन्धी, सौर- रवि सम्बन्धी, सावनम्- भू सम्बन्धी, चान्द्रम्- चन्द्रसम्बन्धी, आक्षम्- नक्षत्र सम्बन्धी मान है।

उपर्युक्त नव मानों में भी मानव जीवन में चार प्रकार के मान का ही व्यवहार होता है। जैसे-भास्कराचार्य ने कहा है-

वर्षायनर्तुयुगपूर्वकमत्र सौरान् मासास्तथा च तिथयस्तुहिनांशुमानात्।
यत् कृच्छ्रसूतकचिकित्सितवासराद्यं तत् सावनाच्च घटिकादिकमार्क्षमानात्।।[2]

वर्ष, अयन, युगादि सौर मान से मास, तिथि का विचार चान्द्र मान से व्रत उपवास, चिकित्सा, सूतक, वासरादि सावन से, घटिकादि का ज्ञान नाक्षत्र मान से होता है। परन्तु पाश्चात्य देशों में केवल मान सावन को भी व्यवहार में लाते हैं। **सौरमान- रवेश्चक्रभोगोऽर्कवर्षं प्रदिष्टं द्युरात्रं च देवासुराणां तदेव।**[3] 360^0 का भगण होता है। इसमें मेषादि 12 राशियां होती हैं। जब

---

1. सूर्यसिद्धान्त मानाध्याय श्लोक 1
2. सि.शि.म.का. श्लो. 31
3. सि.शि. म. कालमानाध्याय श्लो. 19

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सूर्य अपनी प्राक् गति से 1 वर्ष में सम्पूर्ण 12 राशियों का भ्रमण करता है तो उसे सौर वर्ष कहते हैं। 360^0 में 12 से भाग देने पर 30^0 का एक सौर मास होता है। एक सौर मास को 30 से भाग देने पर 1^0 मान का एक सौर दिन होता है। सौर दिन में 60 सौर घटिका होती है। एक सौर घटिका को 60 से विभक्त करने पर एक सौर विघटिका होती है।

दैव-मान-एक सौर वर्ष देवताओं और दैत्यों का एक अहोरात्र होता है। किन्तु देवताओं का जो दिन होता है। वही राक्षसों की रात होती है। इस तरह 360 सौर वर्ष देवताओं का एक वर्ष होता है। यही-दैव-मान होता है।

चान्द्रमान-**''रवीन्दोर्युते संयुतिर्यावदन्या विधोर्मासः।'' ''दर्शः सूर्येन्दुसंगम''** अर्थात् अमान्त में ही सूर्य एवं चन्द्रमा का योग होता है। उसके बाद चन्द्रमा अपनी शीघ्र गति से जब वह प्रथम योग बिन्दु में आता है। तब उसका एक भगण पूरा हो जाता है। सूर्य अपनी गति से आगे रहता है। जब चन्द्रमा पुनः सूर्य के साथ होता है तब दूसरा दर्शान्त होता है। प्रथम दर्शान्त से दूसरे दर्शान्त तक के समय को चान्द्रमास कहते हैं। एक चान्द्रमास में 30 तिथियां होती हैं। अतः एक तिथि में 12^0 होते हैं।

नाक्षत्रमान -नक्षत्रों के प्रवहवायु से पश्चिमाभिमुख भ्रमण से एक उदय से दूसरे उदय पर्यन्त के समय को दिन कहते हैं। **''भवासरस्तु भभ्रमः''**[4] अर्थात् भभ्रम ही नाक्षत्र दिन कहलाता है।

सावन दिन - **''इनोदय द्वयान्तरं तर्कसावनं दिनम्''**[5] दो सूर्योदय के अन्तर की अवधि को सावन दिन कहते हैं। इसे ही कुदिन भी कहते हैं।

पैत्रम् -चान्द्रमास ही पितरों का एक अहोरात्र होता है।

कल्पना कीजिए की सूर्योदय समय में ही रवि व चन्द्र मेष राशि के प्रारम्भ में स्थित हों, तब एक साथ ही सौर, सावन, चान्द्र, नाक्षत्र दिनों की प्रवृत्ति होगी। उसके बाद प्रवह गति से पश्चिमाभिमुख जाता हुआ सूर्य जब पुनः उदय क्षितिज में आयेगा तब **'इनोदयद्वयान्तरं तदर्कसावनं दिनम्'** इस परिभाषा से एक सावन दिन की पूर्ति होगी। नाक्षत्र दिन पुनः मेषारम्भ के उदयक्षितिज में आने पर ही पूर्ण हो जाता है। वहाँ सूर्य के पूर्वाभिमुख एक अंश चलने पर एक सौर दिन हो जायेगा। एक सावन दिन में मध्यम रविगति 59 / 8' मध्यम चन्द्र गति 790' / 35" दोनों का अन्तर 731' / 27" इसमें 720^0 से भाग देने पर 1'/0'/57" से प्राप्त होता है इसी मध्यममाान से चान्द्र दिन की पूर्ति हो जाती है। सौर, चान्द्र, नाक्षत्र दिनों के स्वरूपावलोकन से ज्ञात होता है कि

4. सि.शि. कालमानाध्याय 19
5. तत्रैव 19

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इन सभी का कब आदि और कब अन्त होता है इसका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता है। गणित के द्वारा ही इनका साधन किया जाता है। परन्तु सावन दिन का अवलोकन प्रत्यक्ष होता है। इसीलिए प्राचीन और अर्वाचीन सभी आचार्यों ने अर्क सावन दिन को ही ग्रहादि साधन एवं व्रतादि के लिए उपयोग में लाया है।

नाडी वृत्त से दक्षिण एवं उत्तर सूर्य जितना झुका हुआ रहता है वह क्रान्ति कहलाती है। 90^0 में क्रान्ति को घटाने पर उसका द्युज्या चापांश होता है। ध्रुव स्थान से स्व-स्व द्युज्या चापांश से रचित स्व-स्व अहोरात्र वृत्त ही दिन एवं रात्रि के न्यूनाधिक (बड़ा, छोटा) होने का कारण बनता है। परमोत्तर क्रांति में परम दिन होगा और परम दक्षिण कान्ति में परम रात्रि होगी।

क्षितिज वृत्त के ऊपर अहोरात्र वृत्त का जो खण्ड होता है। वह दिन का मान होता है और क्षितिज वृत्त से नीचे अहोरात्र वृत्त का मान रात्रिमान होता है। निरक्षश में क्षितिज वृत्त और उन्मण्डल वृत्त दोनों एक ही होते हैं। उन्मण्डल वृत्त, नाडी वृत्त को समद्विभाग करता है। इसलिए वहाँ दिन-रात्रि का मान बराबर होता है। अर्थात् 30-30 घटी का दिन एवं रात्रि का मान होता है। अन्यत्र भूपृष्ठस्थ का, अक्षांश, क्रान्ति आदि के द्वारा दिनमान एवं रात्रिमान का ज्ञान होता है। वहाँ विषुवद्दिन को छोड़कर दिन-रात्रि का मान बराबर नहीं होता है।

निरक्ष देश से 66 अक्षांश के अन्तराल में स्थित प्रदेशों का स्व-स्व क्षितिजवृत्त, स्व-स्व अहोरात्र वृत्त को समद्विभाग नहीं करता है। क्योंकि उनका क्षितिजवृत्त, उन्मण्डल वृत्त से भिन्न होता है। अतः वहाँ उन्मण्डल वृत्त, स्वक्षितिजवृत्त दोनों के मध्य में अहारात्रवृत्त में चरखण्ड-काल होता है और उन्मण्डल, याम्योत्तर का अन्तर मान 15 घटिका होती है। उस चरखण्ड काल को सौम्य गोल में उन्मण्डल से नीचे क्षितिज रहने के कारण 15 घटी में चर खण्डकाल जोड़ने से और याम्यगोल में उन्मण्डल से उपर क्षितिज रहने के कारण 15 घंटी में चरखण्डकाल घटाने से दिनार्ध मान होता है। दिनार्ध को 30 में घटाने पर रात्र्यर्ध होता है। दिनार्थ को द्विगुणित करने पर दिनमान होता है और रात्र्यर्ध को द्विगुणित करने पर रात्रिमान होता है। इसीलिए दिन-रात्रि की व्यवस्था के लिए आचार्य भास्कर ने कहा है-

चरघटीसहिता रहिताः क्रमात्तिथिमिता घटिकाः खलु-गोलयोः।
भवति तद् द्युलं निजसावनं खगुणतः पतितं रजनीदलम्।।[6]

90^0 में परमक्रान्ति घटाने से अर्थात् 66 पलांश स्थान में जब मिथुनान्त में सूर्य आता है तब वहाँ उसके अहोरात्र वृत्त के क्षितिज के साथ बिन्दुमात्र समागम होने से 60 घटी का दिनमान

---

6. सि.शि. कालमानाध्याय 20

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

होता है। उसके बाद जैसे-जैसे पलांश की वृद्धि हागी वैसे-वैसे दिनमान भी बढ़ेगा। इसी तरह वृषान्त द्युज्याचापांश तुल्य पलांश में मिथुन कर्क के वहाँ के क्षितिज को उर्ध्व रहने से वहाँ स्थित सूर्य सदा दिखता है। इसीलिए वहाँ दो मास के बराबर दिन होता है। मेष क्रान्ति को 90^0 में घटाने से जो मान होगा उसके बराबर अक्षांश देश में चार मास के बराबर दिन होता है। वहाँ वृष, मिथुन, कर्क, सिंह हमेशा उदित दिखते हैं। जहाँ 90^0 के बराबर पलांश होता है। वहाँ सायन मेष से सायन तुलादिपर्यन्त 6 राशि को क्षितिज से ऊपर रहने के कारण वहाँ स्थित सूर्य बराबर दिखता है। इसलिए वहाँ 6 मास के बराबर दिनमान होता है।

90^0 का पलांश सुमेरु और कुमेरु पर होता है। सुमेरु पर देवताओं का वास है और कुमेरु पर दैत्यों का वास है। दोनों का अन्तर 180^0 पर है। इसलिए वहाँ दोनों का दिन, रात विपरीत होता है। अर्थात् नाड़ी वृत्त से उत्तर जब तक रवि घूमता है तब तक देवताओं का दिन होता है और दैत्यों की रात्रि होती है। नाड़ी वृत्त से दक्षिण सूर्य के भ्रमण से दैत्यों का दिन होता है और देवताओं की रात्रि होती है। दोनों का क्षितिजवृत्त नाड़ी मण्डल ही है। सायन तुलादि में दैत्यों का दिन होता है और देवताओं की रात्रि होती है।

अब गर्भक्षितिजस्थित किसी बिन्दु से भूबिम्ब स्पर्श रेखा करें। वह रेखा ऊर्ध्वाधर सूत्र में जहाँ लगता है। वहीं यदि दृष्टि स्थान की कल्पना करते हैं तब वहाँ स्थित द्रष्टा गर्भ क्षितिज स्थित सूर्य बिम्ब को देखेगा एवं उपर्युक्त दृष्टि स्थान से जैसे-जैसे दृष्टि स्थान ऊपर होगा वैसे-वैसे गर्भक्षितिज से नीचे भाग में सूर्य बिम्ब दिखेगा।

भू-पृष्ठोर्ध्ववासियों के ध्रुव से नीचे स्थितवालों के स्वगर्भीय नाडयाख्य भुज से नीचे दृश्यांशवश से जो दृक् स्थान ध्रुव सूत्र ऊर्ध्वाधर सूत्र में गिरेगा। उस स्थान पर द्रष्टा के दिन रात्रि मान एवं दृश्यांश भू पृष्ठवासियों का दिन-रात्रि मान की व्यवस्था इस प्रकार से होगी। गर्भ क्षितिज से नीचे जितना अंश दिखाई देता है वह दृश्यांश होता है। दृश्यांशवश से कमलाकर ने सिद्धान्त तत्त्व विवेक में द्रष्टा के दृष्टि उच्चछ्राय मान का वर्णन अच्छी तरह से किया है।

एक राशि अपमांश तुल्य दृश्यांश में दृष्टि उच्छ्रायगत द्रष्टा के मीनादि से तुला तक भ्रमण करते हुए रवि के अनुसार आठ मास का दिनमान होता है और अवशिष्ट चार मास रात्रि मान होता है। इसी तरह 2, 3 राशि अपमांश तुल्य दृश्यांश में भी जानना चाहिए। जिस प्रकार उत्तर ध्रुव से विचार करते हैं। उसी तरह दक्षिण ध्रुव से भी विचार किया जाता है। इससे अधिक अपमांश तुल्य दृश्यांश सिद्ध उच्छ्राय स्थित दृष्टि को सूर्य का दर्शन सर्वदा होता है।

नाड़ी वृत्त से उभय दिशा में जिनांश तुल्य परमान्तरित होने से सूर्य के जिनांशाक्ष प्रदेश में और उससे अल्पाक्ष प्रदेश में भी अधोखस्वस्तिक में सूर्य के जाने से वहाँ भू पृष्ठोर्ध्वदृष्टि दृश्यांश

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वश से सदा उसका अवलोकन असंभव है। अधोनिरक्षदेश से स्वाध खस्वस्तिक तो अक्षांशतुल्य अन्तरित है। वहाँ यदि अक्षांश = 24^0 + कुच्छन्न कला। अधोनिरक्ष खस्वस्तिक से उत्तर सूर्य के परमगमन प्रान्त से-भूविम्ब स्पर्श रखेगा तो उस ऊर्ध्वाधर खस्वस्तिक गत रेखा के समानान्तर होगा। अतः दोनों के योग के अभाव होने से ऊर्ध्वाधर सूत्र में वैसा बिन्दु नहीं है जहाँ दृष्टा के जाने के बाद सदा सूर्य रहे।

जहाँ अक्षांश > 24^0 + कुच्छन्न कला, वहाँ परम रवि के गमन से अधः खस्वस्तिक कुच्छन्न कलाधिक अन्तरित है। वहाँ परम रवि गमन प्रान्त से भूविम्व स्पर्श रेखा अवश्य ऊर्ध्वाधर पर सूत्र में मिलती हैं। असमानान्तर होने से वहाँ योगबिन्दुगत द्रष्टा सर्वदा रवि दर्शन करेगा।

पूर्वोक्त जो दृक् चिह्न है उससे अत्यन्त अधिक ऊपर ब्रह्म का निवास स्थान है। तो क्यों नहीं ब्रह्मा का सदा दिन होगा। भास्कराचार्य ने सिद्धांत शिरोमणि में कहा है-

''यदतिदूरगतो द्रुहिणः क्षितेः सततमाप्रलयं रविमीक्षते।''[7]

पितृ दिन की व्यवस्था **''विधूर्ध्व भागे पितरोवसन्ति''**[8] इन भास्करीय सूत्र से स्पष्ट होती है कि हम लोगों के पितर चन्द्र पृष्ठ पर वास करते है। कल्पना कीजिए कि तब तक चन्द्रमा क्रान्ति, विमण्डल के योग बिन्दु के पातस्थान में है। अब भूकेन्द्र से चन्द्र बिम्ब केन्द्रगत सूत्र करें। वहाँ सूत्र रविगोल में जहाँ लगता है। वहाँ हम लोगों के पितरों का रविगोल खमध्य होता है। उस रविगोलीय खमध्य में जब सूर्य आता है। तब हम लोगों का अमान्तकाल होता है और पितरों का मध्याह्न काल होता है।

वहाँ रविचन्द्र योग से चन्द्र योग करके पुनः पश्चात् जब वहाँ रवि चन्द्र का योग होता है। तब हम लोगों का एक चान्द्रमास होता है क्योंकि-**''दर्शावधिश्चन्द्रमसो हि मासः''**[9] इस नियम से पितरों का तो मध्यह्न से मध्याह्न पर्यन्त एक दिन होता है। अतः सिद्ध होता है कि हम लोगों का एक चान्द्रमास पितरों का एक दिन होता है।

इस प्रकार देश विभिन्न स्थितियों के कारण ही दिनमान में भी विभिन्नता प्राप्त होती है। जिसका साधन सिद्धान्त ज्योतिष के मानक सिद्धान्तों के आधार पर करना ही युक्तियुक्त है।

---

7. सि.शि. गोला. त्रिप्रश्नवासना श्लो. 15
8. तत्रैव श्लो. 13
9. सि.शि. गोला. मध्यगतिवासना श्लो. 16

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सांस्कृतिक धरोहर एवं परिवर्तन

डॉ. वागीश शर्मा 'दिनकर'

धर्मप्राणे सुराष्ट्रेऽस्मिन् धर्म एव हि संस्कृतिः।
उभयोरन्तरं नास्ति स सा, सा स च नान्यथा॥

इस धर्मप्राण देश भारत में धर्म को ही संस्कृति नाम से पुकारा जाता है। धर्म और संस्कृति में कोई अन्तर नहीं है। धर्म ही संस्कृति है, संस्कृति ही धर्म है। श्री शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता के सप्तमाध्याय के चौदहवें मन्त्र में–**''सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा''**–अंश तथा इसी संहिता के इकत्तीसवें अध्याय के सोलहवें मन्त्र में **आयाप्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्**–अंश हमारे इस कथन के पोषक है कि विश्वव्यापिनी प्रथमा संस्कृति तथा यज्ञपरक प्रथम धर्म एक ही है पृथक्–पृथक् नहीं। मन, वाणी एवं क्रिया इन तीनों द्वारा किया गया वह कर्म जो सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक किसी भी देशकाल तथा वस्तु से परिच्छिन्न न रहकर निरन्तर सम्पादित हो रहा है, संस्कृति या धर्म के नाम से ही अभिहित हो रहा है। कर्म के वक्ता या संपादक अन्य हो सकते हैं किन्तु कर्म का मूल स्वरूप यथावत् ही रहता है। वैदिकसंहिताओं में, मनु प्रभृति धर्मशास्त्रकारों के स्मृतिग्रन्थों में, रामायण–महाभारत सदृश इतिहासग्रन्थों में, पुराणों में, आचार्य चाणक्य प्रभृति आचार्यों द्वारा प्रणीत नीतिग्रन्थों में, भास कालिदास प्रभृति महाकवियों के काव्यों एवं नाटकों में यहाँ तक कि आधुनिक लेखकों तक की भाषा में जिन जीवन मूल्यों का स्पष्ट संकेत हमें मिल रहा है उन्हें ही हम संस्कृति या धर्म के नाम से पुकारते हैं। यह सांस्कृतिक धरोहर या विरासत हमें युग–युगों से प्राप्त होती आ रही है।

सृष्टि का निर्माण करने से पूर्व प्रजापति ब्रह्मा ने प्रलयकाल से पूर्व की सृष्टि प्रक्रिया का स्मरण करके अपने चारों मुखों से चारों वेदों का उच्चारण किया–

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥[1]

उक्त वचन से सिद्ध है कि वैदिक वाङ्मय हमारी प्राप्त लेख सामग्री का सर्वप्रथम वाङ्मय है। वेदों से लेकर आज तक जिस सांस्कृतिक विरासत का हम गर्व के साथ उल्लेख कर

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सकते हैं वह है हमारी शास्त्रनिष्ठा। शास्त्रविधि का परित्याग करके मनमानी करना न तो सिद्धिदायक है, न सुखकारक और न परमगति प्रदायक। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि–

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।[1]

हम अपने को कहते हैं–**शास्त्रप्रमाणका वयम्। यच्छास्त्रमाह तदस्माकं प्रमाणम्।** शास्त्रनिष्ठा का स्वरूप इतना प्रबलतम हो गया कि वेद और उनका अनुसरण करने वाली स्मृतियों के विषय में ननु-नच करने की भी आवश्यकता नहीं रही क्योंकि धर्म का स्वरूप उन्हीं के द्वारा जाना जाता है। मनु महाराज ने कहा है कि–

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रंतु वैस्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्वभौ।।[2]

शास्त्रों में निष्ठा या विश्वास का अर्थ है शास्त्रोक्त वचनों पर विश्वास। अन्य सांस्कृतिक विरासत के जीवन मूल्यों को न ले वर्ण व्यवस्था को ही लें तो ज्ञात होगा कि सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक भारतवर्ष में यह व्यवस्था किसी न किसी रूप में निरन्तर चली आ रही है। ऋक् संहिता तथा यजुःसंहिता में पठित- **ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।** पुनः अथर्वसंहिता में– **बाहू राजन्योऽभवत् तथा मध्यं तदस्य यद् वैश्यः।** इस पाठान्तरे के साथ आज भी हमें उपलब्ध हो रहा है। वैवस्वत मन्वन्तर के प्रवर्तक मनु महाराज ने चारों वर्णों के तप की भी चर्चा की है। यह चर्चा सत्ययुग की है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एवं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः।।[3]

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्।।[4]

त्रेतायुग में भगवान् राम का राज्याभिषेक होने पर आदिकवि महर्षि वाल्मीकि कह रहे हैं कि–

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा लोभविवर्जिताः।
सर्वे लक्षण सम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणाः।।[5]

---

1. गीता 16/23
2. मनुस्मृति 2/10
3. मनुस्मृति 10/63
4. मनृस्मृति 11/235
5. रामायण युद्धकाण्ड 128/104

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

द्वापरयुग में महारानी कुन्ती भगवान् कृष्ण से भीम और अर्जुन के लिए संदेश देती हुई कह रही है कि–

एतद् धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः।
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः।।[6]

कलियुग के सन्त महाकवि तुलसीदास के माध्यम से महर्षि वसिष्ठ के द्वारा समझाये जाने पर भरत से वसिष्ठ जी कहते हैं कि

सोचिय विप्र जौ वेदविहीना। तजि निज धरम विषय लव लीना।।
सोचिय नृपति जौ नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना।।
सोचिय बैस कृपन धनवान्। जो न अतिथि शिव भगति सुजानू।।
सोचिय शूद्र विप्र अवमानी। मुखर मान प्रिय ग्यानगुमानी।।[7]

इतना ही क्यों? महाराजाधिराज विक्रमादित्य के भाई और शतकत्रय के निर्माता महाकवि भर्तृहरि कह रहे हैं।

आज्ञा कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानाम् कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण।।[8]

अर्थात् यदि ब्राह्मणों की पालनवृत्ति नहीं जगी तो राजा की सेवा करने का क्या लाभ?

'मातृदेवो भव, पितृ देवो भव' परम्परा का पालन भी हमें सांस्कृतिक विरासत में प्राप्त हुआ है। वैदिक संहिताओं में जहाँ–**नमो मात्रे पृथिव्यै, तन्माता पृथिवी, तत्पिता द्यौः, माताभूमिःपुत्रोऽहं पृथिव्याः ॐ** शब्दों में मातृवन्दन का विधिवद् विधान किया गया है वहीं मनु प्रभृति धर्मशास्त्रकारों ने पत्नी को जाया बताकर मातृ वन्दना का पोषण किया है। **जायायास्तद् हि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः।** अर्थात् पत्नी को जाया इसलिए कहा जाता है कि पति माता द्वारा जन्म लेने के पश्चात् गर्भ बनकर पुत्र रूप में पत्नी के माध्यम से पुनः जन्म ग्रहण करता है। मनु महाराज कहते हैं कि–

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन भार्यां रक्षन् हि रक्षति।।[9]

इतना ही क्यों? मनु ने तो यहाँ तक कह दिया है कि माता पृथिव्या मूर्तिस्तु अर्थात् माता पृथिवी की साक्षात् प्रतिमा है। हमने यह ऐतिहासिक सद्वचन भी सुना है कि भगवान् गणेश की

6.. म.भा. उद्योग पर्व 137/9-10
7. रामचरितमानस अयोध्याकाण्ड 109/2-3
8. नीतिशतक 48
9. मनुस्मृति 09/07

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सब देवताओं से प्रथम पूजा इसलिए होती है क्योंकि उन्होंने पृथिवी की परिक्रमा करने के स्थान पर माता पार्वती की परिक्रमा कर ली थी। भगवान् श्री राम ने तो यहाँ तक कह दिया कि–

नह्यतो धर्मचरणं किञ्चिदस्तिमहत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वचन क्रिया॥[10]

अर्थात् पिता के वचनों को सुनना और उनका पालन करने से बढ़कर कोई धर्माचरण नहीं है। माता और पिता की पूजा का यह क्रम न्यूनाधिक रूप में सम्पूर्ण भूमण्डल में आज भी दृष्टिगत हो रहा है। भारतवर्ष में तो माता-पिता की पूजा की यह परम्परा आज सर्वाधिक रूप में विद्यमान दिखाई दे रही है, यह हर्ष का विषय है।

महाभारत ग्रन्थ के आदिपर्व के 190वें अध्याय वाला द्वापर युग का वह इतिहास हम सभी को अवगत है कि जब महाबली भीमसेन तथा धनञ्जय अर्जुन द्रुपदकन्या द्रौपदी को लेकर सायंकाल अपने आवास पर पधारे तो चिन्ताकुल माता कुन्ती से उन्होंने–माँ हम भिक्षा लाये हैं–ऐसा कहा। माता कुन्ती ने द्रौपदी को देखे बिना ही–तुम सब इस भिक्षा को भोगो–ऐसा कह दिया। द्रौपदी को देखकर माता कुन्ती बहुत दुःखी हुई कि मैंने यह कैसा अनर्थ कर दिया। माता ने पुत्र युधिष्ठिर को कहा कि बेटा, मैंने बहुत अनिष्टकारी वाक्य बोल दिया है। तुम ऐसा समाधान निकालो कि तुम्हें भी पाप न लगे और इस द्रौपदी का भी परलोक न बिगड़े। माता को आश्वस्त करके युधिष्ठिर ने अर्जुन को द्रौपदी के साथ विवाह करने का आग्रह किया तो अर्जुन ने बड़े भाई के कुमार रहने पर छोटे भाई के विवाह को अनुचित बताया। तत्पश्चात् युधिष्ठिर के द्वारा यह व्यवस्था दी गई कि हम सबमें सौमनस्य बना रहे और माता की आज्ञा का भी पालन हो, इसलिए यह द्रौपदी हम पाँचों की भार्या रहेगी। सभी पाण्डवों ने इस व्यवस्था को स्वीकार किया और भारतीय इतिहास की एकमात्र घटना के रूप में द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की पत्नी बनी। माँ को देवशक्ति मानकर उसकी आज्ञा के पालन का ऐसा उदाहरण विश्व में कहीं नहीं मिलेगा। हम कह सकते हैं कि– **भारतं भारतं यस्य दृष्टान्तं महदद्भुतम्। जयतु भारतम्।** महाकवि तुलसीदास ने कलियुग के एकमात्र आधार रामचरितमानस ग्रन्थ में वनवास के लिए जाते हुए लक्ष्मण से यह कहकर मातृपूजा व पितृपूजा को और भी अधिक पुष्टता प्रदान की है कि–

तात तुम्हार मातु वैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥[11]

'मातृदेवो, पितृदेवो भव' की पारिवारिक सांस्कृतिक धरोहर या सांस्कृतिक विरासत से लेकर भारतराष्ट्र की अक्षुण्ण परम्परा के पोषण-संरक्षण की राष्ट्रीय सांस्कृतिक विरासत भी हमें वेदों से लेकर आज तक के साहित्य में अविच्छिन्न रूप में प्राप्त है। संसार भर के पुस्तकालयों

---

10. रामयण अयोध्या काण्ड 19/22
11. अयोध्याकाण्ड

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

में सबसे अधिक प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में राष्ट्र के नायक राजा से अनुरोध किया गया है कि–

विश्वत्वा सर्वावान्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्।।[12]

अर्थात् हे राजन्, जनता तुम्हें प्यार करती रहे। तुम्हारा राष्ट्र कभी नष्ट न हो।

यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के बाईसवें अध्याय के बाईसवें मन्त्र में तो राष्ट्र की योगक्षेम भावना की परमात्मा से प्रार्थना करते हुए ऋषि सुस्पष्ट कह रहे हैं कि हे ब्रह्मन् मेरे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चसी हो, क्षत्रिय महारथ तथा लक्ष्य वेधकारी हो महिलाएँ परिवार की पोषक हों, युवाशक्ति सभ्यतायुक्त हो, मेरे राष्ट्र में समयानुसार वर्षा हो तथा मेरे राष्ट्र का योगक्षेम यथाविधि चलता रहे। यथा– **आ ब्रह्मन्....योगक्षेमो नः कल्पताम्।।** यजुः।।22।।22।। अथर्ववेद में भी राष्ट्र की ध्रुवस्थिति की प्रार्थना की गई है–

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्च वायुश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्।।[13]

आदिकाव्य वाल्मीकिरामायण के बालकाण्ड के सप्तम सर्ग में राजा दशरथ के राज्य की सुव्यवस्था का वर्णन करते समय कहा गया है कि राजा दशरथ के राष्ट्र इस भारतवर्ष में कोई व्यक्ति दुष्ट या परदारगामी नहीं था। सारी अयोध्या राजधानी तथा सारा भारत राष्ट्र पूर्णतया प्रशान्त था।

कश्चिन्न दुष्टस्तत्रासीत् परदाररतो नरः।
प्रशान्तं सर्वमेवासीद् राष्ट्रं पुरवरं च तत्।।[14]

इतना ही नहीं– **नासीत पुरे वा राष्ट्रे वा मृषावादी नरः क्वचित्।।**[15]

राष्ट्र में कोई असत्यवादी नहीं था। उपनिषदों का राजा जनपद नाम से कहे जाने वाले राष्ट्र के विषय में स्पष्ट घोषणा करता है कि–

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहितोग्नर्नविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।।

राजो को कोई अन्य चिन्ता हो, या न हो राष्ट्र की चिन्ता अवश्य रहा करती थी कि मेरा राष्ट्र अवश्य सुरक्षित रहे। मुझ जैसा अकिञ्चन राष्ट्रभक्त भी परमेश प्रभु से यही प्रार्थना करता है कि–

---

12. ऋक् मण्डल 10 सूक्त 173 मन्त्र 01
13. 6।88।1
14. रामायण बालकाण्ड 7।15
15. रामायण बालकाण्ड 7।14

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मैं कुशल कौटिल्य रिपु की कुटिलता पहचानता हूँ।
राष्ट्ररक्षाहित सदा मैं रुद्र बनना चाहता हूँ॥
प्राण तन अन्तःकरण में यही प्रभु से प्रार्थना है।
रहे अक्षय राष्ट्र की संस्कृति यही आराधना है॥

राष्ट्र भावना का उदय तभी होगा जब हम सामूहिक जीवन जीने की कला में प्रवीण होंगे। सौभाग्य से सामूहिक जीवन जीने की कला भी हमें सांस्कृतिक धरोहर या विरासत के रूप में ही प्राप्त हुई है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥[16]

मनु महाराज का यह वचन भी सम्पूर्ण विश्व को चरित्रवान् बनाने के उद्देश्य से **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** वैदिक वाक्य का पर्याय बनकर सामूहिक जीवन जीने की कला का एक निदर्शन है इसमें सन्देह नहीं। ऋक्, यजुः, साम लक्षण सनातन ब्रह्मत्रयी में उपलब्ध गायत्री मन्त्र में जो बुद्धि को सत्कर्मों में प्रेरित करने वाली श्रेष्ठ प्रार्थना की गई है वह भी 'धीमहि' पद के माध्यम से सामूहिक जीवन जीने की कला को ही प्रदर्शित करती है। अथर्ववेद का मन्त्र–

ये नः पितुः पितरो ये पितामहास्तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेय॥[17]

अर्थात् हमारे पिता के पितृ कोटी के तथा पितामहकोटी के चाचा, ताऊ, बाबा आदि हैं उनको प्रणाम– इस अर्थ में जहाँ सामूहिक जीवन की झाँकी के दर्शन हो रहे हैं वहीं आज भी भारत के घर-घर में विद्यमान संयुक्त परिवार प्रथा भी दृष्टिगत हो रही है। मनु स्मृति का निम्न श्लोक भी सामूहिक जीवन को प्रतिष्ठित कर रहा है क्योंकि 'प्राहुः' पद का बहुवचन इसी ओर संकेत करने वाला है।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियात्मनः।
एतच्चतुविधिं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥[18]

त्रेतायुग के भगवान् राम के शासन काल में निर्लोभ ब्राह्मणो, क्षत्रियो, वैश्यों और शूद्रों का वर्णन तो है ही, परन्तु वहाँ सारी प्रजा के धर्मपरायण होने का भी सुखद वर्णन विद्यमान है। सामूहिक जीवन की वहाँ झाँकी देखने को मिलेगी।

स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वस्व कर्मभिः।
आसन् प्रजा धर्मपरा रामे शासति नानृताः॥[19]

16. मनुस्मृति 2/20
17. 18।2।49
18. मनु 2/12
19. रामायण काण्ड युद्ध 0128।103

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सिद्ध इतिहास ग्रन्थ महाभारत भी धर्म के विषय में सामूहिक मान्यता को ही स्वीकृति प्रदान करता है, एक को नहीं। यथा–

धारणाद् धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः।।[20]

इस श्लोक के 'आहुः' तथा 'प्रजाः' पद बहुवचन के ही हैं। एकवचन के नहीं। कलियुग के प्रसिद्ध सन्त महाकवि तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस ग्रन्थ का समापन भी सामूहिक जीवन पद्धति को ही स्वीकार करते हुए किया है।

श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्याऽवगाहन्ति ये
ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति को मानवाः।।[21]

गोस्वामी जी जानते हैं मानस का पाठ करने वाला व्यक्ति एक ही होगा फिर सामूहिक जीवन पद्धति के प्रति आस्था होने के कारण उन्होंने 'मानवाः' पद में बहुवचन का ही प्रयोग किया है, एकवचन का नहीं। इस प्रकार हम सहर्ष कह सकते हैं कि सामूहिक जीवन जीने की कला भी हमारी सांस्कृतिक धरोहर या विरासत है नवीन या नवागन्तुक नहीं।

भारतीय जीवन मूल्यों की तालिका में ऐसे अनेक तत्त्व विद्यमान हैं जिन्हें हम सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक निरन्तर अव्याहत रूप में पा रहे हैं किन्तु प्रसन्नता है कि शास्त्रनिष्ठा 2 वर्णव्यवस्था (3) मातृदेवो भव, पितृदेवो भव (4) राष्ट्रीय भावना तथा (5) सामूहिक जीवन जीने की कला ये पाँच तत्त्व आज भी भरतभूमि के नगर-नगर में, गाँव-गाँव में या घर-घर में सहजतया देखे जा सकते हैं।

शास्त्रनिष्ठा में परिवर्तन का स्वरूप आज यहाँ भी दिखाई दे रहा है। **त्रयो वेदस्य कर्तारो धूर्तभाण्ड निशाचराः**–चार्वाक जैसे नास्तिकों की यह उक्ति यहाँ यत्र-तत्र देखने को मिल रही है। परिवार या कुटुम्ब से किसी दुष्ट कर्मा का बहिष्कार या अलगाव इतिहास की बातें कहकर आज छोड़ा जा रहा है। सन्तोष इतना ही है कि भारत राष्ट्र इस मान्यता को आज भी स्वीकृति दे रहा है।

वर्ण व्यवस्था भी आज अव्यवस्थित होती जा रही है। एक अक्षर न जानने वाला भी आज ब्राह्मण बोला जा रहा है। भुजाओं में सर्वथा शक्ति न रखने वाले को भी आज राजपूत नाम से पुकारा जा रहा है। राष्ट्र रक्षा या देश रक्षा की तो चर्चा दूर वह घर को भी नहीं संभाल पा रहा है। इतनी ही भगवत्कृपा है कि राष्ट्र रक्षा का दायित्व आज भी शूर-वीर राजन्य वर्ग ही सम्भाल रहा है। वैश्यवृत्ति आज चारों वर्णों द्वारा अपनायी जा रही है। सन्तोष और शान्ति इतनी ही है कि धनुकुबेर

---

20. महा.कर्ण.69/58
21. उत्तरकाण्ड, अन्तिम श्लोक

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

या धनपति आज वैश्यवर्ग ही दिखाई दे रहा है। अर्थलोभ अथवा आसक्ति के कारण आज तथाकथित ब्राह्मण भी शूद्रकर्म अर्थात् सेवा कर रहा है किन्तु परिगणित जाति ही आज सेवाप्रमुख है। यह विषय अलग है कि सफ़ाई कर्मचारी की भी अपने काम में उतनी अभिरुचि नहीं रही जितनी पहले थी। युग के इस प्रभाव को कैसे टाला जाय? **'मातृदेवो भव पितृदेवो भव'** की भावना में भी आज कमी आयी है। विदेशों में तो यहाँ तक सुना गया है कि माँ या बाप, बेटे की इच्छा इसलिए पूरी करते हैं कहीं बेटा आकर गोली न मार दे। सन्तोष इतना ही है कि हमारा राष्ट्र भारत इस भीषण बुराई को अभी नहीं झेल रहा है, परन्तु आगे आगे दिखाई दे सकता है।

राष्ट्रीय भावना का प्रभाव आज सारे भूमण्डल को घेरे हुए है। पाकिस्तान की रचना में प्रमुख भूमिका निभाने वाले शायर का गीत–**सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा**–आज भी, अर्थात् स्वाधीनता के 70 वर्ष बीत जाने पर भी बड़े चाव के साथ गाया जा रहा है। तथाकथित साम्यवादी राष्ट्र भावना को मिटाने का यद्यपि प्रयत्न कर रहे हैं परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिल पा रही है। भारतवर्ष आज भी हर्ष के साथ–

महिमण्डल में सुन्दरतर यह भारत वर्ष हमारा है।
हम कोकिला इस उपवन की यह उद्यान हमारा है॥

इस गीत को गाने में गर्व और गौरव का अनुभव कर रहा है।

सामूहिक जीवन जीने की कला का यद्यपि वर्तमान दूरदर्शन और आकाशवाणी के प्रयोग से बहुत कुछ ह्रास हुआ है तथापि मन से न सही तन से ही सही जीवन की यह कला आज भी विद्यमान है। निर्वाचन पद्धति के दूषित प्रयोग ने यद्यपि जातिवाद, क्षेत्रवाद और प्रान्तवाद जैसे राष्ट्रवाद विरोधी तथा सामूहिक जीवन विरोधी तत्त्वों को बहुत उकसाया है तथापि सामूहिकता की जीवन कला अभी विद्यमान है और विश्व की जनसंख्या का छठा भाग होकर भी हमारा राष्ट्र भारत बना हुआ है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विश्व की भूमण्डलीय प्रक्रिया में सांस्कृतिक विरासत के रूप में जितने जीवन मूल्यों को हमारे देश ने संभाल-संजोकर रखा है उतना किसी अन्य देश ने नहीं।

संस्कृति की यह श्रेष्ठ विरासत भारत में जितनी अक्षुण्ण।
नहीं कहीं अन्यत्र देश में, राष्ट्र रहे यह सुख सम्पन्न॥
जयतु भारतम्। जयतु भारतीया संस्कृतिः।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुशास्त्र की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

डॉ.अशोक थपलियाल

वास्तु शब्द वस् धातु से निष्पन्न है, जो निवास अर्थ में प्रयुक्त है।[1] अर्थात् निवास स्थान, भवन निर्माण करने योग्य भूमि, वह स्थान जहाँ प्राणी निवास करता है, उसे वास्तु कहते हैं। वास्तु केवल मनुष्यादि प्राणियों का ही निवास नहीं है अपितु देवताओं के निवास होने से इसे वास्तु कहा गया है।[2] इस वास्तु को अनुशासित करने वाला शास्त्र ही वास्तुशास्त्र है। कहा जा सकता है कि वास्तु की निर्माणविधि के सिद्धान्तों व नियमों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र वास्तुशास्त्र है। यह शास्त्र भूमि की गुणधर्मिता का परीक्षण करके, उस पर भवननिर्माण विधि का ज्ञान कराने में अत्यन्त सहायक है। वास्तुशास्त्र का उद्देश्य प्राकृतिक तत्वों, पंचमहाभूतों के सामंजस्य से वास्तुविन्यास की विधि प्रतिपादित करना है। भवनादि में पंचतत्त्वों का सही संतुलन बनाये रखना, वास्तु में रहने वालों के लिए पर्याप्त सुविधा व सुरक्षा की व्यवस्था करना तथा आवास समस्या को व्यवस्थित तरीके से सुलझाना भी वास्तुशास्त्र का उद्देश्य रहा है जिससे निवासकर्ता की शारीरिक व मानसिक क्षमताओं में अभिवृद्धि में सहायता हो सके। निवासकर्ता को सक्रिय व स्वस्थ रखा जा सके तथा सर्वविध सुखी, शान्त व सुरक्षित भवननिर्माण योजना में सहायता दी जा सके।

वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों एवं नियमों में न केवल वास्तुशास्त्र के उद्देश्यों की पूर्ति दिखाई देती है अपितु भवननिर्माण योजना को वैज्ञानिक तरीके से सुव्यवस्थित प्रस्तुत करने का लक्ष्य भी दिखाई देता है। प्रस्तुत लेख में वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों एवं नियमों में छिपे हुए वैज्ञानिक तथ्यों का प्रतियादन किया गया है।

वास्तुपुरुषोत्पत्ति – मत्स्यपुराण[3] के अनुसार अन्धकासुर के वध के समय भगवान शिव के ललाट से स्वेद बिन्दु भूमि पर गिरा जिससे एक विराट व भयंकर आकृति वाला पुरुष उत्पन्न हुआ। उसने अन्धकगण का रक्तपान किया परन्तु अतृप्त होने के कारण वह त्रिलोकी के भक्षण हेतु उद्यत हुआ। यह देखकर भगवान् शंकर के आदेश पर सभी देवों ने उसे पकड कर पृथिवी पर

---

1. वाचस्पत्यम् पृ. 4888
2. मत्स्यपुराण 251/14
3. मत्स्यपुराण अध्याय 251

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अधोमुख कर उसके ऊपर स्वयं प्रतिष्ठित होकर वास्तुपुरुष के रूप में उसे प्रतिष्ठापित किया। प्रायः इसी प्रकार बृहत्संहिता, बृहद्वास्तुमाला आदि ग्रन्थों में भी वर्णन प्राप्त होता है।

विज्ञान में सृष्ट्युत्पत्ति परिकल्पना की उपर्युक्त वास्तुपुरुषोत्पत्ति से बहुत समानता दिखाई देती है। वैज्ञानिकों के अनुसार सृष्ट्यारम्भ में अन्धकार था जिसमें सृष्टि के सघन तत्व (डार्क मेटर) विद्यमान थे। उनमें ऊर्जाबलधाराओं के साथ संघर्षण से महाविस्फोट हुआ, जिससे तारों व आकाशगंगाओं का जन्म हुआ। इसे बिगबैंग सिद्धान्त भी कहते हैं। ये सभी तारे व आकाशगंगायें ब्रह्माण्ड के केन्द्र से परिधि की ओर फैल रही है।[4] भारतीय चिन्तन के अनुसार भी सृष्ट्यारम्भ में अन्धकार था जिसमें सृष्टि के सघन तत्व ऊर्जाबलधाराओं (Energy) के साथ मिलकर हिरण्यगर्भ के रूप में विद्यमान थे। इसके छेदन से ही ग्रह-नक्षत्रादि उत्पन्न हुए।[5]

वास्तुपुरुषोत्पत्ति का सृष्ट्युत्पत्ति परिकल्पना से तारतम्य किया जाय तो अन्धकासुर व डार्कमेटर, शिव व ऊर्जाबलधारा (Energy), हिरण्यगर्भ व स्वेदबिन्दु, विस्फोट से सृष्टि निर्माण व वास्तुपुरुष उद्भव, सृष्टि की प्रसरणशीलता व वास्तुपुरुष का विस्तार, पृथिवी का अग्नि, जल, वायु, गुरुत्वाकर्षण, चुम्बकीय क्षेत्र, अक्षभ्रम आदि से प्राणियों के निवास योग्य बनना व देवताओं द्वारा शिव स्वेदादुद्भूतपुरुष को नियन्त्रित कर वास्तुपुरुष के रूप में प्रतिष्ठापित करना परस्पर गुम्फित से दिखायी देते हैं। वस्तुतः भारतीय चिन्तनधारा के अनुसार वास्तुपुरुष उद्भव कथा का तात्पर्य भौतिक सृष्टि की आदि अवस्था का वर्णन है। शिव कल्याण परक देवता है। इस घटना का आदिदैविक चिन्तन ही इसे नियन्त्रित रखता है क्योंकि कलाएं आसुरी सम्पदाएं हैं। इनका भौतिकस्वरूप समाज के लिए कहीं विनाशक न हो जाय इसीलिए हमारे यहाँ सभी कलाएं देवत्व से अनुप्राणित हैं।

भूमि परीक्षण - वास्तुशास्त्र में भूमिपरीक्षण हेतु ब्राह्मणादि वर्णों के लिए रंग, गन्ध, रस, तृण व प्लव के आधार पर निम्नलिखित प्रकार से शुभ कहा गया है[6]-

वर्ण	-	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र
रंग	-	सफेद	लाल	पीला	काला
गन्ध	-	सुगन्धित	रक्तगन्धा	अन्नगन्धा	मद्यगन्धा
रस	-	मधुर	कसैला	अम्ल	कडवा

---

4. ब्रह्माण्ड और सौरपरिवार पृ.16-17
5. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे.....- ऋग्वेद हिरण्यगर्भसूक्त मन्त्र-1
6. बृ.वा.माला मिश्रप्रकरण - श्लोक 27-36

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तृण	–	दर्भ	शरपत	दूर्वा	कास
प्लव	–	उत्तर	पूर्व	दक्षिण	पश्चिम

भूमि परीक्षण का कार्य मिट्टी की गुणवत्ता तथा गुणधर्मिता का आंकलन कर तदनुरूप गृहनिर्माण के लिए आवश्यक है। प्रथम प्रकार की ब्राह्मणी भूमि ब्राह्मण अर्थात् बुद्धिजीवी वर्ग के लिए सर्वोत्तम भूमि कही गयी है। जिसका अधिक ठोस तथा शान्त प्रकृति का होना, इस वर्ग के लिए चिन्ता, तनाव आदि से मुक्त रहकर स्वाध्याय व अन्य धार्मिक व परियोजनादि कार्यों के निष्पादन करने में सहायक होती है। द्वितीय प्रकार की क्षत्रीय भूमि क्षत्रियवर्ण अर्थात् रक्षासम्बन्धी कार्य करने वालों के लिए उत्तम कही गयी है, जो ओजस्विता व साहस को बढाने में सहायक होती है। तृतीयप्रकार की वैश्या भूमि व्यवसायियों के लिए शुभ कही गयी है जो प्रबन्धकों एवं व्यवसायियों को निरन्तर परिवर्तन एवं विकास प्रदान करने में सहायक होती है। चतुर्थ प्रकार की शूद्र भूमि शूद्र अर्थात् श्रमिकवर्ग एवं कृषिकार्य के लिए अति उत्तम होती है, वस्तुतः श्रमिकवर्ग अस्थायी रूप से कच्चे मकान में ही प्रायः निवास करते हैं, साथ ही अपने रोजगार क्षेत्र के निकट ही वे निवास पसन्द करते हैं। भारत कृषिप्रधान देश रहा है, अतः श्रमिकवर्ग कृषिक्षेत्र के ही निकट प्रायः अपना निवास बना लेते हैं। एतदर्थ कम ठोस भूमि भी उनके लिए शुभकारी कही गयी है। वास्तुशास्त्र में प्रायः चार प्रकार के भवनों का उल्लेख मिलता है। शैलमय, इष्टिकामय, काष्ठमय तथा तृणादिमय। वस्तुतः उपर्युक्त चारों प्रकार के भवनों के लिए ब्राह्मणादिवर्गों के लिए कथित भूमि ही उत्तम है। वास्तुशास्त्र के आचार्यों ने ब्राह्मणादि वर्णों की चर्चा कार्यक्षेत्र के आधार पर की है, ऐसा परिलक्षित होता है।

भूमि का घनत्व परीक्षण – वर्णानुसार भूमि चयनोपरान्त भी भूमि के घनत्व परीक्षण हेतु कई विधियां कही गयी हैं। जिनमें वैज्ञानिक तथ्य स्पष्टरूप से देखे जा सकते हैं[7]–

1. भूमि में 1 घन हस्त खात खोदकर निकाली हुई मिट्टी से पुनः खात भरने पर मिट्टी का बचना शुभ, खात पूर्ण होना सम व खात भरने के लिए मिट्टी का कम होना अशुभ। वस्तुतः मिट्टी खोदने पर भूमि की गुणवत्ता व घनत्व परिलक्षित हो जाता है। जो भूमि जितनी अधिक ठोस होगी, उसमें धूलिकण परस्पर अधिक सन्निकट होंगे। खोदने पर उनके बीच अन्तर बढ़ जायेगा। अतः पुनः भरने पर मिट्टी का बचना भूमि के ठोसत्व को परिलक्षित करता है। यदि मिट्टी भरने पर और अतिरिक्त मिट्टी की आवश्यकता पड रही है, तो स्पष्ट है कि भूमि पोली व कम घनत्ववाली है।

2. भूमि में 1 घन हस्त खात खोदकर जल भर दें। 100 कदम दूर जाकर लौटने पर खात जलपूर्ण शुभ, आधे से अधिक जलपूर्ण सम व खात सूखा या कम जल वाला अशुभ।

7. बृ.वा.माला मिश्रप्रकरण – श्लोक 106

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

जो भूमि जितनी अधिक ठोस होगी, उसमें धूलिकण परस्पर अधिक सन्निकट होंगे। अतः गर्त में जल भरने पर भी बहुत ही कम मात्रा एवं वेग से धूलिकणों के बीच जा पायेगा। जिस कारण जलपूर्ण खात शुभ कहा गया है। यदि तुरन्त गर्त सूख जाय तो मिट्टी में घनत्व कम एवं पोली होने की सम्भावना रहेगी।

3. सायंकाल भूमि में 1 घन हस्त खात खोदकर जल भर दें। प्रातः देखने पर खात में जल शेष मिले तो शुभ, कीचड़ सम व खात सूखा व भूमि दरारयुक्त अशुभ। यहाँ पर भी उपर्युक्त कारण से ही भूमि का शुभाशुभ कहा गया है।

प्लवसिद्धान्त -

प्लव अर्थात् भूखण्ड का ढलान। भूखण्ड में ढलान किस ओर हो? इस विषय में बृहद्वास्तुमाला में कहा गया है कि -

श्रियं दाहं तथा मृत्युं धनहानिं सुतक्षयम्।
प्रवासं धनलाभं च विद्यालाभं क्रमेण च।
विदध्यादचिरेणैव पूर्वादिप्लवतो मही।
मध्यप्लवा मही नेष्टा न शुभा प्लवतत्परा।।[8]

वस्तुतः सूर्योदय के कारण प्रातः सूर्यकिरणों में प्राप्त होने वाले स्वास्थ्यवर्धक विटामिन डी व विषाणुनाशक शक्ति का सदुपयोग हेतु जल व्यवस्था व खुला स्थान का पूर्व दिशा में निर्देश आचार्यों ने किया है, अतः जल संग्रहण हेतु पूर्व में प्लव शुभ होता है। इसी प्रकार उत्तर में सकारात्मक ऊर्जाक्षेत्र, पृथिवी के दक्षिणी चुम्बकीय आकर्षण होने के कारण उत्तर में प्लव भी शुभ होता है, परन्तु इस दिशा में सिर रखकर सोना वर्जित है क्योंकि मनुष्य के शरीर में उत्तरचुम्बकीयक्षेत्र सिर पर होता है, जिस कारण पृथिवी के दक्षिणी चुम्बकीय आकर्षण से आकर्षित होकर मनुष्य के शरीर में रक्त प्रवाह लौहतत्व से युक्त होने के कारण पैर से सिर की ओर होगा। इससे अनिद्रा, सिरदर्द इत्यादि की समस्या हो सकती है। इन दोनों दिशाओं के मध्य ईशान कोण पर भी सकारात्मक ऊर्जाक्षेत्र, अतः इस ओर भी प्लव शुभ है।

आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य दिशाओं में नकारात्मक ऊर्जाक्षेत्र के कारण प्लव अशुभ कहे गये हैं। यहाँ पर स्मरणीय है कि भारतीय वास्तुशास्त्र भारत के भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार सकारात्मक व नकारात्मक ऊर्जाक्षेत्र को भी मानता है। भारत के दक्षिणी व पश्चिमी भाग में समुद्र होने के कारण से उन दिशाओं से आने वाली वायु स्वास्थ्य के लिए प्रायः हानिप्रद होती

8. बृ.वा.माला मिश्रप्रकरण - श्लोक 35-36

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

हैं। उत्तर व ईशान में हिमालय पर्वतश्रृंखला होने के कारण उत्तरीध्रुव से आने वाली बर्फीली वायु से भारत सुरक्षित रहता है। साथ ही उस ओर से दक्षिणी चुम्बकीय आकर्षण सकारात्मक ऊर्जाक्षेत्र निर्मित करता है। पश्चिम से पूर्व पृथिवी के भ्रमण होने तथा सूर्य के प्रथमदर्शन होने के कारण पूर्व दिशा गतिशीलता का प्रतीक भी है, जो सकारात्मक ऊर्जाक्षेत्र निर्मित करता है। अतः सकारात्मक ऊर्जाक्षेत्र की दिशाओं में अधिक खुला स्थान वास्तुशास्त्र में स्वास्थ्य एवं स्फूर्ति के लिए अच्छा माना गया है।

आंगन विचार - भवन के मध्य भाग में ब्रह्मा के पद में आंगन की परिकल्पना वास्तुशास्त्र में की गयी है, जिसमें किसी भी प्रकार का निर्माण कार्य वर्जित है। इसमें छत भी नहीं होनी चाहिए। साथ ही भूमि मिट्टीयुक्त व पत्थर, फर्श इत्यादि से रहित होनी चाहिए।[9] आंगन का ढलान भी पूर्व, उत्तर की ओर ही शुभ माना गया है। पदविन्यास की दृष्टि से आंगन वास्तु क्षेत्र का नवमांश होता है। इसमें में तुलसी शुभ है, साथ ही छोटे- छोटे पौधे भी लगाये जा सकते हैं।[10]

वास्तुशास्त्र में आंगन की परिकल्पना सम्पूर्ण कक्षों में शुद्ध वायु व प्रकाश की दृष्टिकोण से किया गया है। साथ ही वर्षा में गिरने वाले जल का संग्रहण कर उसे जलस्रोत की ओर करने में भी आंगन महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसी कारण आंगन खुला एवं निर्माणकार्य से रहित होना चाहिए। वास्तुशास्त्र सम्मत आंगन वर्षा जल संग्रहण (वाटर हार्वेस्टिंग) के लिए सर्वथा उपयुक्त है, जो आजकल के जलप्रदूषण एवं शुद्धजलप्राप्ति की समस्या के समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

शल्योद्धार - भूमि के विजातीय वस्तुओं हड्डी, कोयला, कपाल, केश, वल्मीक, मेंढ़क, तुष, राख, सर्प, छिपकली आदि सरीसृप, अण्डपिण्ड, कौडी, कपास, जली हुई लकडी के टुकडे, मिट्टी के वर्तन के टुकडे, लोहा इत्यादि को शल्य कहा गया है।[11] भूमि को खोदने पर 1 पुरुष प्रमाण तक शल्य मिलना गृहस्वामी के लिए अशुभ कहा गया है। अतः शल्य निकालने के बाद ही निर्माण कार्य करना चाहिए।

वस्तुतः शल्य में परिगणित वस्तुएं भूमि को पोली करती हैं, जिस कारण भारयुक्त निर्माण कार्य होने पर भवन के धंसने का भय रहता है।

पिण्डसाधन-पिण्ड का तात्पर्य वास्तु के क्षेत्रफल से है। वास्तु क्षेत्र वर्गाकार, आयताकार, वृत्ताकार या त्रिकोणाकार हो सकते हैं। भारतीय वास्तुशास्त्र में पहले समुचित क्षेत्रफल का निर्धारण

---

9. वास्तुप्रबोधिनी पृ. 56
10. वास्तुप्रबोधिनी पृ. 56
11. बृ.वा.माला मिश्रप्रकरण - श्लोक 112-115

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कर लम्बाई, चौड़ाई, त्रिज्या आदि का निर्धारण किया जाता है। रेखागणित या ज्यामिति का आरम्भ यज्ञ, भवनादि वास्तु के निर्माण के लिए ही हुआ। जो गणितशास्त्र की महत्वपूर्ण शाखा है।

वास्तुपद व कक्षविन्यास- आवास भवन की प्राक्कल्पना ही वास्तुपदविन्यास है। कहा जा सकता है कि भवन निर्माण की क्रियान्विति का प्रथम चरण वास्तुपद का विन्यास ही है। भवन, नगर, ग्रामादि में किस दिशा में वास्तुक्षेत्र के कितने भाग पर कौन सा निर्माण प्राकृतिक तत्वों व पंचमहाभूतों के सामंजस्य से शुभाशुभ होगा, यह वास्तुपदविन्यास से ज्ञात होता है। कार्य की प्रकृति एवं गुणधर्मिता के आधार पर तत्सम्बन्धि 45 देवों की परिकल्पना वास्तुशास्त्र प्रस्तुत करता है। वास्तुपदविन्यास में रिक्तस्थानों का विशेष ध्यान रखा जाता है, जिससे आकाशतत्व हेतु समुचित स्थान तथा वायुसंचरण व प्रकाश के लिए अधिक स्थान मिल सके। वास्तुपद के अनुसार गृहनिर्माण होने पर कार्यानुसार कक्षों को सुव्यवस्थित किया जा सकता है। मुख्य रूप से स्नानगृह - पूर्व, रसोईघर - आग्नेय, शयनकक्ष - दक्षिण, शौचालय - नैर्ऋत्य-दक्षिण, स्टोर - नैर्ऋत्य, अध्ययनकक्ष - नैर्ऋत्य-पश्चिम, भोजनकक्ष - पश्चिम, अतिथि कक्ष - वायव्य या पूर्व के मध्य, भण्डारण या कोशगृह - उत्तर, देवगृह - ईशान में बनाये जा सकते हैं।[12] कक्षविन्यास में कार्य की प्रकृति अनुसार वैकल्पिक दिशा का चयन भी किया जा सकता है। पूर्व, ईशान व उत्तर में वायुसंचरण हेतु खिड़की, रोशनदान व दरबाजे अधिक होने चाहिए। वास्तुशास्त्र के अनुसार गृह चन्द्रवेधी तथा जलाशय सूर्यवेधी शुभ होते हैं।[13] चन्द्रवेधी वास्तु उत्तर से दक्षिण की ओर दैर्घ्ययुक्त होता है। जिससे प्रातः कालिक सूर्यप्रकाश से स्वास्थ्यवर्धक विटामिन डी व विषाणुनाशक शक्ति का सदुपयोग भवन में अधिक हो सके। जलाशय सूर्यवेधी अर्थात् पूर्व से पश्चिम तक दैर्घ्ययुक्त होने से सूर्य की किरणों से तप्त होकर विषाणुरहित हो सकता है।

द्वारवेधविचार-मार्ग, वृक्ष, कोना, कूप, स्तम्भ, नाली के सामने द्वार अशुभ माना गया है। किन्तु दरबाजे की ऊँचाई से दुगुनी दूरी पर होने से द्वारवेध का दोष नहीं। इसी प्रकार कुलालचक्र, कीचड़, देवमन्दिर से द्वारवेध कहा गया है। [14]बृहत्संहिता, समरांगणसूत्रधार आदि में द्वारवेध फल विस्तार से वर्णित है जो मनोवैज्ञानिकता पर आधारित हैं। जैसे वृक्ष से द्वारवेध बालकों के लिए अशुभ, देवमन्दिर से विनाश, स्तम्भ से स्त्रीदूषण, कीचड से शोक, कुलालचक्र से हृदयरोग, कूडाघर से रोग, मद्यशाला से पुत्रनाश आदि ।

गृहसमीपगत गृहादि - घर के समीप सचिवालय होने पर अर्थनाश, धूर्तगृह होने पर सुतवध, देवगृह होने पर उद्वेग, चौराहे से अपकीर्ति, चैत्य (प्रधान वृक्ष) होने पर ग्रहभय, वल्मीक

12. मुहूर्तचिन्तामणि 12/21
13. वास्तुप्रबोधिनी पृ. 32
14. बृ.वा.माला गणनाविचारः - श्लोक 149-154

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

या पोली भूमि से विपत्ति, गर्त से पिपासा, कूर्माकार घर से धनविनाश कहा गया है।[15] वस्तुतः उपर्युक्त कथन वास्तुनिवासी के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होने वाली असुविधाओं को दिखाता है। जो पूर्णरूप से मनोवैज्ञानिकता एवं अनुभवजन्य है। इसी प्रकार गृहसमीप वृक्षों का वर्णन प्राप्त होता है। जिसमें घर में बड़े वृक्ष लगाना वर्जित है। गृहसमीप स्थित वृक्षों की छाया सूर्योदय से 1 प्रहर के बाद घर पर नहीं पड़नी चाहिए। घर के समीप कांटेदार वृक्ष शत्रुभय, दुग्धवृक्ष धननाश, फलदारवृक्ष सन्ततिनाश कारक होते हैं। इनकी लकड़ी भी गृहनिर्माण में वर्जित है। [16]वाटिका में फलदार वृक्ष लगाये जा सकते हैं। घर में तुलसी, पुष्पों के पौधे, द्राक्षा, चन्दन, मोगरा, गुलाब, चमेली के छोटे पौधे लगाये जा सकते हैं।[17]

गृहसज्जा-गृहसज्जा में भी वस्तुओं के कार्य, प्रकृति व गुणधर्मिता को देखते हुए नियोजित करने का परामर्श वास्तुशास्त्र देता है। भारी वस्तुएं दक्षिण-नैर्ऋत्य या नैर्ऋत्य-पश्चिम में रखना शुभ होता है।[18] इसी प्रकार अग्नितत्त्व सम्बन्धि वस्तुएं आग्नेय में, जलतत्त्व सम्बन्धि वस्तुएं पश्चिम में, वायुतत्त्व सम्बन्धि वस्तुएं वायव्य या उत्तर में रखनी चाहिए। मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से शयनकक्ष में देवस्थान या प्रतिमा वर्जित कही गयी है। गृहसज्जा में रामायण, महाभारतादि युद्धों के चित्र, ऐन्द्रजालिक चित्र, पत्थर या काष्ठ से बनी राक्षसादि की मूर्ति, रोते हुए, रौद्र, दीन, त्रास, करुण, वीभत्स रस युक्त चित्र या मूर्ति, अग्निदग्ध भवनादि, रुक्ष-भग्नादि वृक्ष, गिद्ध,उल्लू, कपोत, कौआ, भैंसा, ऊँट, गधा, सिंह इत्यादि उग्र पशु पक्षी वर्जित कहे गये हैं।[19] इसी प्रकार वास्तुशास्त्र के मन्दिरादिवास्तुनिर्माण के सिद्धान्तों एवं नियमों में भी वैज्ञानिकता विद्यमान है।

वस्तुतः भारतीय वास्तुशास्त्र भारतीय परिवेश व भारतीय संस्कृति के अनुसार सर्वविध सुखी, शान्त व सुरक्षित भवननिर्माण योजना प्रस्तुत करता है। यह प्राकृतिक तत्वों व पंचमहाभूतों के सही संतुलन से वास्तुविन्यास योजना बनाता है। भारतीय वास्तुशास्त्र के नियमों में अनेक मनोवैज्ञानिक तथ्य भी छिपे हुए हैं। भारतीय वास्तुशास्त्र द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों व नियमों में वैज्ञानिकता सन्निहित है। जिसका अन्वेषण कर समाज के सामने प्रस्तुत करना आवश्यक है। अतः वास्तुशास्त्र के नियमों व सिद्धान्तों में छिपे हुए वैज्ञानिक तथ्यों का अन्वेषण कर समाज को उससे परिचित करवाना तथा उसे सुख, सुविधा, सुरक्षा आदि प्रदान करते हुए पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हेतु अभिप्रेरित करना चाहिए।

---

15. बृहत्संहिता वास्तु. 89-90
16. बृहत्संहिता वास्तु. 87
17. वास्तुप्रबोधिनी पृ. 82
18. द्रष्टव्य भारतीय वास्तुशास्त्र पृ. 120-125
19. वास्तुसार पृ.186-189

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुसौख्यग्रन्थविमर्श

डॉ. प्रवेश व्यास

सर्वविदित है कि भारतवर्ष प्राचीनकाल में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त उन्नत था। जीवन के प्रत्येक विषय के संदर्भ में भारतीय मनीषियों ने अत्यन्त गहनता से चिन्तन किया व अनेक प्रयोगों व अन्वेक्षणों द्वारा उस चिन्तन का सत्यापन भी किया। वह संपूर्ण ज्ञान वेदों से आरम्भ करते हुए बहुत बडे संस्कृत वाङ्मय के रूप में परिणत हुआ जिसमें लोककल्याण व ज्ञान-विज्ञान के सभी विषयों का समावेश हुआ। इससे आकर्षित होकर देश-विदेश से अध्ययन हेतु विद्यार्थी भारत आने लगे, जिसके प्रमाण अलबरूनी, ह्वेनसांग, फाह्यान, इब्नेबतूता आदि विदेशी यात्रियों की रचनाओं में प्राप्त होते हैं। विक्रमशिला, तक्षशिला, नालन्दा विश्व में ज्ञान-विज्ञान के सबसे बडे केन्द्र के रूप में स्थापित हुए। परन्तु कालान्तर में विभिन्न बाहरी आक्रमणों के कारण यह परम्परा विनष्ट होने लगी। यवन, मंगोल, अफगान, डच, पुर्तगाल, अंग्रेज शासकों ने समय समय पर भारत पर बाहरी व भीतरी हमले किये जिससे ज्ञान-विज्ञान की परम्परा विनष्ट हुई। इनमें से सबसे अधिक क्षति धर्मान्ध यवन आततायियों द्वारा पहुचाई गई। विक्रमशीला, तक्षशीला, नालन्दा जैसे केन्द्रों को ध्वस्त किया गया। पुस्तकालयों में आग लगा दी गई। व्यापकस्तर पर नरसंहार किया गया। विद्या के केन्द्र रहे उन शहरों में प्रत्येक घर में पाठशाला थी व उनमें ग्रन्थों का सङ्ग्रह था, किंवदन्ती है कि उसे जलाने में आततायियों को कई महीने लग गये। ऐसा ही विनाश भारत के प्रत्येक क्षेत्र में किया गया परन्तु उस समय कुछ विद्वानों ने उन ग्रन्थों को बचाने का भी भरसक प्रयास किया। जो बच पाया वह आज हमारे सामने विस्तृत संस्कृत वाङ्मय के रूप में विद्यमान है, जिनमें से अनेक ग्रन्थ आज भी अप्रकाशित पाण्डुलिपियों के रूप में देश के विभिन्न भागों में संरक्षित है। मुस्लिम साम्राज्य के समय में भी अनेक हिन्दू राजाओं व विद्वानों ने शास्त्रों के संरक्षण व संवर्धन का अभूतपूर्व प्रयास किया, जिनमें से विलक्षण प्रतिभा के धनी थे 'राजा टोडरमल्ल'। जिनके प्रयास का एक अंश 'टोडरानन्द' संज्ञक अतिविस्तृत संकलन ग्रन्थ के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित है। जिस ग्रन्थ का ही एक भाग 'वास्तुसौख्यम्' है। टोडरमल्ल के जीवन को मुख्य रूप से चार भागों में बांटकर देखा जा सकता है।

1. **जन्म व वंश परिचय** - बनारस के लोगों द्वारा इन्हें बनारस के एक भूमिहार परिवार का बताया जाता है। कुछ इतिहासकारों के अनुसार उनका जन्म लाहौर (पाकिस्तान) में हुआ जिसे

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गलती से ब्रिटिश शासन ने लहारपुर (अवध, उत्तरप्रदेश) समझ लिया। इतिहासकार फेरर के अनुसार उनका जन्म स्थान लहारपुर, लखनऊ के उत्तर की ओर सीतापुर जनपद (उत्तरप्रदेश) में हुआ था।[1] अधिकांश विद्वानों का भी यही मत है कि लाहौर (वर्तमान पाकिस्तान) न होकर लहारपुर अवध है तथा वे अवध के कायस्थ परिवार से थे। जिनका जन्म 16वीं शताब्दी में हुआ। इनके जन्म की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है।[2] बहुत से इतिहासकारों के मत से उन्हें अवध के कायस्थ परिवार का बताया जाता है।[3] परन्तु कुछ इतिहासकार उन्हें खत्री परिवार का मानते हैं क्योंकि उनकी कई पेंटिग में उन्हे यज्ञोपवीत धारण किये हुए दिखाया गया है जो कि उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय व खत्री पहनते थे न कि कायस्थ।[4]

इतिहासकारों का निर्णायक ऐक्य है कि राजा टोडरमल्ल का जन्म टण्डन वंश में हुआ था।[5] इसी टण्डन वंश को बाला परिवार भी कहा गया। यह परिवार चार स्थानों - पंजाब, यूनाइटेड प्रोविन्स(संयुक्त प्रान्त), अवध और आगरा के लिये प्रसिद्ध है।[6] इनके वंश की वंशावली में मातृपक्ष का नाम नहीं मिलता, परन्तु इनके सात पूर्वजों के नाम क्रम से प्राप्त होते हैं - 1. बाल (ये विष्णु के उपासक थे), 2 अट्टाली 3.दामोदर 4. अस्सू (ये योद्धा व कृष्णभक्त थे) 5. द्वारकादास 6. द्विजमल्लदास एवं 7.भगवतीदास। टोडरमल्ल भगवतीदास के पुत्र थे। जैसा कि दानसौख्य ग्रन्थ में उद्धृत है -**''राजा सोऽयं नृपभगवतीदासवंशावतंसो''**।

उपर्युक्त वर्णन में टोडरमल्ल के नाम के साथ 'मल्ल' और इनके पूर्वजों के नाम के साथ 'दास' पदवी संलग्न होने से वास्तव में वंशानुगत संबन्ध न होने का भ्रम पैदा होता है। जिसका कारण सम्भवतः क्रिया में भेद होना है, क्योंकि इनके पूर्वज किसी न किसी देवता के भक्त रहे। भक्ति की इस लम्बी परम्परा का उपस्थापन नाम के साथ 'दास' पदवी से किया जाने लगा हो, अर्थात् टोडरमल्ल के बचपन का नाम टोडरदास रहा हो, बाद में इनकी उपाधि 'मल्ल' दी गई।[7]

2. एक योद्धा के रूप में - टोडरदास एक विलक्षण प्रतिभा के धनी होने के साथ अकबर के अत्यन्त वफादार व एक अच्छे योद्धा भी थे। कहा जाता है कि अकबर की प्रशंसा व राज्यलाभ के लोभ में उन्होंने बहुत से हिन्दू राजाओं को पराजित कर अकबर के राज्य में मिलाया

---

1. हिन्दीविश्वकोष, खण्ड -5, पृष्ठ- 180
2. Dominik wujastyk, "change and creativity in early modern Indian medical thought" & journal of Indian Philosophy (2005), page 13
3. टोडरानन्दनम्, भूमिका, पृष्ठ- xx
4. Shishu sansar, Birbal stories & Raja todarmal
5. ''.....श्रीटण्डनवंशमण्डनमणेः श्रीटोडरक्ष्मापतेः''। (टोडरानन्द, पृष्ठ 394)
6. टोडरानन्दम्, भूमिका, पृष्ठ-xiii
7. वास्तुसौख्यम्, (व्याख्या- कमलाकान्त शुक्ल), ग्रन्थकार परिचय, पृष्ठ 5-6

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

था जिससे प्रसन्न होकर उन्हें 'मल्ल' की उपाधि दे दी गई थी। परन्तु इस कारण इनके स्वयं खत्रीवंश के शत्रु उत्पन्न हो गये, जिन्होंने उनपर प्राणघातक हमलों का भी प्रयास किया।[8]

3. एक प्रशासनिक अधिकारी के रूप में – टोडरमल्ल अत्यन्त बुद्धिमान थे। जब वे अल्प आयु के थे तब उनके पिता की मृत्यु हो गयी। तब वे अकबर के शासनकाल में छोटे लिपिक के रूप में नौकरी करने लगे। उनकी पराक्रमी पारिवारिक पृष्ठभूमि व विलक्षण प्रतिभा के कारण उन्हे निरन्तर पदोन्नति प्राप्त होती गई। युद्ध व प्रशासनिक सफलताओं की लम्बी शृंखला के उपरान्त उन्हें अग्रणी प्रशासनिक अधिकारी पद प्रदान किया गया। पहले आगरा का प्रमुख, तदुपरान्त गुजरात, साथ ही बंगाल प्रदेश व बृहत् पंजाब का कार्यभार इन्होनें संभाला। इसके उपरान्त अकबर के प्रमुख वाणिज्यिक अधिकारी और बाद में प्रधानमन्त्री का पद प्राप्त किया। टोडरमल्ल ने भार और मापन (Weight and measurement) के राष्ट्रीय मानक स्थापित किये। भूमि का सर्वे व भूमि संबंधित विवादों को सुलझाने के मानक नियम बनाये। उनके 1582 ईस्वी में बनाये गये भूमि बन्दोबस्त नियमों (Land reform system) को बाद में 1743–1947 के मध्य थोमस मुनरो (Thomas Munro) ने ब्रिटिश शासन में भी लागू किया तथा पूरे विश्व में यह नियम कालान्तर में मुनरों के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ। उसे उस काल में 'बन्दोबस्त' नाम से जाना जाता था। टोडरमल्ल द्वारा निर्मित सूचना एकत्रीकरण विधि (Data collection method) को भारतीय महाद्वीप व अन्य पड़ोसी देशों में भी प्रयोग किया जाता था । जिसे बाद में ब्रिटिश शासन ने भी अपनाया। वस्तुतः इन्हें भारत का प्रथम किं वा विश्व का प्रथम सांख्यशास्त्री भी कहा जा सकता है।[9] इसी कारण इन्हें 'अकबर–दीवान–ए–अशरु' की उपाधि प्रदान की गई। उनके द्वारा प्रदत्त पद्धति को आज भी पटवारी मामलों में प्रयोग में किया जाता है, जिसे ब्रिटिशशासन के दौरान लागू किया गया था।

वित्त अधिकारी के रूप में राजा टोडरमल्ल ने राजस्व की एक नई पद्धति का निर्माण किया, जिसे 'जाब्त' (Zabt) कहा जाता था। इन्होने 1570–1580 के बीच विभिन्न क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाली फसलों का बहुत सूक्ष्मता से अध्ययन किया और प्रत्येक प्रान्त को एक विशेष राजस्व वाले विभाग में बांटा। प्रत्येक फसल पर उसके उपज मात्रा व समय के आधार पर राजस्व का निर्धारण किया गया। टोडरमल्ल के उन सिद्धान्तों का प्रयोग आज भी राजस्व विभाग में संशोधित रूप में किया जाता है। टोडरमल्ल ने ही अकबर दरबार की राजकार्य की भाषा हिन्दी की अपेक्षा फारसी रखने पर जोर दिया था।[10] ये अकबर की सेना में आने से पूर्व शेरशाह सूरी के राज्य

8. वहीं
9. He can be thought of as one of first statisticians in India, and perhaps in the world & Wikipedia/ Todarmalla.
10. In the account of Abul Fazl] it was Todarmalla who insisted on the introduction of Persian instead of Hindi as the administrative language of Akbar's court & Vaidhya(1948), Todarananadam, page XXIII

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कर्मचारी थे। कुशाग्र बुद्धि के कारण सभी कर्मचारी इनका आदर करते थे।

4. हिन्दू धर्म के उपासक के रूप में - अकबर के दरबार में मन्त्री रहते हुए भी राजा टोडरमल्ल आजीवन भगवान श्री कृष्ण के परम भक्त रहे। उनका परिवार वैष्णव संप्रदाय को मानने वाला था। एक सच्चे स्वामीभक्त के रूप में उन्होंने अनेक हिन्दू राजाओं का विनाश भी किया, परन्तु व्यक्तिगत रूप से अनेक धार्मिक कार्य भी सम्पादित किये। जैसे कुंए, तालाब, बावड़ी खुदवाना, उद्यानों व मन्दिरों का निर्माण इत्यादि। इन्होने विशेष रूप से भग्न किये गये प्राचीन मन्दिरों का पुनर्निर्माण करवाया। अकबर के दरबार में रहते हुए अपने कार्यकाल में इन्होने काशी विश्वनाथ, सोमनाथ व तिरुपति के मन्दिर का भी पुनर्निर्माण करवाया ऐसी किंवदन्ती है।[11] अकबर के शासन काल में क्रमशः सैनिक, सहायक दीवान, भूमि व अर्थमन्त्री के रूप में कार्य करने के बाद 1582 से 1589 तक प्रधानमन्त्री के रूप में कार्य करते हुए 1589 को वे स्वर्गवासी हो गये।[12] उसी वर्ष नवरत्नों में से एक रत्न बीरबल की भी मृत्यु हुई थी।

राजा टोडरमल्ल भगवान श्री कृष्ण की मूर्तियों के संग्रह के कारण भी जाने जाते थे, जिसकी उनके अनेक पण्डित मित्रों द्वारा प्रशंसा की जाती थी।[13] जैसा कि वर्णन प्राप्त होता है - **'समकरोद् असौ सौधेश्व अन्तर मुरमथनमूर्तीश्च विविधाः।'**

युद्धों व लूटपाट के क्रम में उन्हें ज्योतिष, वैद्यक आदि शास्त्रों से सम्बन्धित पाण्डुलिपियां प्राप्त हुई थी। अतः उन शास्त्रों के संरक्षण, एकत्रीकरण, समायोजन व सम्पादन के लिये ईस्वी सन् 1572 में बनारस के विद्वानों की एक बड़ी सभा आयोजित की गई। जिसमें शास्त्रों के संरक्षण हेतु एक बृहद् रचना का उद्देश्य निश्चित किया गया और उस कर्तृत्व को राजा टोडरमल्ल के नाम पर ''टोडरानन्दम्'' नाम दिया गया। यह टोडरानन्द ग्रन्थ 23 बड़े ग्रन्थों के समायोजन से बना, जिन्हे 'सौख्य' कहा गया। इस कारण से इस बृहद् ग्रन्थ का आकार महाभारत के तुल्य हो गया, जिसकी अनेक प्रतियां बनाई गयी। इन सौख्यों के नाम उनसे संबंधित विषयों के आधार पर रखे गये। जैसे - गणितसौख्यम्, संहितासौख्यम्, आयुर्वेदसौख्यम्, वर्षकृत्यसौख्यम्, दानसौख्यम्, सर्गसौख्यम् आदि। इस घटना का वर्णन आयुर्वेदसौख्य की निम्न पङ्क्तियों में प्राप्त होता है -

तदाज्ञया सुश्रुतादिसारमुद्धृत्य सादरम्।
निबध्यते हितं सर्वं विशदाक्षरनिर्मलम्॥
ग्रन्थेऽस्मिन् टोडरानन्दे सर्वार्थपरिबृंहते॥[14]

---

11. en-wikipedia-org/wiki/Todar_Mal
12. वहीं
13. Todarananadam, Sargasaukhyam, 1-1-18 (Vaidhya,1948, XXII,5)
14. आयुर्वेदसौख्यम्, 1/7-8 (व्याख्या - दक्ष कश्यप, 1992, भाग-2, 53)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ये श्लोक इस बात को प्रमाणित करते हैं कि उस काल में उपलब्ध विभिन्न शास्त्रों के वचनों को टोडरानन्द ग्रन्थ में एकत्रित किया गया, जिससे कि उनका कालान्तर तक संरक्षण किया जा सके –

प्राचीनशास्त्राणि सुदुर्गमानि भिन्नप्रमेयानि निरीक्ष्य सम्यक्।
एकत्र सर्वं भवतः सुबोधं मतं कृतं टोडरमल्लभूपतिः॥[15]

इस कारण से टोडरमल्ल के लिये यह कहा गया कि वह राजा जिसने यवनशासनरूपी समुद्र में डूब रहे (अथवा लुप्त हो रहे) प्राचीन शास्त्रों का उद्धार किया –

'येन म्लेच्छपयोधिमग्ननिगमोद्धारक्रिया कारिता'[16]

टोडरमल्ल की प्रशंसा में कहा गया कि कलियुग के अन्धकार के प्रभाव में नष्ट हो रहे शास्त्रों को सूर्य के समान पुनः प्रकाशित किया –

राजन्येषु तमोमयेन कलिना क्रूरेण निम्लोचितो।
यस्मिन्नभ्युदितो जगद्विलमयन् साम्राज्यतिग्मद्युतिः॥[17]

इस प्रकार से शास्त्र संरक्षण की एक बृहद् योजना का क्रियान्वयन कर राजा टोडरमल्ल ने हिन्दू धर्म के प्रति अपना समर्पण भाव दिखाया। भारतरत्न पी. वी. काणे ने इस संदर्भ में कहा कि उस समय के अधिकांश हिन्दू रचनाकारों का उद्देश्य प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा करना था – "P.V. Kane has noted that the very large number of digests composed in this period would suggest that one of the main concerns of Hindu thinkers of this time was the preservation of their cultural heritage"[18]

वास्तु सौख्य ग्रन्थ परिचय –

टोडरानन्द ग्रन्थ में 23 प्रकार के विषयों का समावेश किया गया। जिनकी 'सौख्य' संज्ञा दी गई। इनके नाम सर्गसौख्य ग्रन्थ में निम्न प्रकार से वर्णित किये गये – 1. सर्ग 2. अवतार 3. कालगणना 4. कालनिर्णय 5. देश(गृह या वस्तु) 6. संस्कार 7. आचार 8. शुद्धि 9. श्राद्ध 10. वर्षकृत्य 11. व्रत 12. प्रतिष्ठा 13. देवपूजा 14. दान 15 शान्तिक पौष्टिक 16. तीर्थयात्रा 17.

---

15. आयुर्वेदसौख्यम्, 1/5 (व्याख्या – दक्ष व कश्यप, 1992, भाग–2, 52)
16. From the introduction to the Varshakrityasaukhya (Vaidhya, 1948, page - XXX)
17. Sargasaukhya, 1-1-15 (Vaidhya, 1948, XXII, 5)
18. Dominik wujastyk, "change and creativity in early modern Indian medical thought" & journal of Indian Philosophy (2005), page 15

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

विवाह 18. व्यवहार 19. राजनीति 20. प्रायश्चित 21 कर्मविपाक 22. आयुर्वेद 23. आगम (तन्त्र)।[19]

इतिवृत्त के अनुसार टोडरमल्ल को वैद्यक आदि के साथ साथ ज्यौतिषशास्त्र, मुहूर्त्तशास्त्र, धर्मशास्त्र की अनेक पाण्डुलिपियां प्राप्त हुईं। इन तेरह प्रकरणों में से भी कुछ विषयों का अलग से संकलन किया गया। इनमें वास्तु व संहिता ज्योतिष के विषयों का समावेश करते हुए सात प्रकरणों से युक्त 'संहितासौख्य' का निर्माण करवाया गया। उन सात प्रकरणों के नाम निम्न प्रकार से है - 1. अद्‌भुत सौख्य 2. व्यवहार सौख्य 3. संस्कार सौख्य 4. विवाह सौख्य 5. यात्रा सौख्य 6. प्रकीर्ण सौख्य 7. वास्तु सौख्य।[20] वास्तु सौख्य इन सात प्रकरणों में से अन्तिम प्रकरण है। जैसा कि ग्रंथ में वर्णित किया गया है–

आदावद्‌भुतसौख्यानि व्यवहारस्ततः परम्।
संस्काराः परतश्चापि विवाहादिनिरूपणम्॥

यात्राप्रकीर्णकश्चापि वास्तुसौख्यमिति क्रमात्।
सप्तप्रकरणी चेति संहितासौख्यमिष्यते॥[21]

इसके सम्पादन का काल 1589 ई. बताया गया है जिसकी प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन पुस्तकालय में उपलब्ध है, जो कि संवत् 1886 अर्थात् ईस्वी सन् 1829 में नन्दराम उपाध्याय जी मनिकपुर रचित प्रतिलिपि है। ग्रन्थ में एक स्थान पर यह प्रमाण प्राप्त होता है कि टोडरानन्द ग्रन्थ अनन्त दैवज्ञ के पुत्र नीलकण्ठ ने लिखा था।[22] सम्प्रति प्रकाशित वास्तुसौख्य ग्रन्थ नौ भागों में विभक्त है–

1. **प्रथम भाग** – प्रथम भाग के आरम्भ में मङ्‌गलाचरण में अपने गुरु व भगवान गणेश की वन्दना की गई है तथा गृह की आवश्यकता, वास्तु का उद्देश्य व वास्तु पुरुष के स्वरूप व उत्पत्ति का वर्णन किया गया।

2. **द्वितीय भाग** – द्वितीय भाग में गन्ध, रस, वर्ण, प्लवादि द्वारा भूमि परीक्षण की विधियां, दिक् साधन, गृह निर्माण योग्य स्थान का वर्णन, भूमि परीक्षण हेतु मत्स्य पुराण, वराहमिहिर आदि के मतों का वर्णन किया गया है।

---

19. सर्गोऽवताराः कालस्य गणनं कालनिर्णयः। देशा द्विजातिसंस्कारा आचारः शुद्धिनिर्णयः॥
श्राद्धानि वर्षकृत्यानि व्रतानां विधायस्ततः। प्रतिष्ठा विधायः पूजा देवतानां ततः परम्॥
दानानि ग्रहयागादि शान्तिकं तैर्थिको विधिः। विवाहो व्यवहारश्च राजनीतिस्ततः परम्॥
प्रायश्चितं कर्मपाक आयुर्वेदः प्रस्‌गतः। ग्रन्थेऽस्मिन् टोडरानन्दे सर्वमेतन्निबधयते॥ (सर्गसौख्यं, पृष्ठ-6)
20. वास्तुसौख्यम्, भूमिका, पृष्ठ - 17
21. टोडरानन्द, पृष्ठ 396
22. श्रीमद्दैवज्ञानन्तसुतनीलकण्ठ विपश्चिद्विरचिते टोडरानन्दे पृष्ठ 398, पं. 17

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

3. **तृतीय भाग** – ग्राह्य व निषिद्ध वृक्षों का विवेचन, वास्तु भूमि में शल्य का ज्ञान, शल्य ज्ञान के लिये रेखाकरण, रेखा निर्माण में वस्तु का लक्षण, रेखा का लक्षण, ब्राह्मणादि वर्ण के अनुसार सूत्र निर्माण, भूमिशुद्धि, खनन से प्राप्त वस्तुओं के शुभाशुभ का निरूपण आदि विषयों का वर्णन हैं।

4. **चतुर्थ भाग** – भूमिदोष जानने के उपरान्त भूमि के विशुद्धीकरण की प्रक्रिया, वास्तुपुरुष के विषय में विशेष कथन, प्रथम खात का फल वर्णित किया गया है। इस अध्याय में वास्तु पुरुष का प्रदक्षिणा क्रम से भ्रमण का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार अन्य वास्तु ग्रन्थों में राहु मुख पुच्छ के अनुसार प्रथम खात का निर्णय किया गया उसके स्थान पर वास्तु नर के मुख पुच्छ के अनुसार खात का निर्णय किया गया। जैसे–

त्रिषु त्रिषु च मासेषु नभस्यादिषु च क्रमात्।
यद्दिङ्मुखो वास्तुनरस्तन्मुखं सदनं शुभम्।।[23]

तदुपरान्त इसमें वृषवास्तुचक्र, कलशवास्तुचक्र का निरूपण मिलता है। स्तंभरोपण हेतु ग्रहपीठचक्र, शिलान्यास की विधि, पांच ईंटों के नाम, गृह निर्माण में ग्राह्य काष्ठ, काष्ठ प्राप्ति के लिए वृक्षच्छेदन की विधि, वृक्ष काटने पर उसमें प्राप्त होने वाले विविध वर्णों, प्राणियों के फल का वर्णन किया गया है।

5. **पञ्चम भाग** - किस प्रकार के घर में कैसी लकड़ी का प्रयोग किया जाय? आयव्ययादि का विचार, ध्वजादि अष्ट प्रकार के आयों का प्रयोग कहां किया जाय? इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है। इस भाग में मुख्य रूप से आय का विचार किया गया है।

6. **षष्ठ भाग** – षष्ठ भाग में मुख्य रूप से विभिन्न गृहों के प्रमाण निर्धारण, गृहपिण्ड के प्रमाण का निर्धारण, गृहपिण्ड द्वारा राशि ज्ञान, तिथि ज्ञान, आय, द्रव्य, ऋण-धन, पैशाचादि, ध्रुवादि, इन्द्रादि का ज्ञान, गृह व गृहस्वामी का मेलापक, तारा, भकूट, नाडी आदि का वर्णन किया गया। प्राचीन काल में महाराज से लेकर सेवकों तक सभी के गृहप्रमाण निर्धारित होते थे। अतः इस भाग में राजगृह, राजमहिषी, युवराज, सामन्त, राजपुरुष, कञ्चुकी, वेश्या, कलाकार, अध्यक्ष, दैवज्ञ, पुरोहित, वैद्य, पारशव आदि के गृहप्रमाणों का वर्णन किया गया है। गृह निर्माण में किसका हस्तप्रमाण माना जाय? तृणगृह की उन्नति, वीथिका प्रमाण, भौमप्रमाण, भौमसंख्या, भित्तिप्रमाण इत्यादि विषयों का वर्णन किया है।

7. **सप्तम भाग** – सप्तम भाग में द्वार का परिमाण (चारों वर्णों के लिये), शाखा, उदुम्बर आदि काष्ठ का प्रमाण, स्तंभ प्रमाण, स्तंभों के नाम, भारतुला-उपतुला का प्रमाण, सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त, वर्धमान, स्वस्तिक, रुचक आदि वास्तु का लक्षण, द्विशाल-त्रिशाल वास्तु के

23. वास्तुसौढ्यम्, चतुर्थभाग, श्लो. 92

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

लक्षण, शाला भेद से वास्तुसंख्या का विचार, गृहाकृति प्रमाण, शाला विचार, ध्रुवादि सोलह गृहों का वर्णन, एकशाल-द्विशाल-त्रिशाल-चतुःशाल गृहों के द्वारों के आधार पर नाम व उनके फल, वास्तुपुरुष का नामनिरूपण, आय के नाम, वास्तु में कक्षों का विन्यास, वास्तु में जल का विन्यास, गवाक्ष विन्यास इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है।

8. **अष्टम भाग** - दिग्लक्षण, जलस्थान, एकाशीतिपदवास्तुविन्यास हेतु रेखाकरण, उसमें देवताओं का स्थान निरूपण, वास्तु विन्यास के बाह्य भाग में स्थित देवता, वास्तुपुरुष के अङ्गविभाग के अनुसार देवों की स्थापना, वास्तुपुरुष के मर्मस्थल, मर्मोत्पीडन का फल, मर्म का परिमाण, वंशशिराप्रमाण, वास्तुवेदी विभाग व रेखाओं का निरूपण, ब्रह्मवेध का फल, नगर व ग्राम में वास्तु पुरुष का विचार इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है। विकल वास्तुपुरुष के फल भी इस भाग में निरूपित किये गये है।

9. **नवम भाग** - नवम भाग इस ग्रन्थ का सर्वाधिक विस्तृत भाग है। इस भाग के प्रारम्भ में द्वार के विषय में विवेचन किया। मुख्य द्वार का निर्णय, मध्य द्वार का निर्णय आदि विषयों का वर्णन किया गया है। इसमें एक ही दीवार से दो घरों का निर्माण निषेध बताया गया है। पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर दिशा के द्वारों का फल, शुभाशुभद्वार का निर्णय, द्वारा के सम्मुख विविध निर्माणों से होने वाले वेध, उनका फल व परिहार, द्वार के आकार प्रकार व परिमाण, द्वार के ऊपर दूसरे द्वार के होने का निषेध, गृह में लक्ष्मी के निवास के कारण, द्वारा वर्णन के उपरान्त गृहारम्भ का वर्णन किया गया है। गृहारम्भ में मास विचार, तृण निर्मित गृह में विशेष फल कथन, गृहारम्भ मास के विषय में विशेष विवेचन, पक्ष-तिथि के कारण गृहारम्भ का फल, गृह निर्माण के नक्षत्र, योग, मुहूर्त्त, लग्नादि का विचार, गृहारम्भ लग्न में सूर्यादि ग्रहों की स्थिति का फल, सम्मुखस्थ चन्द्र का फल, गृहारम्भ में सप्तशलाका चक्र, नक्षत्र आय के अनुसार द्वार विचार, गृहारम्भ में लग्न बल, गृहारम्भ में अग्निभयदायक योग, यक्षभयदायक योग, गृहारम्भ में शङ्कु का स्थापन, शङ्कु हेतु ग्राह्य काष्ठ, शङ्कुरोपण का मुहूर्त्त, शिलान्यासमुहूर्त्त, शिलान्यास का स्थान व विधि, शिलान्यास के मन्त्र, वास्तुपूजन की विधि, वास्तुदेव की प्रतिमा का विधान व पूजन विधि, गृहारम्भ के समय वास्तुपूजा न करने से होने वाले दोष इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया।

10. **परिशिष्ट भाग** - वास्तु निर्माण में किसके हस्त प्रमाण को स्वीकार किया जाय, वास्तु में भित्ति का प्रमाण, गृह पिण्ड की सीमा निर्धारण, गृह में स्रावविचार, चन्द्रवास विचार, जलाशय के आरम्भ में जल का ज्ञान, कूप में जल का ज्ञान, जलाशय में मृत्तिका विचार, दीप के द्वारा जल का ज्ञान, गृह में सूर्य चन्द्र वेध का विचार, मण्डलेश का ज्ञान व फल, व्ययज्ञान, गृहारम्भ की दिशा का निरूपण, वेध विचार, गृह की दशा का ज्ञान, ग्रामनिवास में काकिणी विचार आदि विषयों का निरूपण किया गया है। अन्त में जीवनोपयोगी वास्तुशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। इस प्रकार वास्तुसौख्य ग्रन्थ 16वीं शताब्दी में उपलब्ध प्राचीन वास्तु ग्रन्थों का एक महत्त्वपूर्ण संकलन ग्रन्थ है जो कि आज के समय में भी अत्यन्त उपादेय है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Ácademy

कुण्ड-मण्डप का वास्तुशास्त्रीय स्वरूप

डॉ. रामेश्वर दयाल शर्मा

वेद ज्ञान के पर्याय हैं। वैदिक काल से ही हमारे ऋषि-महर्षियों के द्वारा वैदिक पद्धति के आधार पर यज्ञ क्रिया सम्पादित की जाती रही है। यज्ञ कार्य मानव कल्याण के लिए एवं मानव मात्र के उत्थान के लिए किया जाता रहा है। वृष्टि आदि के निर्धारण हेतु पर्जन्य-यज्ञ भारतीय संस्कृति की रक्षा एवं जन कल्याण की भावना हेतु किया जाता है जैसा कि भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं भगवद्गीता में वर्णित किया है-

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न सम्भवः।
यज्ञाद्भवन्ति पर्जन्यः यज्ञकर्म समुद्भवः॥[1]

अर्थात् अन्न के द्वारा प्राणियों की उत्पत्ति होती है, वृष्टि के द्वारा अन्न की उत्पत्ति सम्भव है तथा यज्ञ के द्वारा वर्षा होती है अतः हमें सदैव यज्ञ कार्य में संलग्न एवं तत्पर रहना चाहिए। इसी सन्दर्भ में कृषिपाराशर ग्रन्थ में भी वृष्टि के ज्ञान के विषय में वर्णित किया है कि-

वृष्टिमूला कृषि सर्वा वृष्टिमूलञ्च जीवनम् ।
तस्मादादौ प्रयत्नेन वृष्टिज्ञानं समाचरेत् ॥[2]

अर्थात् समस्त भूमण्डल पर कृषि-कर्म का मूल वृष्टि विज्ञान है एवं जीवन का मूल वृष्टि है अतः यत्नपूर्वक सर्वप्रथम हमें वृष्टि के ज्ञान के विषय में प्रयत्न करना चाहिए।

यज्ञ कार्य सम्पादन हेतु यज्ञशाला, यज्ञवेदी एवं कुण्ड-मण्डप के निर्माण की आवश्यकता सर्वप्रथम हमें प्रतीत होती है। अतः ज्योतिषशास्त्र के आधार पर एवं वास्तुशास्त्रीय पद्धति के द्वारा कुण्ड-मण्डप का निर्माण किया जाता है। सर्वप्रथम शुल्ब सूत्रों एवं बोधायन के द्वारा वर्णित सूत्रों के माध्यम से गणितीय सिद्धान्त के अनुसार कुण्ड-मण्डप के निर्माण की पद्धति वैदिक काल से प्रचलित है। वेदों में त्रिविध सूत्रों श्रोत्र, गृह्य एवं धर्मसूत्रों में से गृह्यसूत्रों एवं शुल्बसूत्रों में यज्ञवेदी और कुण्ड-मण्डप के निर्माण का विधान वर्णित है। शुल्बसूत्रों में वर्णित सूत्र के द्वारा यज्ञवेदी एवं

---

1. भगवद्गीता अध्याय 03, श्लोक 14
2. कृषिपाराशर प्रस्तावना

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कुण्ड-मण्डप का मापन कार्य किया जाता है। वास्तुशास्त्र की दृष्टि में गृहनिर्माण की प्रक्रिया विशेष रूप से गृह्यसूत्रों में प्रचलित है। वेदों में वर्णित यज्ञादि कार्य और निवास योग्य भूमि को 'वास्तु' के नाम से जाना जाता है। वैदिक काल से ही यह वास्तुशास्त्र ऋषि-मुनियो के यज्ञ आदि कार्यों के सम्पादन हेतु कुण्ड-मण्डप निर्माण, वेदिका निर्माण एवं उपनिषत्कालीन आश्रमों, आरण्यकों में वर्णित यज्ञशाला, पर्णशाला, कुटी, गौशाला एवं विद्यालयों के भवनों व गुरुकुलों मे स्थित पाठशालाओं के निर्माण से लेकर पौराणिककालीन राजप्रासादों एवं रामायणकालीन अश्वमेध यज्ञ तथा महाभारतकालीन राजसूय यज्ञ, जनमेजय द्वारा सम्पादित नागयज्ञ में निर्मित यज्ञशालाओं में वेदिका निर्माण तथा कुण्ड-मण्डप के निर्माण का विधान विकासक्रम के रूप में हमें विरासत में प्राप्त हैं। वास्तुशास्त्र के निर्माण की प्रक्रिया मुख्य रूप से शुल्बसूत्रों में मिलती है। वास्तुशास्त्र का विकसित स्वरूप स्थापत्यवेद (अथर्ववेद का उपवेद), अग्निपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, मत्स्यपुराण, वराहपुराण, स्कन्दपुराण, देवीभागवतपुराण, गरुडपुराण, कल्किपुराण, भविष्योत्तरपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, श्रीमद्भागवतपुराण, वाल्मीकिरामायण एवं महाभारत में वर्णित है। ऋग्वेद से लेकर अथर्ववेद एवं शतपथ ब्राह्मणग्रन्थों में वास्तुशास्त्र की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। यज्ञ-यागादि सम्पादनार्थ कुण्ड-मण्डप एवं यज्ञ वेदियों के निर्माण हेतु वास्तुशास्त्र का विकसित स्वरूप महाभारत काल में मयासुर द्वारा निर्मित महाराज युधिष्ठिर के सभा भवन में परिलक्षित है जो स्थापत्य कला की एक अद्भुत, विलक्षण एवं समुन्नत मिशाल थी जो जल के स्थान पर स्थल, स्थल के स्थान पर जल और दीवार के स्थान पर द्वार तथा द्वार के स्थान पर दीवार प्रतीत होती थी। इसी प्रकार कल्प नामक वेदांग में श्रौत्रसूत्र, गृहसूत्र और धर्मसूत्रों के निरूपण के साथ शुल्बसूत्रों को वर्णित किया गया है जिनमे आपस्तम्ब, बोधायन और कात्यायन के शुल्बसूत्र प्रसिद्ध है। अथर्ववेद मे अतिथिशाला, आन्तरिकशाला, गोष्ठीशाला, भण्डारशाला और यज्ञशाला आदि का वर्णन है।[3]

इसी प्रकार वैदिक सूत्र साहित्य में कुण्ड-मण्डप व वेदी-निर्माण विधि, वेदी-निर्माण में इष्टिकाओं का दैर्घ्यविस्तार, उनकी संख्या एवं निर्माणविधि विवेचित है। आपस्तम्ब एवं बोधायन ने अपने शुल्बसूत्रों में शेनचित्, कंकचित् और द्रोणचित् इत्यादि यज्ञ-वेदियों का उसी अनुपात में कुण्डों के निर्माण की विविध विधियां निरूपित की हैं। अग्निपुराण के 3 अध्यायों में वास्तुशास्त्रीय कुण्ड-मण्डप निर्माण विधि वर्णित है।

कुण्ड-मण्डप, यज्ञ-वेदी एवं यज्ञशाला का निर्माण भारतीय वैदिक शिल्प-शास्त्र के प्रायोगिक निदर्शन के रूप में विद्यमान हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों एवं श्रौतसूत्रों में यज्ञीय-वास्तु का शास्त्रीय पक्ष है। उसे सुस्पष्ट, सुनियोजित एवं क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने का श्रेय शुल्बसूत्रों में वर्णित है। यज्ञ-स्थल में यज्ञ-वेदी एवं कुण्ड-मण्डप में निर्माणगत मापन कार्य में प्रयोग किये जाने वाले

3. अथर्ववेद 1.3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कुण्ड-मण्डप का वास्तुशास्त्रीय स्वरूप

डॉ. रामेश्वर दयाल शर्मा

वेद ज्ञान के पर्याय हैं। वैदिक काल से ही हमारे ऋषि-महर्षियों के द्वारा वैदिक पद्धति के आधार पर यज्ञ क्रिया सम्पादित की जाती रही है। यज्ञ कार्य मानव कल्याण के लिए एवं मानव मात्र के उत्थान के लिए किया जाता रहा है। वृष्टि आदि के निर्धारण हेतु पर्जन्य-यज्ञ भारतीय संस्कृति की रक्षा एवं जन कल्याण की भावना हेतु किया जाता है जैसा कि भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं भगवद्गीता में वर्णित किया है–

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न सम्भवः।
यज्ञाद्भवन्ति पर्जन्यः यज्ञकर्म समुद्भवः॥[1]

अर्थात् अन्न के द्वारा प्राणियों की उत्पत्ति होती है, वृष्टि के द्वारा अन्न की उत्पत्ति सम्भव है तथा यज्ञ के द्वारा वर्षा होती है अतः हमें सदैव यज्ञ कार्य में संलग्न एवं तत्पर रहना चाहिए। इसी सन्दर्भ में कृषिपाराशर ग्रन्थ में भी वृष्टि के ज्ञान के विषय में वर्णित किया है कि-

वृष्टिमूला कृषि सर्वा वृष्टिमूलञ्च जीवनम् ।
तस्मादादौ प्रयत्नेन वृष्टिज्ञानं समाचरेत् ॥[2]

अर्थात् समस्त भूमण्डल पर कृषि-कर्म का मूल वृष्टि विज्ञान है एवं जीवन का मूल वृष्टि है अतः यत्नपूर्वक सर्वप्रथम हमें वृष्टि के ज्ञान के विषय में प्रयत्न करना चाहिए।

यज्ञ कार्य सम्पादन हेतु यज्ञशाला, यज्ञवेदी एवं कुण्ड-मण्डप के निर्माण की आवश्यकता सर्वप्रथम हमें प्रतीत होती है। अतः ज्योतिषशास्त्र के आधार पर एवं वास्तुशास्त्रीय पद्धति के द्वारा कुण्ड-मण्डप का निर्माण किया जाता है। सर्वप्रथम शुल्ब सूत्रों एवं बोधायन के द्वारा वर्णित सूत्रों के माध्यम से गणितीय सिद्धान्त के अनुसार कुण्ड-मण्डप के निर्माण की पद्धति वैदिक काल से प्रचलित है। वेदों में त्रिविध सूत्रों श्रोत्र, गृह्य एवं धर्मसूत्रों में से गृह्यसूत्रों एवं शुल्बसूत्रों में यज्ञवेदी और कुण्ड-मण्डप के निर्माण का विधान वर्णित है। शुल्बसूत्रों में वर्णित सूत्र के द्वारा यज्ञवेदी एवं

---

1. भगवद्गीता अध्याय 03, श्लोक 14
2. कृषिपाराशर प्रस्तावना

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कुण्ड-मण्डप का मापन कार्य किया जाता है। वास्तुशास्त्र की दृष्टि में गृहनिर्माण की प्रक्रिया विशेष रूप से गृह्यसूत्रों में प्रचलित है। वेदों में वर्णित यज्ञादि कार्य और निवास योग्य भूमि को 'वास्तु' के नाम से जाना जाता है। वैदिक काल से ही यह वास्तुशास्त्र ऋषि-मुनियो के यज्ञ आदि कार्यो के सम्पादन हेतु कुण्ड-मण्डप निर्माण, वेदिका निर्माण एवं उपनिषत्कालीन आश्रमों, आरण्यकों में वर्णित यज्ञशाला, पर्णशाला, कुटी, गौशाला एवं विद्यालयों के भवनों व गुरुकुलों मे स्थित पाठशालाओं के निर्माण से लेकर पौराणिककालीन राजप्रासादों एवं रामायणकालीन अश्वमेध यज्ञ तथा महाभारतकालीन राजसूय यज्ञ, जनमेजय द्वारा सम्पादित नागयज्ञ में निर्मित यज्ञशालाओं में वेदिका निर्माण तथा कुण्ड-मण्डप के निर्माण का विधान विकासक्रम के रूप में हमें विरासत में प्राप्त हैं। वास्तुशास्त्र के निर्माण की प्रक्रिया मुख्य रूप से शुल्बसूत्रों में मिलती है। वास्तुशास्त्र का विकसित स्वरूप स्थापत्यवेद (अथर्ववेद का उपवेद), अग्निपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, मत्स्यपुराण, वराहपुराण, स्कन्दपुराण, देवीभागवतपुराण, गरुडपुराण, कल्किपुराण, भविष्योत्तरपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, श्रीमद्भागवतपुराण, वाल्मीकिरामायण एवं महाभारत में वर्णित है। ऋग्वेद से लेकर अथर्ववेद एवं शतपथ ब्राह्मणग्रन्थों में वास्तुशास्त्र की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। यज्ञ-यागादि सम्पादनार्थ कुण्ड-मण्डप एवं यज्ञ वेदियों के निर्माण हेतु वास्तुशास्त्र का विकसित स्वरूप महाभारत काल में मयासुर द्वारा निर्मित महाराज युधिष्ठिर के सभा भवन में परिलक्षित है जो स्थापत्य कला की एक अद्भुत, विलक्षण एवं समुन्नत मिशाल थी जो जल के स्थान पर स्थल, स्थल के स्थान पर जल और दीवार के स्थान पर द्वार तथा द्वार के स्थान पर दीवार प्रतीत होती थी। इसी प्रकार कल्प नामक वेदांग में श्रौत्रसूत्र, गृहसूत्र और धर्मसूत्रों के निरूपण के साथ शुल्बसूत्रों को वर्णित किया गया है जिनमे आपस्तम्ब, बोधायन और कात्यायन के शुल्बसूत्र प्रसिद्ध है। अथर्ववेद मे अतिथिशाला, आन्तरिकशाला, गोष्ठीशाला, भण्डारशाला और यज्ञशाला आदि का वर्णन है।[3]

इसी प्रकार वैदिक सूत्र साहित्य में कुण्ड-मण्डप व वेदी-निर्माण विधि, वेदी-निर्माण में इष्टिकाओं का दैर्घ्यविस्तार, उनकी संख्या एवं निर्माणविधि विवेचित है। आपस्तम्ब एवं बोधायन ने अपने शुल्बसूत्रों में शेनचित्, कंकचित् और द्रोणचित् इत्यादि यज्ञ-वेदियों का उसी अनुपात में कुण्डों के निर्माण की विविध विधियां निरूपित की हैं। अग्निपुराण के 3 अध्यायों में वास्तुशास्त्रीय कुण्ड-मण्डप निर्माण विधि वर्णित है।

कुण्ड-मण्डप, यज्ञ-वेदी एवं यज्ञशाला का निर्माण भारतीय वैदिक शिल्प-शास्त्र के प्रायोगिक निदर्शन के रूप में विद्यमान हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों एवं श्रौतसूत्रों में यज्ञीय-वास्तु का शास्त्रीय पक्ष है। उसे सुस्पष्ट, सुनियोजित एवं क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने का श्रेय शुल्बसूत्रों में वर्णित है। यज्ञ-स्थल में यज्ञ-वेदी एवं कुण्ड-मण्डप में निर्माणगत मापन कार्य में प्रयोग किये जाने वाले

3. अथर्ववेद 1.3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

रज्जु या सूत्र की संज्ञा ही शुल्ब के रूप में विद्यमान है। यज्ञशाला में यज्ञवेदी एवं कुण्ड-मण्डप में प्रयुक्त भूमि का मापन कार्य, यज्ञ भूमि पर यज्ञ वेदी की आकृति का प्रमाण पूर्वक निर्माण, आकृति के प्रत्येक भाग का माप ज्ञात करना, चिति की आकृति एवं कुण्ड-मण्डप की माप के अनुरूप इष्टिकाओं की आकृति (ईटों की आकृति), इष्टिकाओं की संख्या का निर्धारण इत्यादि सभी कार्य शुल्ब (सूत्र) के माध्यम से किये जाते थे।

सर्वप्रथम यज्ञभूमि में यज्ञशाला, यज्ञवेदी एवं कुण्ड-मण्डप के निर्माण से पूर्व यज्ञ भूमि पर हल चलाकर हल द्वारा भूमिगत शल्यादि निकालकर अर्थात् शल्योद्धार कर भू-शोधन करने का नियम है। इसके अनन्तर भूमि को जल की तरह समतल बना कर शङ्कु द्वारा दिक्साधन (दिशा का निर्धारण) किया जाता हैं। इसी सन्दर्भ में यज्ञ-वेदियाँ वर्णित हैं। यज्ञ वेदी-यजमान वेदी[4] शिखण्डिनी वेदी[5] सोत्रमणि वेदी[6] मरुत् वेदी[7] इत्यादि वेदियों की निर्माण पद्धति शुल्बसूत्रों[8] में वर्णित हैं। कुण्ड-मण्डप में चिति की निर्माण विधि, पक्षियों की आकृति पर आधारित थी, अर्थात् चिति की आकृति श्येन, कंक और अलजचिति नामक अग्निचिति इन नाम वाले पक्षियों के आकार की बनाई जाती थी। इन चितियों के अतिरिक्त द्रोण चिति की आकृति रथ और कूर्म की आकृति के अनुरूप बनाई जाती थी।[9] कुण्ड-मण्डप के निर्माण की पद्धति एवं विधान धार्मिक वास्तु पर आधारित है।

वैदिकवाङ्मय में विशेष रूप से ऋग्वेद[10] एवं तैत्तिरीय संहिता[11] में अग्नि को त्रिषधस्थ कहा गया है। अर्थात् तीन प्रकार की अग्नियों का वर्णन किया गया है-

1. गार्हपत्याग्नि 2. आवाहनीयाग्नि 3. दक्षिणाग्नि

उपर्युक्त तीनों अग्नियों के आकार का वर्णन शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में वर्णित है।[12] सर्वप्रथम गार्हपत्याग्नि की वेदी मण्डलाकार (Circle), आवाहनीयाग्नि का आकार चतुर्भुज (Square) तथा दक्षिणाग्नि की वेदी का आकार अर्धवृत्ताकार या अर्धचन्द्राकार (Semi-Circle) होता हैं।[13]

---

4. मानव शुल्बसूत्र-15-1, 21.8
5. वही 10.1.3.8
6. बोधायन शुल्बसूत्र-1-85-86
7. बोधायन शुल्बसूत्र-10,102.5
8. आश्वलायन शुल्बसूत्र-13ध्6-9
9. आपस्तम्ब शुल्बसूत्र-15-1,21-8
10. अग्ने - - - - - - -त्रिषधस्थ। ऋग्वेदः 5.4.8
11. अग्निं नरः त्रिषस्थे समिन्धते। तैति.सं.4.4..4.3
12. गार्हपत्यः परिमण्डलम्। शतपथ 7.1.1.37
13. शतपथ 3.5.1.1 से 6

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

परन्तु यहां आवश्यक बिन्दु यह है कि इन त्रिविध अग्नियों से निर्मित वेदियों का क्षेत्रफल भी समान हो एवं यह एक वर्ग व्याम में विभाजित हों। (एक व्याम = 96 अंगुल/4हाथ/लगभग 6 फीट प्रमाण)।

यहां ध्यातव्य है कि वेदी एवं कुण्ड-मण्डप के निर्माणकर्ता को रेखागणित का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे वेदी-निर्माता वृत्त को चतुर्भुज में बदल सके एवं इसको अर्धवृत्ताकार बना सके। कुछ वेदियों के निर्माण की विधियां शतपथ ब्राह्मणग्रन्थ में वर्णित है।[14] परन्तु विभिन्न प्रकार की वेदियों के निर्माण का विस्तृत विवेचन तथा वृत्त को चतुष्कोण, चतुष्कोण को त्रिकोण एवं चतुष्कोण को वृत्त में परिवर्तित इत्यादि की सम्पूर्ण विधियां रेखागणित में सरल विधि से समझायी गयी हैं। समस्त शुल्बसूत्र ग्रन्थ एक प्रकार से रेखागणितीयग्रन्थ है। शुल्बसूत्रों में सरल से कठिनतम वेदियों (कुण्ड-मण्डप) के निर्माण की सम्पूर्ण विधि वर्णित हैं। रेखागणित की दृष्टि में 3 शुल्बसूत्र विशेष महत्त्वपूर्ण है- 1. बोधायन शुल्बसूत्र 2. आपस्तम्ब शुल्बसूत्र 3. कात्यायन शुल्बसूत्र अन्यत्र भी विविध प्रकार की वेदियों के निर्माण की विधि, उनके परिमाणाध्यपरिमाप (आकार-परिवर्तन) की विधियों का विस्तृत का एवं व्यापक वर्णन मिलता है।[15] कुण्ड-मण्डप एवं यज्ञ-वेदियों के विभिन्न आकार और परिमाण की डा.ए.के.वाग महोदय ने संक्षिप्त रूपरेखा वर्णित की है।[16]

इसी सन्दर्भ में महावेदी के निर्माण का विस्तृत विवेचन शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में समद्विबाहु चतुर्भुज के नाम से किया है।[17] इस महावेदी का सम्बन्ध सोमयाग से है। अतः इस वेदी का पर्याय 'सौमिकी' वेदी भी है। इस वेदी की रचना सम-द्विबाहु चतुर्भुज के रूप में होती है। इसका मुख पूर्व दिशा में होता है। इस महावेदी का आकार परिमाण निम्न प्रकार है-

पूर्व दिशा चौडाई = 24 पाद/चरण/पग/(12+12 के 2 भाग)

पश्चिम दिशा चौड़ाई = 24+6 =30 पग (15+15 के 2 भाग)

लम्बाई = 36 पग/पाद/चरण

एक पद का परिमाप फीट में प्रायः 2 फीट का होता है। उसी हिसाब से इसकी लम्बाई और चौड़ाई जाननी चाहिए। महावेदी में पूर्व की ओर से पश्चिम दिशा की ओर 24x24 पग का एक चतुर्भुज का निर्माण होता है। पश्चिम दिशा में मध्य भाग से उत्तर और दक्षिण की ओर 3-3 पाद में और वृद्धि करते हैं। इस प्रकार 6 पाद वृद्धि हो जाने से पश्चिम दिशा में चौडाई 24+6

---

14. शतपथ ब्रा.काण्ड 3 और काण्ड 7
15. विस्तृत अध्ययन (डा. सत्यप्रकाश

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

= 30 पाद हो जाती है। उत्तर और दक्षिण के समान भाग होने से यह समद्विबाहु चतुर्भुजी कहलाता है। पूर्व और पश्चिम के भाग विषम एवं असमान है (24 और 30 पाद) अतः पूर्व और पश्चिम की दिशाओं की भुजाएँ विषम होती है।

यज्ञवेदी एवं कुण्ड-मण्डप के निर्माण पद्धति में बोधायन शुल्बसूत्र (1.4.3) और आपस्तम्ब शुल्बसूत्र (5.1 से 5) में भी महावेदी के परिमाप (नाप) को वर्णित किया है।[16] शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में वर्णित है कि जो सामान्य सप्तविध वेदी है, उससे महावेदी का परिमाण 14 गुणा अधिक है।[19] इस महावेदी के परिमाप के लिए शुल्बसूत्र (रज्जु/रस्सी) का प्रयोग होता है। लम्बाई के लिए 36 पाद लम्बी रस्सी ली गयी, पूर्व की चौड़ाई के लिए 24 पाद एवं पश्चिम की चौडाई 30 चरण/पाद लम्बाई युक्त रस्सी (रज्जु) उपयोग में ली जाती है। उपर्युक्त विभिन्न वेदियों के निर्माण में किस आकार की कितनी संख्या में इष्टिकाएं (ईंटे) लगती हैं, इसका सम्पूर्ण विवेचन ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित हैं।

यज्ञ-वेदी (कुण्ड-मण्डप) के परिमाप के सन्दर्भ में वर्णित है कि यज्ञ कुण्ड का मान एक हाथ का होना चाहिए। इस कुण्ड-मण्डप को तीन मेखलाओं और योनि से निर्मित करें। कुण्ड-मण्डप के निर्माण के बाद वहां आगम, वेद-मन्त्रों से विधि-विधानपूर्वक यज्ञ में आहुति प्रदान करनी चाहिए। जैसा कि वास्तुमञ्जरी में वर्णित है-

हस्तमात्रं भवेत् कुण्डं मेखला-योनिसंयुतम् ।
आगमैर्वेदमन्त्रैश्च होमं कुर्याद् विधानतः ।।[20]

इसी सन्दर्भ में आगम रहस्यकार सोमशम्भु के मतानुसार ब्राह्मणादि वर्णों के मेखलादि का प्रमाण इस प्रकार है-

त्रिमेखलं द्विजे कुण्डं क्षत्रियस्य द्विमेखलम्।
मेखलमैकं तु वैश्यस्य प्रोक्तं कुण्डविशारदे।।[21]

उत्तम-मध्यम और अधम मेखलाओं का वर्णन कुण्डसिद्धिकार ने इस प्रकार किया है-

अधमा मेखलैका स्यात् मध्यमं मेखलाद्वयम्।
श्रेष्ठास्तिस्रेऽथवा द्वित्रिपञ्चस्वधमतादिकम्।।[22]

---

16. A.K Bag. Mathematics in Ancient And Medieval India P-106
17. शतपथब्राह्मण 3.5.1.1 से 6 और काण्ड 10.2.3.7 से 14
18. त्रिंशत् पदानि प्रक्रमा वा पश्चात् तिरश्ची भवति। षट्-त्रिंशत्, प्राची चतुर्विंशतिः पुरस्तात् तिरश्चीति महावेदेर्विज्ञायते। बोधा.1/4/3
19. यावत्येषा सप्तविधस्य वेदिस्तावतीं चतुर्दश कृत्वा एकशतविधस्य वेदिं विमिमीते। शत.10.2.3.7
20. वास्तुमञ्जरी श्लो.175, पृ. 214

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

क्रियासार के मतानुसार -

नाभियोनिसमायुक्तं कुण्डं श्रेष्ठं त्रिमेखलम्।
कुण्डं द्विमेखलं मध्यं नीचं स्यादेकमेखलम्।।[23]

वास्तुमञ्जरी ग्रन्थ में वर्णित है कि कुण्ड-मण्डप का आकार आहुति संख्या के अनुसार हो। अर्थात् दस हजार आहुति के लिए कुण्ड का प्रमाण एक हाथ, पचास हजार आहुति के लिए दो हाथ, एक लाख आहुति हेतु तीन हाथ और दस लाख आहुति हेतु चार हाथ प्रमाण यज्ञ कुण्ड का निर्माण करना चाहिए। यथा-

अयुते हस्तमात्रं च लक्षार्द्धे तु द्विहस्तकम्।
त्रिहस्तं लक्षहोमे तु दशलक्षे चतुः करम्।।

त्रिंशलक्षे पञ्चहस्तं कोटर्धे षट् करं मतम्।
अशीतिलक्षेऽद्रीकरं कोटि होमेऽष्टहस्तकम्।।[24]

यदि ग्रह पूजा हेतु यज्ञ करना हो तो एक हाथ प्रणाम के कुण्ड का निर्माण करना चाहिए एवं इन कुण्डों पर विधिपूर्वक क्रमशः चार तीन और दो अंगुल प्रमाण की तीन मेखलाएं बनावें। अर्थात्-

ग्रहपूजाविधानेन कुण्डमेककरं भवेत्।
मेखला त्रितयं वेद-राम युग्माङ्गुले क्रमात्।।[25]

कुण्डसिद्धि में वर्णित है कि दिशाओं के अनुसार यज्ञ-कुण्डों का आकार तय किया जाना चाहिए। जैसे-

नवकुण्डीचक्र[26]

दिशा	कुण्ड	फल	योन्यग्र	होता मुख
पूर्व	चतुरस्र	सिद्धिलाभ	दक्षिणयोनि	उत्तर-मुख
आग्नेय	योनि	पुत्रलाभ	योनि रहित	उत्तर-मुख

21. आगम रहस्य- 3720
22. कुण्डसिं)- 49
23. क्रियासार, उद्धृत- वास्तुमञ्जरी पृ.215
24. वास्तुमञ्जरी श्लो.176-177, पृ.215
25. वही श्लो.178, पृ.216
26. वास्तुमञ्जरी पृ.216

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दक्षिण	अर्द्धचन्द्र	शुभफल	दक्षिणाग्नि उदग्रा	उत्तर-मुख
नैऋत्य	त्रिकोण	शत्रुनाश	पश्चिम योनि उदग्रा	पूर्व-मुख
पश्चिम	वृत्तकुण्ड	शान्ति	पश्चिम योनि उदग्रा	पूर्व-मुख
वायव्य	षट्कोण	मृत्युच्छेदन	पश्चिम योनि उदग्रा	पूर्व-मुख
उत्तर	पद्मकुण्ड	वर्षा	पश्चिम योनि उदग्रा	पूर्व-मुख
ईशान	अष्टास्र	आरोग्य	पश्चिम योनि उदग्रा	पूर्व-मुख

पञ्चकुण्डीचक्र

क्र.सं.	दिशा	कुण्ड का आकार
1.	पूर्व	चतुरस्राकार
2.	दक्षिण	अर्द्ध चन्द्राकार
3.	पश्चिम	वृत्ताकार
4.	उत्तर	पद्माकार
5.	ईशान	अष्टास्र, चतुरस्र या वृत्ताकार

मयासुर विरचित मयमतम् ग्रन्थ में भी यागमण्डप के विषय में वर्णित है कि यज्ञ-मण्डप के आन्तरिक भाग को बुद्धिमान स्थपति द्वारा इक्यासी भागों में विभाजित करना चाहिए। मध्य के नौ भागों में वेदी का निर्माण करें-

कृत्वैकाशीतिभागान् निशित विपुलधीर्मण्डपाभ्यन्तरं त-
न्मध्ये वेदी नवांशा भवति हि परितस्त्रीणि भागानि मध्ये।
अस्रं योन्यर्धचन्द्रं गुणभुजमपरं वै सुवृत्तं षडस्रं
पद्मं वस्वश्रकुण्डं सुरपतिभवनादि क्रमेणैव कुर्यात्।।[27]

यज्ञ-कुण्ड के लक्षण के विषय में वर्णित है कि कुण्ड हेतु एक हस्त चौड़ाई एवं एक हाथ गहरा प्रमाण का चौकोर (चतुरस्र) गड्ढा बनाना चाहिए। यदि उस यज्ञ-कुण्ड को तीन

27. वास्तुमञ्जरी पृ.217

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मेखलाओं से युक्त बनाना है तो तीन सूत्र अथवा दो मेखलाओं से युक्त कुण्ड में दो सूत्र निर्मित करें। इन मेखलाओं की ऊंचाई सात, पांच अथवा तीन अंगुल रखें। इसी प्रकार मेखलाओं की चौड़ाई चार, तीन या दो अंगुल प्रमाण रखें। योनि की आकृति गज ओष्ठ (हाथी के होंठ) के समान, चौड़ाई, लम्बाई एवं गहराई चार, छः एवं एक अंगुल तथा अग्नि के सम्मुख निर्मित करें। जैसा कि मयमतम् में वर्णित है-

हस्तविस्तृतनिखातवच्चतुष्कोटिकं दिशि त्रिसूत्रकम्।
सत्रिमेखलमथ द्विकं तु वा धातुभूतगुणमात्रकोन्नतम्॥

व्यासमब्ध्यनलपक्षमात्रकैर्योनिमूर्ध्वत इभोष्ठवत् कुरु।
तारदैर्घ्यकसमुद्गमं चतुः षणमनोऽङ्गुलिभिरग्निसम्मुखम्॥

वेदबन्धनयनाङ्गुलोन्नतव्यासमेखलयुतं तु वा पुनः।
तालगाढमथवैकमेखलं सर्वकुण्डकमकर्णयोनिकम्॥[28]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यज्ञ कार्य सम्पादन हेतु यज्ञ वेदी, यज्ञ कुण्ड एवं कुण्ड-मण्डप का निर्माण वास्तुशास्त्रीय पद्धति एवं वेदों में वर्णित शुल्ब इत्यादि सूत्रों के माध्यम से उत्तम प्रक्रिया द्वारा करना चाहिए। जिससे प्राणि मात्र का कल्याण एवं सुख समृद्धि में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे।

---

28. वही पृ.217

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दिग्ज्ञान

डॉ. सुरेश शर्मा

भारतीय ज्योतिषशास्त्र में दिग्ज्ञान का विशिष्ट महत्व है। ज्योतिष शास्त्र के सिद्धान्त स्कन्ध में निरक्षदेशीय ग्रहों को स्वदेशीय करने के लिए, वेध इत्यादि कार्यों के लिए, छाया, शर, ग्रहयुति, ग्रहण, चन्द्रगोन्नति आदि का आनयन करने के लिए, संहिता स्कन्ध में आकाश परीक्षण, वायु परीक्षण व वास्तु सम्बन्धी कार्यों के लिए दिशाओं के ज्ञान की आवश्यकता होती है।

वास्तु शास्त्र के अनुसार भी गृह निर्माण के कार्य में प्रवृत्त होने से पूर्व वास्तु सम्बन्धी समस्त कार्यों की सिद्धि के लिये सर्वप्रथम दिशाओं का पूर्ण तथा स्पष्ट ज्ञान परमावश्यक होता है। ग्राम अथवा नगर में भूमि चयन, भूमि शोधन, शिलान्यास, गृहारम्भ, शालविन्यासादि समस्त कार्यो के लिये दिशाओं के ज्ञान के विना कुछ कार्य प्रारम्भ नहीं हो सकता है। वास्तु शास्त्र के आचार्यों के अनुसार गृह, प्रासाद, अलिन्द, द्वार, जलाशय, कुण्ड के निर्माण के समय विशेष रूप से दिक्साधन करना चाहिये, क्योकि दिग्भ्रमित होने से कुल का नाश होता है।[1] अतः वास्तुशास्त्र के समस्त आचार्यों ने सर्वप्रथम दिक्साधन का उल्लेख किया है।

आचार्य भास्कर के अनुसार वेद मनुष्यों को यज्ञ कार्य करने के लिये प्रेरित करते हैं।[2] यज्ञ सम्पादन के लिये यज्ञ वेदी, यज्ञकुण्ड मण्डपादि की आवश्यकता होती है तथा कुण्डमण्डपादि का निर्माण दिशाओं के स्पष्ट ज्ञान के अभाव में कदापि नहीं किया जा सकता। सर्वविदित है कि वैदिक ज्ञान के सम्यक् ज्ञान के लिए तथा वैदिक यज्ञ-यागादि के यथाविधि सम्पादन के लिये षड् वेदांगों की रचना की गई। शुल्बसूत्रों में यज्ञ वेदियों के निर्माण तथा एतदर्थ दिक्साधन की अनेक सामान्य विधियों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि वर्तमान में दिशाओं के ज्ञान के लिये अनेक विधियां तथा उपकरण विद्यमान है परन्तु यहां पर शास्त्रोक्त विधि का ही प्रतिपादन किया जा रहा है।

मानवशुल्बसूत्र में नक्षत्रों का वेध कर उनके आधार पर दिक्साधन किया गया है। इस विधि के अनुसार चित्रा तथा स्वाती, श्रवण और प्रतिश्रवण, कृत्तिका और प्रतिकृत्तिका, या तिष्य और

1 दिक्शुद्धिरहितं गेहं प्रासादो वा जलाशयः।
कुर्याद्धानिं मृत्तिं तस्मादादौ दिक्शोधनं चरेत्।। सं शि. 20 /50
प्रसादे सदनेऽनिले द्वारे कुण्डे विशेषतः।
दिङ्मुढे कुलनाशः स्यात्तस्मात् संसाधयेद्दिशः।। वास्तुसौख्यम्, दिक्साधन, 1

2 वेदास्तावद्यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः..... ।। सिद्धान्तशिरोमणि

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पुनर्वसु इन तारों की जोड़ी क्षितिज से युग नाप (86 अंगुल) ऊपर आने के बाद इनके मध्य में पूर्व दिशा होती है।[3] कात्यायन शुल्बसूत्र के अनुसार समतल भूमि पर शंकु स्थापित कर शंकु की लंबाई तुल्य रस्सी से (शंकु को केन्द्र मानकर) वृत्त बनाएं। सूर्योदय के उपरान्त पूर्वाहन में जहां शंकु की छाया वृत्त को काटती हैं वह पश्चिम तथा अपराहन में शंकु की छाया जहाँ वृत्त को काटती है वह पूर्व दिशा होगी दोनों विन्दुओं को मिलाने पर पूर्वा पर रेखा होती है।[4] इसके पश्चात् दुगुनी (शंकु के माप की दुगुनी) रस्सी लेकर इन दोनों (पूर्व तथा पश्चिम) सिरों पर बाँधकर मध्य भाग से दक्षिण की तरफ खींचे। जहां मध्य बिन्दु आता है वहां चिन्हित करें। यह दक्षिण दिशा होगी। इसी प्रकार उत्तर दिशा की तरफ खींचकर उत्तर दिशा को चिन्हित करें।[5]

शुल्वसूत्रों के पश्चात् वेदांगों में प्रमुख स्थान प्राप्त करने वाले तथा भगवान वेद के नेत्र स्वरूप ज्योतिष शास्त्र में दिक्साधन का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। यद्यपि ज्योतिष में भी शूल्वसूत्रों द्वारा प्रतिपादित विधि का ही अनुसरण किया गया है परन्तु इन विधियों को विस्तृत स्पष्ट तथा सूक्ष्म प्रकार से प्रतिपादित किया गया है।

ज्योतिष शास्त्र के अनुसार दिक्साधन स्थूल तथा सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का होता है। स्थूल दिक्साधन की अनेक विधियां प्रचलित है। सामान्यतः दिशाओं का ज्ञान सूर्योदय तथा सूर्यास्त के वेध से किया जा सकता है। सूर्य जहां से उदित होता है वह पूर्व दिशा तथा जहां से अस्त होता है वह पश्चिम दिशा होती है। पूर्व तथा पश्चिम बिन्दुओं से मत्स्य चापों के द्वारा याम्योत्तर दिशाओं का ज्ञान किया जा सकता है[6] अथवा पूर्व दिशा की ओर मुख करने से दाहिने हाथ की ओर दक्षिण दिशा तथा वाम हाथ की ओर उत्तर दिशा होती है।

सूर्यसिद्धान्त के अनुसार जल के द्वारा संशोधित शिलातल पर अथवा वज्रलेप से बने समतल धरातल पर इष्टांगुल (12 अंगुल) व्यासार्ध से वृत्त का निर्माण करें। उस वृत्त के मध्य में 12 अंगुल का एक शंकु स्थापित करें। शंकु का छायाग्र बिन्दु वृत्त परिधि को पूर्वाह्न में तथा अपराह्न में जहां स्पर्श करें, उन स्थानों पर बिन्दु बनाएं। ये बिन्दु पश्चिम तथा पूर्व संज्ञक होते हैं। उन दोनों बिन्दुओं के मध्य में तिमि (चापों) द्वारा दक्षिणोत्तर रेखा का निर्माण करना चाहिये।

---

3 अन्तरेण चित्रास्वाती श्रवणप्रतिश्रवणौ कृत्तिकाप्रतिकृत्तिके तिष्यपुनर्वसु च प्राग्देशोऽयं युग्मात्रोदितयाः पाशाञ्च।। मानवशुल्बसूत्र-3

4 समे शंकु निखाय शंकुसम्मितया रज्ज्वा मण्डलं परिलिख्य यत्र लेखयोः शंक्वग्रच्छाया निपपति तत्र शंकू निहन्ति सा प्राची।। कात्यायन शुल्बसूत्र, 2

5 तदनन्तरं रज्वाभ्यस्य पाशौ कृत्वा शंक्वोः पाशौ प्रतिमुच्य दक्षिणायम्य मध्ये शंकुमेवमुत्तरतः सोदीची। कात्यायन शुल्बसूत्र, 3

6 यत्रोदितोऽर्कः किल तत्र पूर्वा तत्रापरा यत्र गतः प्रतिष्ठाम्।
तन्मत्स्यतोऽन्ये च .....।। सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्यायः भुवनकोशे, श्लो. सं. 45।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

याम्योत्तर रेखाओं के बीच चापों के द्वारा पूर्वापर रेखा का निर्माण कर दोनों (पूर्वापर तथा याम्योत्तर) के मध्य विदिशाओं (कोण दिशाओं) का निर्माण करना चाहिये ।[7] दिक्साधन की यह सबसे साधारण विधि है तथा सभी सिद्धान्तग्रन्थों में इस विधि का उल्लेख किया गया है।[8]

सिद्धान्तज्ञों के अनुसार यह स्थूल दिक्साधन है। इस विधि द्वारा दिशाओं का स्पष्ट रूप से ज्ञान नहीं किया जा सकता। यह विधि स्पष्ट दिक्साधनार्थ केवल उसी दिन उचित है जिस दिन सूर्य की क्रान्ति शून्य होती है तथा सूर्य नाडीवृत्त में भ्रमण करता है अथवा सायन सूर्य जब मेषादि अथवा तुलादि बिन्दु पर होता है।[9] नाडीवृत्त तथा क्रान्तिवृत्त के सम्पात की वर्तमान स्थिति के अनुसार लगभग 22 सितम्बर एवं 21 मार्च को उक्त दिक्साधन का प्रकार समीचीन हो सकता है। अन्य दिनों में क्रान्ति के प्रतिक्षण परिवर्तित होने के कारण बिन्दुद्वय पर गत रेखा वास्तविक पूर्वापर रेखा के समानान्तर नही होती। अन्य दिन यह दिक्साधन केवल यात्रादि के लिए उचित है, वास्तु सम्बन्धी कार्यों तथा कुण्ड-मण्डप यज्ञवेदी निर्माण आदि कार्यों के लिए स्पष्ट एवं सूक्ष्म दिक्साधन की आवश्यक्ता होती है।

सिद्धान्त ज्योतिष के ग्रन्थों के अनुसार जिस दिन दिक्साधन करना हो उस दिन इष्ट प्रमाण का वृत्त बनाकर वृत्त के केन्द्र में द्वादशाङ्गुल शङ्कु स्थापित कर शंकु की छाया पूर्वाह्ण के समय वृत्त में प्रवेश करे तथा अपराह्न में निर्गत होते हुए वृत्त को जहां स्पर्श करे उन दो बिन्दुओं में की गई रेखा स्थूल पूर्वापर रेखा होती है। जिस समय वृत्त में छाया प्रवेश तथा छाया निर्गम करती हो उस समय सूर्य की क्रान्तिज्या का साधन करें। (ग्रह के उपर किये गये ध्रुवप्रोतवृत्त में नाडी तथा क्रान्तिवृत्त का याम्योत्तर अन्तर क्रान्ति कहलाता है।) सूर्य वास्तव पूर्वापर रेखा से क्रान्तितुल्य अन्तर पर क्रान्ति की दिशा के अनुसार उत्तर अथवा दक्षिण दिशा की ओर होता है। प्रवेश कालीन क्रान्तिज्या तथा निर्गमकालीन क्रान्तिज्या का आनयन कर उनके अन्तर को छायाकर्ण से गुणित करने

---

7 शिलातलेऽम्बुसंशुद्धे वज्रलेपेऽपि वा समे।
तत्र शङ्क्वंगुलैरिष्टैः समं मण्डलमालिखेत्।।
तन्मध्ये स्थापयेच्छङ्कुं कल्पनाद्वादशाङ्गुलम्।
तच्छायाग्रं स्पृशेद्यत्र वृत्ते पूर्वापरार्द्धयोः।
तत्र बिन्दू विधायोभौ वृत्ते पूर्वापराभिधौ।
तन्मध्ये तिमिना रेखा कर्तव्या दक्षिणोत्तरा।
याम्योत्तरदिशोर्मध्ये तिमिना पूर्वपश्चिमा।
दिङ्मध्यमत्स्यैः संसाध्या विदिशस्तद्वदेव हि। सूर्यसिद्धान्तः, त्रिप्रश्नाधिकारः, श्लो. 1-4

8. सिद्धान्तत्वविवेकः, त्रिप्रश्नाधिकारः, 37
वटेश्वरसिद्धान्तः त्रिप्रश्नाधिकारः, 2
सिद्धान्तशेखरः त्रिप्रश्नाधिकारः, 2

9 मेषार्कसन्दर्शनतो दिगंशान्तरेऽपि, पूर्वापरसूत्रमेकम् - 375

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

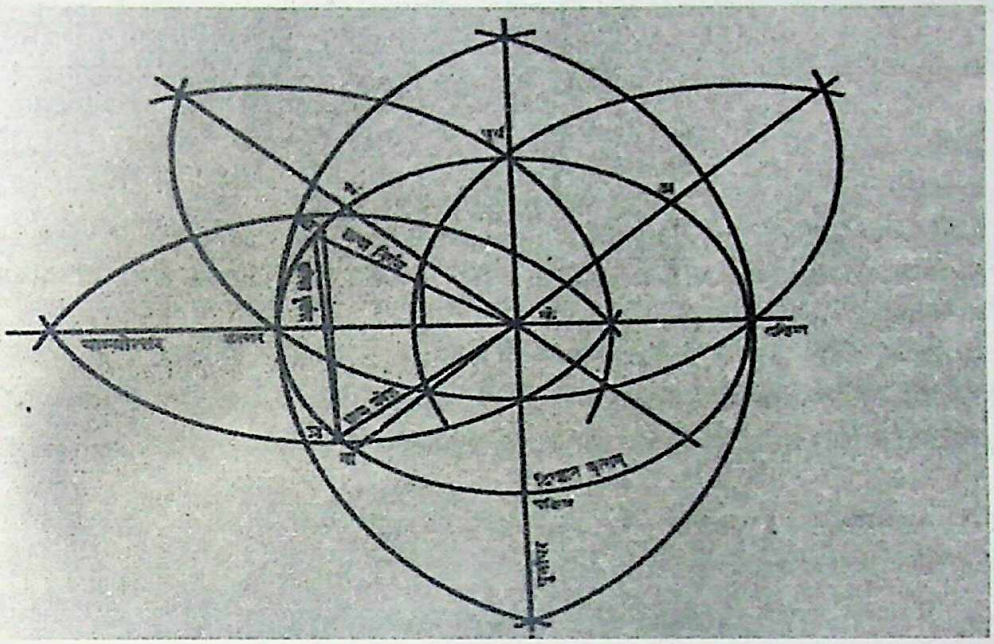

तथा लम्बज्या से विभक्त करने पर अङ्गुलात्मक फल को अयन की दिशा के अनुसार (उत्तरायण हो तो उत्तर तथा दक्षिणायन हो तो दक्षिण की दिशा में) पूर्व दिशा को चालित कर देने से प्राप्त बिन्दु से पश्चिम बिन्दु तक की रेखा वास्तव पूर्वापर रेखा के समानान्तर होती है।[10]

दिग्ज्ञान की अन्य सरलतम विधि ध्रुव वेध है। सिद्धान्तग्रन्थों के अनुसार ध्रुव उत्तर दिशा में स्थित है।[11] सरल नलिका आदि यन्त्र के द्वारा ध्रुव का वेध करने से नलिका का अग्र भाग जिस दिशा की ओर हो वह उत्तर दिशा तथा आदि बिन्दु (जिस बिन्दु से वेध किया जा रहा हो) जिस दिशा में हो वह दक्षिण दिशा होती है। उन दोनों बिन्दुओं से मत्स्य रेखा निर्मित करने से पूर्वापर रेखा निर्मित हाती है।

---

10 (क) सिद्धान्तशिरोमणि, त्रिप्रश्नाधिकारः, 8,9
(ख) ब्रह्मस्फुटसिद्धान्तः, त्रिप्रश्नाधिकारः, 1
(ग) सिद्धान्तत्वविवेकः, त्रिप्रश्नाधिकारः, 373,374
(घ) वटेश्वरसिद्धान्तः त्रिप्रश्नाधिकारः, 3,4
(ङ) सिद्धान्तशेखरः त्रिप्रश्नाधिकारः, 3

11. यद्वा ध्रुवादेव सदोत्तरा दिग् ज्ञेयाऽन्यदिग्ज्ञानमतो सुबोधम्। सिद्धान्ततत्वविवेकः, त्रिप्रश्नाधिकारः तोऽखिलानामुदकस्थितो मेरुरिति प्रसिद्धम्। सिद्धान्तशिरोमणिः, गोलाध्यायः भुवनकोशे, श्लो. सं. 45।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुसम्मत शयनकक्ष

डॉ. रीतिका जैन, डॉ योगेन्द्र शर्मा

वास्तु शास्त्र एक प्राचीन विज्ञान है और हमारी सांस्कृतिक धरोहर का महत्त्वपूर्ण अंश है। इसमें निवास एवं अन्य कार्यों हेतु भवनों के निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्तों एवं विधियों का उल्लेख किया गया है। राजा भोजदेव ने वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों के बारे में बताया है –

सुखं धनानि बुद्धिश्च सन्ततिः सर्वदा नृणाम् ।
प्रियान्येषां तु संसिद्धिं सर्व स्यात् शुभलक्षणम् ॥

यच्च निन्दित लक्ष्मा च तदेतेषां विधातकृत् ।
अथसर्वमुपादेयं यद्भवेत् शुभलक्षणम् ॥[1]

अर्थात् उपयुक्त प्रकार से नियोजित सुन्दर भवन में निवास करने से स्वास्थ्य व सम्पदा की वृद्धि, ज्ञान की प्राप्ति एवं सन्तान सुख की प्राप्ति होती है। जीवन सुखी व शान्तिमय बनता है तथा व्यक्ति समस्त ऋणों से मुक्त रहता है। शास्त्र की सम्मति की उपेक्षा करने से अनावश्यक यात्राओं, अपयश, अनेक दुःखों व निराशाओं का सामना करना पड़ता है।

इसीलिये भवन निर्माण करते समय वास्तुशास्त्र के द्वारा बनाये गये नियमों का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिये। पत्नी तथा अपने इष्ट मित्र, कुटुम्बियों को आनन्द और सुख देने वाला तथा पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष का प्रदाता एवं प्राणियों को आवास स्थान विभिन्न ऋतुओं से उत्पन्न होने वाले संताप से बचाने वाला, पुण्य और परोपकार के प्रदायक, वापी, कूप, तालाब, देवालय आदि का मूलाधार मानव का घर या भवन ही होता है।

त्रिवर्गसेवी सततं देवातानां च पूजनम्।
कुर्यादहरहर्नित्यं नमस्येत् प्रयतः सुरान्॥

विभागशीलः सततं क्षमायुक्तो दयालुकः।
गृहस्थस्तु समाख्यातो न गृहेण गृही भवेत्॥[2]

---

1 समराङ्गण सूत्रधार/प्रथम अध्याय/श्लोक 2, 3

2 कू.पृ. 2.15/25, 26

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गृहस्थ के लिए गृह (भवन) आवश्यक होता है। गृह में रहने से ही गृहस्थ कहा गया है तथा एक निश्चित स्थान में रहकर त्रिवर्ग धर्म-अर्थ काम का सेवन करता हुआ एक धार्मिक समाज का निर्माण करने वाला गृहस्थ ही होता है।

गृहस्थस्य क्रियाः सर्वाः न सिद्धयन्ति गृह विना।[3]

अर्थात् - गृहस्थ की सभी क्रियायें गृह के बिना सिद्ध नहीं होती है।

भवन में निवास करने वाला अपने उपयोग की सभी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये विभिन्न कक्षों का निर्माण करता है जैसे रसोईघर, शयनकक्ष, पूजा-घर, बैठक, शौचालय आदि। भवन में सभी कक्षों का महत्त्वपूर्ण उपयोग होता है। भवन इन सभी के होने से ही पूर्ण कहा जा सकता है। सभी की भवन में भूमिका होती है इनमें शयनकक्ष की भवन-निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

चाहे बड़ा भवन हो या छोटा भवन हो, शयनकक्ष केवल उस जगह होना चाहिये जहां कोई आराम कर सके और शांतिपूर्वक निद्रा ले सके। तनावपूर्ण और व्यस्त दिनचर्या से मुक्त होकर कुछ घंटों के लिये आराम कर सके। ज्यादातर प्राणी अपनी पूरी जिन्दगी का एक-तिहाई समय आराम करने और सोने में व्यतीत करते हैं। यदि हम यह माने कि किसी भी आदमी की औसत आयु 70 वर्ष है और माना कि सोने व आराम करने का एक दिन में औसत समय 7 से 8 घंटे हैं तब वह इसके आधार पर 23 से 24 साल आयु के शयनकक्ष में व्यतीत करते हैं। सुखदायी नींद और उचित आराम एक सुखमय स्वास्थ्य के लिए अति आवश्यक है। अतः इसके लिये जरूरी है कि हमारा शयनकक्ष इस प्रकार से तैयार हो कि हम बिना किसी हस्तक्षेप और तनाव के आराम कर सकें और सो सके। इसीलिये शयनकक्ष की स्थिति अन्य कक्षों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है वास्तु हमारे भवनों में शयनकक्ष की स्थिति और आकृतियों को तैयार करने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

वास्तुशास्त्र के अनुसार शयनकक्ष के निर्माण के लिये दक्षिण और पश्चिम दिशायें उपयुक्त मानी गयी हैं। इन दोनों में से भी दक्षिण दिशा सबसे अच्छी मानी गयी है।

ऐन्द्रायण स्नानगृहम् कार्यानग्येम् पचानलाय।
याम्यायाम् शयनम् वेश्मा नैर्ऋत्यं शस्त्रमन्दीरम्।।[4]

स्नानागार दिशि प्राच्यामाग्नेयां पचनालयम्।
याम्यायां शयनागारं नैऋत्यां शस्त्रमन्दिरम्।।[5]

---

3 भविष्य पुराण-उद्धृत वास्तुरत्नाकर 1.7/ वास्तुरत्नावली पृ.2/वास्तुसौख्यम् 1/71

4. वास्तुरत्नावली/श्री मदच्युतानन्द झा/तृतीय संस्करण/पृष्ठ 125

5. नारद संहिता वासुलक्षणाध्याय/श्लोक-50

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उपर्युक्त दोनों श्लोकों में कहा गया है कि स्नानागार पूर्व में होना चाहिये, रसोईघर दक्षिण-पूर्व में, शयनकक्ष याम्या अर्थात् दक्षिण में और शस्त्रागार दक्षिण-पश्चिम में होना चाहिये।

मुहूर्त्त मार्तण्ड और मुहुर्त्त-चिन्तामणि भी दक्षिण दिशा को ही शयनकक्ष के लिए उपयुक्त दिशा मानते हैं।

शयनकक्ष को एल (L) के आकार में बनाया जाना चाहिये। दक्षिण-पश्चिम (द०-प० से उ०-प० और द०-प० से द०-पू० से पहले तक) शयनकक्ष की लम्बाई व चौड़ाई इस प्रकार होनी चाहिये कि इसके गुणनफल में नौ से गुणा करके उसको आठ से भाग देने पर पाँच या तीन शेष बचना चाहिये। तीन शेष बचने से दक्षिण दिशा में बनाये गये शयनकक्ष के आकार का फल शत्रु पर विजय तथा आर्थिक व शारीरिक सुख प्राप्त कराता है पाँच शेष बचने पर पश्चिम दिशा में बनाये गये शयनकक्ष के आकार का फल आर्थिक सम्पन्नता लाता है।

शयनकक्ष का आयतन चतरस्र शुभ कहा गया है। यदि त्रिकोण भी होता है तो ये ध्यान रखना चाहिये कि दक्षिण की भुजा अन्य भुजाओं से लम्बी न हों। वास्तुशास्त्रानुसार त्रिकोण कक्ष में रात्रिशयन, सुखपूर्वक नहीं हो सकता, विषम एवं पंचकोण कक्ष में जीवन संघर्षमय बना रहता है। शयनकक्ष की दक्षिण से उत्तर की ओर लम्बाई सुखद कही गयी है। अतः जहां तक संभव हो चतुरस्र कक्ष का ही निर्माण कराना चाहिये।

वैदिक ग्रन्थों के कथनानुसार वास्तु के विशेषज्ञों ने विभिन्न दिशाओं में शयनकक्ष के प्रभावों का विश्लेषण किया है। उनके सुझावों के सारांश के अनुसार सामान्य तौर पर पाये गये सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव इस प्रकार हैं :-

1. शयनकक्ष ईशान या उत्तर-पूर्व में हो -

यह वास्तु के सिद्धान्तों के विपरीत माना जाता है। इस दिशा में शयनकक्ष होना उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि जैसा कि इसका नाम सूचित करता है, ईशान ईश्वर का स्थान है। इसीलिये यह दिशा प्रार्थना-पूजा और ध्यान के लिये सर्वोत्तम मानी गयी है। यदि मुख्य शयनकक्ष गृह के इस कोने में हो और गृह के मुखिया द्वारा काम में लिया जाता हो तो वह शारीरिक और मानसिक समस्याओं से पीड़ित हो सकता है और प्रायः आर्थिक तनाव का सामना करना पड़ता है।

2. पूर्व में शयनकक्ष -

लम्बे समय तक इस दिशा में शयनकक्ष के होने से मनुष्य का स्वास्थ्य खराब रहता है और विचारधरा में परिवर्तन होता रहता है। यदि इस दिशा में शयनकक्ष आवश्यक हो तो मेहमानों के लिये इस दिशा में शयनकक्ष हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

3. दक्षिण-पूर्व (आग्नेय) में शयनकक्ष -

अग्नि का स्थान होने के कारण इस दिशा में शयनकक्ष होना परिवार के मुखिया की मानसिक शान्ति को परेशान कर सकता है। वह अत्यधिक चिड़चिड़ा महसूस करता है और शीघ्र क्रोधित हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप परिवार की शांति और सौहार्द बिगड़ जाता है। मानसिक अशांति बढ़ती है और अनिद्रा की ओर ले जाती है। इस दिशा में शयनकक्ष बनाना अनिवार्य हो तो उस कक्ष के दो भाग किये जाने चाहिये। जिनमें कक्ष के आधे भाग को स्टोर रूम व रसोई के रूप में काम में लेना चाहिये व अन्य आधे कक्ष को शयनकक्ष बनाना चाहिये। यदि ऐसा भी सम्भव ना हो तो इस शयनकक्ष को घर की उन युवा लड़कियों को काम में लेना चाहिये जिन्हें जल्दी गुस्सा ना आता हो। अग्नि की शक्ति, ऊर्जा उन्हें ऊर्जावान व क्रियाशील बनायेगी।

4. दक्षिण में शयनकक्ष -

यह सबसे उत्तम चुनाव माना जाता है। इस दिशा में भू-चुम्बकीय प्रभाव शारीरिक और मानसिक आराम के लिये सबसे उपयुक्त माना जाता है। इस दिशा में व्यक्ति को अच्छी नींद आती है और वह अगले दिन के लिए ऊर्जा और ताजगी महसूस करता है। इस प्रकार उसकी उत्पादकता, मानसिक-शांति और रचनात्मकता बढ़ती है। इस प्रकार मुख्य शयनकक्ष के इस दिशा में होने पर परिवार को समृद्धि व खुशी मिलती है।

5. दक्षिण-पश्चिम दिशा में शयनकक्ष -

यदि मुख्य शयनकक्ष इस दिशा में हो तो दक्षिण की भाँति यह दिशा भी सुखद प्रभाव उत्पन्न करती है। सबसे अच्छे परिणामों के लिए शयनकक्ष दक्षिण दिशा में होना चाहिये।

6. पश्चिम दिशा में शयनकक्ष -

दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम (नैर्ऋत्य) दिशा के बाद यह दिशा भी एक अच्छा चुनाव हो सकती है। लेकिन इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इसकी छत की ढाल दक्षिण-पूर्व या अन्य किसी दिशा में होनी चाहिए। परन्तु पश्चिम में नहीं होनी चाहिए। बच्चों का या युवाओं का शयनकक्ष इस दिशा में होने पर इसके अधिक लाभकारी प्रभाव मिलते हैं।

7. वायव्य (उत्तर-पश्चिम) दिशा में शयनकक्ष -

मेहमानों व कुंवारी लड़कियों के लिये यह दिशा उत्तम है परन्तु मुख्य शयनकक्ष के लिये यह दिशा उत्तम नहीं है, क्योंकि इस दिशा में शयनकक्ष होने से मानसिक अशांति, तनाव, स्वास्थ्य खराब होना तथा लड़ाई-झगड़े होते हैं। परिवार के मुखिया पर इस के प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

देते हैं। यदि इस दिशा में बनें मुख्य शयनकक्ष को मुखिया के द्वारा काम में लिया जाता है तो पति-पत्नी में से एक को अनावश्यक रूप से यात्रायें करनी पड़ सकती है।

8. उत्तर दिशा में शयनकक्ष -

वास्तु के नियमों के अनुसार इस दिशा को शयनकक्ष हेतु निषिद्ध कहा गया है। यह दिशा कुबेर की मानी जाती है जो कि धन का स्वामी है। इसीलिये यह दिशा धन व कीमती वस्तुओं को रखने के लिये काम में ली जाती है व अच्छी मानी जाती है। इस दिशा में शयनकक्ष होना परिवार की समृद्धि को हानि पहुँचाता है तथा आर्थिक पतन होता है जिससे मानसिक अशांति और स्वास्थ्य खराब होता है। अतः शयनकक्ष उत्तर और उत्तर-पश्चिम दिशा के मध्य में बनाया जा सकता है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि हमें मुख्य शयनकक्ष दक्षिण दिशा में बनाना चाहिये। पश्चिम व दक्षिण-पश्चिम दिशायें भी सकारात्मकता प्रदान करती हैं। इनके अलावा मुख्य शयनकक्ष अन्य दिशाओं में नहीं बनाने चाहिये।

वास्तु के अनुसार पलंग की दिशा का निर्धारण -

शयनकक्ष में पलंग की दिशा एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। निद्रा अथवा शयन करते समय गलत दिशा में रखा गया पलंग निद्रा को भंग कर सकता है साथ ही पलंग का प्रयोग करने वाला जातक, बीमारियों से भी ग्रस्त हो सकता है। यदि पलंग का सिरहाना उत्तर दिशा में रखते हैं तो कई रातें बिना सोयें बितानी पड़ सकती हैं। उत्तर या पश्चिम की तरफ सिर करके सोने से आयु क्षीण होती है। यथा-

नोत्तराभिमुखः सुप्यात् पश्चिमाभिमुखो न च।[6]
प्राच्यां दिशि शिरश्शस्तं याम्यायामथवा नृप।
सदैव स्वपतः पुंसो विपरीतं तु रोगदम्।।[7]

अर्थात् पूर्व व दक्षिण की तरफ सिरहाना उत्तम है। इसके विपरीत होने से रोग व चिन्तायें उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त शयनकक्ष में पलंग को दक्षिण-पश्चिम में स्थान देना चाहिये। शयनकक्ष मे उत्तर और पूर्व दिशा को अधिक खुला स्थान देना चाहिये। यदि संभव न हो तो पलंग पूर्व या पश्चिम की तरफ भी रखा जा सकता है। परन्तु पलंग पर सोने की व्यवस्था इस प्रकार हो कि सोते समय सिरहाना पूर्व अथवा दक्षिण की ओर ही रहे। पलंग को दीवार से सटाकर न रखकर थोड़ा दूर लगाना चाहिये।

6. लघु स्मृति, 2/88
7. विष्णु पुराण 31/11/111

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शयनकक्ष में पलंग की व्यवस्था पूर्व मध्य में नहीं करनी चाहिए क्योंकि मध्य स्थान बहुत ही नाजुक और महत्वपूर्ण होता है। मध्य भाग में बिना रुकावट के ऊर्जा का बहाव सदा ही होते रहना चाहिये। यह आपसी सौहार्द और स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। अगर पलंग शयनकक्ष के वायव्य कोण की तरफ रखा जाता है तो उससे घरेलु सदस्यों में विवाद उत्पन्न होने की संभावना बढ़ जाती है। अग्निकोण में रखने से पति-पत्नी के बीच बिना वजह संघर्ष तथा खर्च में वृद्धि होती है। शयनकक्ष का ईशान कोण खाली रहना चाहिये जिससे वैश्विक शक्ति के प्रवेश को दिशा मिल सके। पलंग के दाई ओर छोटी टेबल को जिसपर आवश्यक वस्तुयें जैसे दूध, पानी आदि रखने के लिये स्थापित किया जा सकता है।

शयनकक्ष में पलंग उत्तम व मजबूत लकड़ी से बना होना चाहिये। ये चरमराने वाले नहीं होने चाहिये। उत्तम लकड़ी से पृथ्वी के चुम्बकीय गुरूत्वाकर्षण से मिलने वाली नकारात्मक ऊर्जा को रोका जा सकता है पलंग का निर्माण चंदन, शीशम, शमी, आम आदि वृक्षों से किया जाना चाहिये। पलंग के निर्माण में दूध वाले वृक्षों जैसे- (पीपल, गूलर, वट वृक्ष आदि), कंटीले वृक्षों (शमी वृक्ष को छोड़कर) लकड़ी का प्रयोग नहीं करना चाहिये। पलंग में लोहा, स्टील, राड स्टील तथा अन्य पदार्थों से युक्त सामग्री का प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से शयनकक्ष में धनात्मक ऊर्जा का लाभ शयन करते समय जातक को नहीं मिल सकेगा।

शयनकक्ष में ऐसा पलंग रखना चाहिये जिस पर दो व्यक्ति आराम से सो सकें। पलंग के पायों और फर्श के बीच इतनी जगह तो होनी ही चाहिये कि प्राणिक ऊर्जा का बहाव आसानी से हो सके। ऐसा नहीं करने से मानसिक अवसाद तथा कार्य करने में अरूचि दिखाई पड़ती है। पलंग के गद्दे आरामदेह होने चाहिये। जिन दम्पत्तियों में वैवाहिक मतभेद हो रहे हों उन्हें चाहिये कि वे डबल बेड पर इकहरा (सिंगल) गद्दा बिछायें। विकल्पस्वरूप इन गद्दों को सिलकर भी बिछाया जा सकता है। शयनकक्ष में पलंग इत्यादि गोल कोनों वाला रखना चाहिये। नुकीले कोनों वाला फर्नीचर दिमागी तनाव को बढ़ावा देता है परन्तु यदि कोणाकार पलंग को चुनने के अलावा कोई विकल्प न हो तो इसे जितना हो सके उतना कोणों को कम किया जाये। झालर लगाकर भी चतुर्भुज कोणों को कम किया जा सकता है। इसी तरह चारों कोणों को कपड़े से ढककर भी यह कार्य किया जा सकता है।

पलंग सदैव चौरस होना चाहिये जिसमें सिरहाना थोड़ा ऊँचा होना चाहिये जिससे जातक को निद्रा में कोई व्यवधान ना हो सके तथा रक्तचाप के दृष्टिकोण से भी यह उचित रहता है। भूमि के ढलान पर यदि पलंग लगा हो तो स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्यायें उत्पन्न होती हैं। अतः पलंग अधिक ऊँचाई वाले भाग में रखना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शयनकक्ष का द्वार पलंग के एकदम सामने नहीं होना चाहिये तथा पलंग शयनकक्ष के द्वार के पास स्थापित नहीं करना चाहिये यदि ऐसा करेंगे तो बाहर की घटनाओं से नींद प्रभावित होगी और चित्त में अशांति तथा व्याकुलता बनी रहेगी। पलंग को द्वार की उल्टी दिशा में कमरे के पिछले कोने में रखना चाहिये। इससे आने जाने में दिक्कत नहीं होती है और प्राणिक ऊर्जा भी भ्रमित नहीं होती है। पलंग को दो द्वारों के मध्य में भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि यहां सोने वाले को ऊर्जा की नकारात्मक मार झेलनी पड़ती हैं। सिरहाना ठोस दीवार की तरफ रखना चाहिये। पांव या सिर के पीछे दरवाजा या खिड़की हानिकारक होती है। यह स्वास्थ्य की दृष्टि से ठीक नहीं है। कोई दूसरा विकल्प न हो तो पलंग को खिड़की से कुछ अलग हटाकर रखना चाहिये और सोते समय पर्दा डालकर या खिड़की बंद करके सोना चाहिये। शयनकक्ष में पलंग के मुख के सम्मुख प्रकाश नहीं पड़ना चाहिये अर्थात् प्रकाश सदैव सोने वाले व्यक्ति की बाईं ओर से आना चाहिये।

पलंग कभी भी बीम के नीचे नहीं होना चाहिये। यदि ऐसा संभव न हो तो कम से कम यह ध्यान देना चाहिये कि बीम बिस्तर की लम्बाई की दिशा में हो, न कि चौड़ाई की दिशा में। अन्यथा फॉल्स सीलिंग छत, कार्ड बोर्ड, प्लास्टिक या प्लाईवुड की बनाकर भी बीम को ढक सकते हैं।

बीम के नीचे पलंग होने से जातक को मानसिक बीमारी, डिप्रेशन तथा उच्च-निम्न रक्तचाप जैसी बीमारियों का सामना करना पड़ सकता है। बीम के नीचे उठने-बैठने वाला व्यक्ति बेचैनी, दबाव व असंतोष महसूस करता है तथा उसकी उन्नति रुक जाती है। सोते समय या बैठते समय जिस अंग पर बीम आता है उस अंग में विकार पैदा हो सकते हैं। यदि सोने वालों के बीच बीम विभाजित करने वाली लाईन की तरह लगे तो पति-पत्नी में मतभेद रहता है।

यदि शयनकक्ष ऐसा बना हो कि इसके कोने चार मुख्य दिशाओं में हो अर्थात् विदिशा भूखण्ड पर बने हों तो पलंग ऐसी स्थिति में रखना चाहिये कि सोते समय पैर आग्नेय या नैर्ऋत्य दिशा में ना फैलें।[8]

आधुनिक युग में पलंग के सिरहाने पर दर्पण लगाने का व्यावहारिक पहलु देखने में आया है जो कि सर्वथा गलत है। इससे पलंग पर शयन करने वाले जातक को माईग्रेन, साइनस जैसी बीमारियों का सामना करना पड़ सकता है। पलंग दर्पण में दिखाई भी नहीं देना चाहिये अर्थात् सिरहाने या पैरों की तरफ दर्पण या ड्रेसिंग टेबिल नहीं होनी चाहिये। क्योंकि दर्पण के समानान्तर शरीर का जो अंग रहेगा वह विकारग्रस्त हो जाता है। दर्पण को इस प्रकार लगाया जाना चाहिये जिससे पलंग पर लेटकर भी दरवाजे का दृश्य देखा जा सके। यदि पलंग और दर्पण की दिशा सही

8 सम्पूर्ण वास्तुशास्त्र/एस.के. मेहता/पृ. 133

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

हो तो शयनकक्ष में अचानक प्रवेश करने वाले व्यक्ति को देखा जा सकता है।

सामान्यतः आधुनिक युग में पलंग इस तरह से बनाये जा रहे हैं जिसे बॉक्स के रूप में भी प्रयोग लिया जा सके जो कि कुछ हद तक गलत है। इससे शयनकक्ष की धनात्मक ऊर्जा का आवागमन अवरूद्ध होता है। बॉक्स में अनावश्यक वस्तुयें नहीं होनी चाहिये। पलंग के अंदर कीमती वस्तुयें, रूपया, जेवर, कीमती पत्थर आदि रख सकते हैं। अन्यथा उसमें ऑफ सीजन के कपड़े या बिस्तर आदि भी रख सकते हैं। परन्तु कबाड़ नहीं बनाना चाहिये। अन्यथा उस पलंग पर सोने वाले को मानसिक अशांति रहती है तथा परिवार में विवाद का कारण भी बनता है। पलंग के सिरहाने के बॉक्स में व ऊपर किताबें या अन्य कोई वस्तुयें नहीं होनी चाहिये।

शयन में दिशा का निर्धारण -

शयनकक्ष में पलंग की दिशा के साथ-साथ उस पर शयन करने का स्थान भी निर्धारित करने की आवश्यकता होती है। शयन की गलत दिशा मानसिक परेशानियों को बढ़ावा देती है। शास्त्रों में यह उल्लेख है कि व्यक्ति को अपने घर में सिर पूर्व या दक्षिण करके सोना चाहिये। दूसरे के घर या अन्य स्थानों पर सिर पश्चिम की ओर रखना चाहिये। तथा यात्रा के समय भी अपना सिर पश्चिम की ओर रखना चाहिये परन्तु अपना सिर उत्तर दिशा की ओर करके कभी नहीं सोना चाहिये।

हमारे लोकप्रिय देवता हाथी के सिर वाले गणेश जी से संबंधित, युगों पुरानी कहानी पर ध्यान देना रोचक होगा। मानव रूप प्राप्त बालक गणेशजी की पूर्व कथा में बिना जाने भगवान शिव ने उनका सिर काट दिया, लेकिन अपनी पत्नी गौरी द्वारा गणेश जी को पुनर्जीवित करने की प्रार्थना करने पर उन्होने आज्ञा दी कि जो भी उत्तर दिशा की ओर सिर किये सो रहा हो उसका सिर काट लाओ। खोजने के बाद केवल एक हाथी मिला जो उत्तर दिशा की ओर सिर करके सो रहा था। उसका सिर काटकर लाया गया जो शिवजी ने गणेशजी के सिर के स्थान पर लगाकर उन्हें फिर से जीवित कर दिया। इसी प्रसिद्ध उपाख्यान के कारण भारत में लोग उत्तर की ओर सिर करके सोना पसंद नहीं करते।

शरीर के सब भागों में सिर सबसे अधिक भारी तथा हर दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और सुख शांति के लिये सिर दक्षिण की ओर करके सोना सर्वोत्तम है।

स्वगेहे प्राविशराः सुप्यात्, स्वर्वासे, दक्षिणेशिरः।
प्रत्यक् शिरः प्रवासे तु, नोदक्यां वै कदाचन॥

---

9 वास्तुशास्त्र महाग्रन्थ/राजेन्द्र कुमार रत्तरा/पृ. 232

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अर्थात दक्षिण की ओर सिर करके सोने से शुभ होता है। सुखद नींद आती है और सुख सम्पत्ति को प्राप्त करता है।

दक्षिण की ओर सिर करके सोने का वैज्ञानिक कारण भी है। पृथ्वी के चुम्बकीय बल की सकारात्मक ऊर्जा उत्तर दिशा में तथा नकारात्मक ऊर्जा दक्षिण दिशा में विद्यमान होती है ऐसी स्थिति में मानव शरीर का सिर दक्षिण दिशा में रहने से धनात्मक एवं ऋणात्मक गति मिलने से ऊर्जा उत्पन्न होती है।

आशय यह है कि शरीर के रक्त में लोहा होता है, जो कि शरीर को चुम्बकीय बनाने के साथ सिर में सकारात्मक ऊर्जा को बनाता है। सिर उत्तर को और पैर शरीर के दक्षिण दिशा को इंगित करता है। यदि हम सिर को उत्तर दिशा में रखकर सोते हैं तो सकारात्मक छोर एक दूसरे को पीछे हटाते हैं जो कि रक्त के प्रवाह में खलल डालते हैं और नींद व स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। इसलिये कभी भी सिर उत्तर में करके नहीं सोना चाहिये तथा उत्तर में सिर करके सोने से सिरदर्द, दुःस्वप्न, नींद उच्चाटन और स्नायुओं में उत्तेजना भी हो सकती है।

किन्हीं अपरिहार्य कारणों से ऐसा संभव ना हो सके तो पश्चिम में सिर व पूर्व में पैर किये जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि प्राकृतिक धनात्मक ऊर्जा पूर्व दिशा से प्राप्त होती है तथा ऋणात्मक ऊर्जा सूर्य अस्त के समय पश्चिम से उत्पन्न होती है। किन्तु यह उनके लिये उत्तम होती है जो स्थायी रूप से उस घर में निवास नहीं करते जैसे मेहमान और बेटियाँ।

वास्तुशास्त्रियों ने प्रतिपादित किया है कि पश्चिम की ओर सिर रखकर सोना मानव के लिये श्रेयस्कर है। पूर्व दिशा का अधिपति इन्द्र है जो देवताओं का भी अधिपति है। प्रातः काल पूर्व की ओर नमस्कार करना सभी देवताओं को नमस्कार करने के समान है।

पूर्व की ओर सिर रखकर पश्चिम की ओर देखने से मानव पश्चिम दिशा के अधिपति वरूण को नमस्कार करते हैं। इसका प्रभाव हमारे आध्यात्मिक चिन्तन, विश्वास और साधना पर पड़ता है। यह दिशा बच्चों के सोने के लिये उत्तम होती है।

दक्षिण की ओर सिर रखकर उत्तर की ओर देखना सर्वोत्तम है। उत्तर दिशा का अधिपति कुबेर है इसीलिये हम कुबेर को नमस्कार करते हैं। दक्षिण दिशा सबसे अच्छी व उत्तम होती है। दक्षिण दिशा में सिर करके सोने से गहरी नींद व खुशी मिलती है। व्यापार में प्रगति होती है। नैऋत्य में करने से बुद्धि, सुख व ईशान में करने से वैवाहिक जीवन का आनन्द मिलता है।

किसी भी परिस्थितियों में उत्तर दिशा में सिर रखकर दक्षिण दिशा की ओर नहीं देखना चाहिये क्योंकि दक्षिण का अधिपति यम है। मानव के जीवन में अन्त में निर्जीव प्राणी को ही चिता

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पर उत्तर की दिशा में सिर रखकर दक्षिण दिशा को अभिमुख करके लिटाया जाता है। उत्तर की ओर सिर रखकर दक्षिण की दिशा में अभिमुख होकर सोने वालों को करवटें बदलनी पड़ती है, दुःस्वप्न आते हैं तथा निद्रा भंग होती है तथा दक्षिण की ओर सिर करके सोने से दीर्घ आयु की प्राप्ति होती है।

शयन करते समय निम्नलिखित बातें भी ध्यान रखनी चाहिये -

1. शयनकक्ष का कोई भी कोना कटा हुआ अथवा बढ़ा हुआ नहीं होना चाहिये।

2. शयन करते समय पैर दरवाजे की ओर नहीं होने चाहिये। दरवाजे के सामने पैर करके सोने वाले के स्वास्थ्य पर इसका कुप्रभाव पड़ता है। सिरहाने पर भी दरवाजा नहीं होना चाहिये।[9] दरवाजा सिरहाने व पैर की ओर होने से कलह, बीमारी, आपदा व मृत्यु की संभावना होती है।

3. यदि सोते समय सिर पश्चिम दिशा की ओर रखना पड़े तो पलंग का एक हिस्सा पश्चिम की दीवार को छूता रहना चाहिये।

4. पलंग के सम्मुख दीवार पर प्रेरक व रमणीक चित्र लगाने चाहिये। आदर्शवादी चित्र आत्मबल को बढ़ाते हैं और दाम्पत्य जीवन भी आनन्दमय व विश्वस्त बना रहता है।

5. जिस दिशा में सिरहाना हो उस दिशा की दीवार पर पहाड़ वाले चित्र, दौड़ते हुये घोड़ों का चित्र अवश्य लगाना चाहिये। जिससे जातक का आत्मविश्वास एवं निर्णय लेने की क्षमता में बढ़ोतरी होती है।

6. सिर अथवा पैर सोते समय टायलेट की ओर नहीं होने चाहिये।

7. सोते समय इलेक्ट्रोनिक उपकरणों का प्रयोग सिरहाने रखकर नहीं करना चाहिये। किन्तु पर्याप्त रोशनी की व्यवस्था होनी चाहिए जिससे निद्रा में कोई खलल पैदा न कर सके।

8. सोते समय मध्यम स्वर लहरियों का प्रयोग करने से मानसिक और शारीरिक संतुष्टि मिलती है। सोते समय पलंग के सिरहाने ताँबे के पात्र में पानी भरकर रखने से निद्रा अच्छी आती है साथ ही सुबह उठकर पानी का सेवन करने से शारीरिक ऊर्जा में वृद्धि होती है।

9. सोते समय दिशाओं के 90^0 कोण पर शयन करना चाहिये।

10. शयनकक्ष में सोते समय शयनकक्ष के मध्य में कोई झाडफानूस अथवा बड़े आकार की रोशनी नहीं होनी चाहिये। इससे जातक को हृदय एवं पेट सम्बंधी बीमारी होने की प्रबल संभावना रहती है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

11. सोते समय लाल रंग का पिलो कवर, चादर, पर्दे इत्यादि का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

12. शयन करते समय दर्पण में प्रतिबिम्ब से ब्लडप्रेशर, हार्ट अटैक, मधुमेह, कैंसर, टी.बी. आदि बीमारियाँ हो सकती हैं।

13. विशेष परिस्थिति में पलंग को कोने में इस प्रकार लगाना चाहिये कि सोने वाला व्यक्ति द्वार पर आने-जाने वाले पर निगाह रख सकें। दर्पण की दिशा में आड़ा-तिरछा झुकाव ऐसा करें कि द्वार पर आने वाला व द्वार के बाहर का दृश्य पलंग पर बैठे व्यक्ति को दिखाई देवें।

14. पुराने मकानों के शयनकक्ष में दुछत्ती होने की वजह से उसके नीचे शयन करने वाले जातक को हृदयाघात होने की सम्भावना होती है तथा दुछत्ती अथवा बीम के नीचे शयन करने से शरीर में रोग लग जाते हैं। बीम के नीचे फाल्ससीलिंग करवा लेनी चाहिये। आशय यह है कि बीम के नीचे नहीं सोना चाहिये।

15. सोते समय सिरहाना उत्तर दिशा में रखने से उच्च एवं निम्न रक्तचाप होने की प्रबल संभावना रहती है।

दक्षिण और उत्तर इन दोनों दिशाओं का आराम करने की दृष्टि से बहुत ही महत्त्व हैं अतः वास्तुदोष होते हुये भी यदि शयनकक्ष में पलंग पर दक्षिण की ओर सिर रखकर सोयें तो कुछ हद तक वास्तुदोषों से मुक्ति पा सकते हैं।

शयनकक्ष की दीवारों पर पेंटिग (चित्र) की दिशा का निर्धारण -

वास्तु के अनुसार दीवारों पर पेंटिंग, चित्र तथा भित्तिचित्रों का प्रयोग अच्छा माना जाता है इससे जातक के मनोविज्ञान पर विशेषप्रभाव पड़ता है। चूंकि आधुनिक युग में इसका प्रचलन तेजी से बढ़ा है और इसके प्रयोग का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि इससे वास्तु दोष दूर करने में काफी मदद मिलती है तथा जातक दीवारों पर किया जाने वाला कलर (रंग) महंगा होने की वजह से भी इनका प्रयोग अधिक करता है।[10]

शयनकक्ष में घर को कलात्मक रूप देने के लिए प्लॉस्टर, मिट्टी व मार्बल की मूर्ति जानवरों की आकृतियाँ, हुक्का, बैलगाड़ी, लोहधातुओं से बनी आकृतियाँ तथा रॉड आयरन से बनी वस्तुओं का प्रयोग नहीं करना चाहिये इससे ऋणात्मक ऊर्जा बनती है और दाम्पत्य सुख में कमी आती है।

---

10 वास्तु मीमांसा/डा. सुरेश चन्द्र मिश्र/पृ.175

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शयनकक्ष में उदासीन एवं नकारात्मक सोच वाले दीवार चित्रों को भी स्थान नहीं देना चाहिये। जिनमें कंटीली झाड़ियों एवं पेड़-पौधों, सूखे पेड़-पौधों, दरकती हुई जमीन के चित्र, रेगिस्तान के चित्र, ज्वालामुखी के चित्र, भूख एवं अन्य बेबसी को प्रदर्शित करने वाली मानवाकृतियां, आग्नेयशास्त्रों एवं डरावने चित्र आदि। ये चित्र मानसिक तनाव को बढ़ावा देते हैं। भागते हुये घोड़ों के रथ का चित्र मनुष्य के विकास को रोकता है।

शयनकक्ष में कभी भी देवी-देवता के चित्र नहीं लगाने चाहिये। प्राकृतिक दृश्य,श्रृंगारिक दृश्य अथवा किसी भी फिल्मी हस्तियों के चित्र लगाये जा सकते हैं एवं प्राचीन कालीन अप्सरायें या उनकी कलात्मक मूर्तियां भी रखी जा सकती हैं।[11]

शयनकक्ष में दीवार चित्र आकर्षक एवं मन को सुकुन देने वाले होने चाहिये। अश्लील चित्रों को नहीं लगाना चाहिये। यह प्रवृत्ति शुक्र ग्रह के शुभ फलों में कमी करती है। शुक्र ग्रह काम (सेक्स) के साथ-साथ धन और ऐश्वर्य का कारक ग्रह भी है। यदि इसका काम पक्ष में प्रभाव पड़ता है तो अन्य पक्षों धन व ऐश्वर्य में शुक्र का प्रभाव कम हो जाता है।

शयनकक्ष में शालीनता से चित्रित प्रणय दृश्यों के चित्र, हरियाली एवं मन को लुभाने वाले प्राकृतिक दृश्यों के चित्र, प्रेरक व्यक्तियों के चित्र आदि को प्रमुखता देनी चाहिये जो कि हमारे मन में खुशी, प्रसन्नता, शांति पैदा कर सकें।

पलंग के सिरहाने की दीवार पर केवल प्राकृतिक दृश्यों के चित्र ही लगाने चाहिये, अन्य नहीं। वैसे सिरहाने की दीवार खाली छोड़ना ज्यादा ठीक होता है। एक दीवार पर एक या दो से अधिक चित्र नहीं लगाने चाहिये। शयनकक्ष में शयन करने वाले व्यक्तियों के फोटो भी लगाये जा सकते हैं। ये फोटो पलंग के सिरहाने के ऊपर या सामने की दीवार पर लगाये जा सकते हैं। पति-पत्नी के फोटो साथ लगाने चाहिये, इससे प्रेम बढ़ता है।

शयनकक्ष में पेंटिंग्स अथवा चित्रों की दिशा उचित होने से जातक पर बहुत ज्यादा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है इसलिये इसकी उचित दिशा होना आवश्यक है इस संदर्भ में निम्नलिखित बिन्दुओं को भी ध्यान रखना आवश्यक है -

1. मकान की उत्तर तथा पूर्व दिशा पर पेंटिंग्स अथवा चित्र लगाना शुभ माना गया है।
2. वास्तु के अनुसार शयन एवं विश्राम करते समय सिरहाना दक्षिण में होने की वजह से चित्र उत्तर दिशा में लगाना उचित है।
3. वास्तु के अनुसार चित्र अथवा पेंटिंग्स कटे-फटे, टूटे हुये नहीं होने चाहिये।
4. शयनकक्ष में पूर्व दिशा में सूर्य का चित्र अवश्य लगाना चाहिए। मनमोहन चित्र व पर्दे

11 वास्तु मीमांसा/डा. सुरेश चन्द्र मिश्र/पृ. 176

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

लगाने चाहिये।

5. रामायण, महाभारत के युद्ध के दृश्य नहीं लगाने चाहिये। लड़ते हुये जानवरों के चित्र व खिलौने आदि नहीं लगाने चाहिये। तथा अकाल, दुर्घटनायें, उपद्रव तथा अग्निकाण्ड आदि के चित्र नहीं लगाने चाहिये।

6. नृत्य समारोह के चित्र शयनकक्ष के उत्तर-पश्चिम में लगाने चाहिये। कलश, स्वस्तिक, कमल के फूल, गुलदस्ते के चित्र आदि शयनकक्ष में उत्तर अथवा पूर्व दिशा में लगाने चाहिये।

7. वास्तु के अनुसार चित्र अथवा पेंटिंग्स जिसमें पहाड़, झरने एवं ऊँची- ऊँची मंजिलों वाले चित्र दक्षिण अथवा पश्चिम दिशा में लगाना अच्छा माना जाता है।

8. मकान के अन्यकक्ष की दक्षिण अथवा पश्चिम दीवार पर दिवंगत आत्माओं के चित्र लगाना पितृदोष को दूर करता है।

9. किसी भी कमरे अथवा शयनकक्ष के दक्षिण-पश्चिम कोण में चित्र लगाना निषेध है।

10. उगते हुये सूर्य का चित्र, बहते हुये झरने का चित्र, बाँसुरी बजाते बालक का चित्र पूर्व दिशा में लगाने से व्यक्तित्व विकास तथा चारित्रिक विकास होता है।

11. वास्तु के अनुसार चित्र अथवा पेंटिंग्स का साईज दीवारों के साईज का 1/15 वें हिस्से के बराबर या कम होना चाहिये व चित्र ज्यादा भारी भरकम नहीं होने चाहिये।

वास्तु के अनुसार शयनकक्ष में रंग का निर्धारण -

शयनकक्ष में रंगों का निर्धारण वास्तु के अनुरूप करने से चमत्कारिक प्रभाव देखे जा सकते हैं। इसी कारण अनेक विधि घटकों से वास्तु के अनुरूप दोषों को आंशिक रूप से कम किया जाना संभव है। और इस वस्तुस्थिति को रंग राशि तालिका द्वारा समझाया गया है-

तत्व	राशि	रंग	शत्रु	मित्र	परममित्र
अग्नि	मेष, सिंह, धनु	लाल	जल	पृथ्वी	वायु
पृथ्वी	वृषभ, कन्या, मकर	पीला	वायु	अग्नि	जल
वायु	मिथुन, तुला, कुंभ	नीला	पृथ्वी	जल	अग्नि
जल	कर्क, वृश्चिक, मीन	सफेद	अग्नि	वायु	पृथ्वी

वास्तु के अनुसार चूंकि शयनकक्ष का निर्धारण दिशाओं के अनुरूप करना बेहतर माना जाता है। प्रत्येक दिशा का अपना एक रंग होता है जो जातक के लिये शुभ होता है अतः दिशा

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

एवं उसके ग्रह के अनुरूप भी रंग का चयन किया जा सकता है। जिसे निम्न सारणी से समझा जा सकता है –

क्र.स.	दिशा	ग्रह	रंग
1	पूर्व	सूर्य	सुनहरा
2	उ.प.	चन्द्रमा	सफेद
3	द.	मंगल	लाल, गुलाबी
4	उ.	बुध	हरा
5	उ.पू.	गुरु	पीला, क्रीम
6	द.पू.	शुक्र	सफेद
7	प.	शनि	काला या नीला
8	द.प.	राहु	सभी हरे रंग

हम विभिन्न राशियों के धारकों को यह भी बताना चाहते हैं कि किस राशि वाले व्यक्ति के लिए शयनकक्ष में किस तरह के रंगों की सजावट उपयोगी साबित हो सकती है –

मेष राशि – इस राशि के लोगों के लिये लाल और नारंगी रंग का प्रयोग अच्छा होता है इसमें वे उसी रंग के पलंग, कवर, चादर, कपड़े तथा पर्दे का प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु वे अपने कक्ष का दक्षिण–पश्चिम कोने का विशेष ध्यान रखें।

वृष राशि – इस राशि के व्यक्ति दीवारों के लिए चमकीलें और कलरफुल कोई भी रंग का प्रयोग कर सकते हैं वैसे ही रंग के सोफा कवर या पिलो कवर लगा सकते हैं। शयनकक्ष में इनके लिए दक्षिण–पश्चिम में भारी वजन के फर्नीचर रखना अच्छा होता हैं इससे घर में शान्ति और सुरक्षा बनी रहती है।

मिथुन राशि – इस राशि के लोगों को अपने कमरों में हल्का हरा, नीला और लाल रंग का प्रयोग करना चाहिये। इनके लिए शयनकक्ष के उ. प. दिशा में हल्का सामान रखना अच्छा होता है।

कर्क राशि – इस राशि के जातकों के लिए शयनकक्ष में सफेद, दूधिया और रूपहला रंग अच्छा होता है। जल इनकी राशि का तत्व होने से कमरे के उत्तर–पूर्व में फाउन्टेन या बहते हुये पानी का चित्र अवश्य लगाना चाहिये, ताकि घर में अचानक कोई दुर्घटना से बचा जा सके।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सिंह राशि – इस राशि के व्यक्तियों को चाहिये कि वह अपने शयनकक्ष में सफेद, सुनहरा, पीला, रूपहला रंग दीवारों पर करा सकते हैं तथा इस रंग की वस्तुयें सजावट के लिए प्रयोग में ली जा सकती है।

कन्या राशि – इस राशि के जातकों को चाहिये कि वह अपने शयनकक्ष में हल्का हरा, नीला और भूरा रंग दीवारों पर करायें जो इनके लिए शुभ होता है तथा घर की खुशहाली के लिए शयनकक्ष के द.प. में वजनदार सामान रखना चाहिये।

तुला राशि – कोई भी चमकदार रंग जिसमें रंगों को मिलाकर कन्ट्रास्ट मैच किया जा सके और ऐसे ही रंगों के सोफे तथा पर्दे इस्तेमाल किये जा सकते हैं। इनके द्वारा शयनकक्ष की उ.प. दिशा में कोई भी सामान नहीं रखना चाहिये।

वृश्चिक राशि – इस राशि वालों के लिए शयनकक्ष का रंग लाल, गुलाबी तथा ओरेंज रंग शुभ होता है। इन्हीं रंगों के कपड़े तथा गहनों का उपयोग करना शुभफलदायक होता है।

धनु राशि – इस राशि के जातकों के लिए शयनकक्ष में पीला रंग अथवा ओरेंज रंग शुभ होता है इसी प्रकार के चित्र अथवा पर्दे एवं सोफा कवर भी प्रयोग में लिए जा सकते हैं।

मकर राशि – इस राशि के व्यक्ति गहरे रंगों का प्रयोग कर सकते है और अपने शयनकक्ष में इन रंगों की चादर, पर्दे, सोफा कवर आदि का प्रयोग करने से सकारात्मक परिणाम भी प्राप्त कर सकते हैं।

कुंभ राशि – इस राशि के जातकों को चाहिये कि वह अपने शयनकक्ष का शुभत्व बढ़ाने के लिए हल्का नीला, हरा, तथा भूरा रंग दीवारों पर करा सकते हैं तथा विभिन्न सजावटी वस्तुओं का प्रयोग भी कर सकते हैं। घर के हल्के सामान तथा वस्तुयें हमेशा उत्तर–पश्चिम में रखना चाहिये।

मीन राशि – इस राशि के व्यक्तियों के द्वारा सुनहरा रंग दीवारों पर कराना अत्यन्त शुभ है तथा कमरे के उत्तर–पूर्व कोने में बहते हुये पानी के चित्र को भी लगा सकते हैं।

शयनकक्ष में यथा संभव कम से कम सामान रखना चाहिये। ज्यादा सामान मानसिक तनाव में वृद्धि करता है। अच्छे स्वास्थ्य और अच्छी नींद के लिए सामान की भीड़ कमरे में नहीं लगानी चाहिए। शयनकक्ष खुला–खुला, प्रकाशवान एवं हवादार होना चाहिए। व्यक्ति को शयनकक्ष के वास्तु का विशेष ध्यान रखने से स्वास्थ्य एवं समृद्धि की प्राप्ति होती है। यदि शयनकक्ष व शयन क्रिया का निर्माण वास्तु अनुरूप किया जाये और भाग्य भी अनुकूल हो तो 'सोने पे सुहागा' है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शिशुपालवध महाकाव्य में वास्तुशास्त्रीय चिन्तन

डॉ. पीयूष पाण्डेय

वास्तुशास्त्र की निष्पत्ति वस् और तुण् के संयोजन से होती है। अमरकोश[1] में वास्तु शब्द के लिए 'वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम्' अभिहित किया गया है। आप्टे[2] ने माना है कि घर बनाने की जगह या भूखण्ड को वास्तु कहा जाता है। शास्त्र का अर्थ है जनसामान्य को विधान बतलाने वाला धार्मिक ग्रन्थ। अतः कहा जा सकता है कि वह स्थान जहाँ कोई भवन निर्माण करना है।[1] साथ ही उससे सम्बद्ध भूमि, भूमि का परीक्षण, भवन किस विधि से निर्मित किया जाए? भोजनालय, स्नानगृह, शयनकक्ष इत्यादि किस दिशा में हों? इससे सम्बद्ध विषय का समस्त ज्ञान जो उचित क्रम में मानव को ज्ञात कराये उसे वास्तुशास्त्र कहते हैं। इस शास्त्र की प्राचीनता का ज्ञान इस बात से भी होता है कि इसका वर्णन ऋग्वेद[3] में भी आया है।

महाकवि माघ ने अपने महाकाव्य शिशुपालवध में वास्तुशास्त्र का प्रचुर वर्णन किया है। तृतीय सर्ग में चन्द्रकान्त मणियों के फर्श वाले महलों का वर्णन है।[4] प्रासाद या गृह निर्माण हेतु उत्तम भूमि के बारे में बृहत्संहिता[5] तथा मत्स्य पुराण[6] में भी बताया गया है।

---

1. अमरकोश 2/3/19
2. आप्टे, वामन शिवराम - संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 923
3. ता वां वस्तुन्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
   अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि।। - ऋग्. 1/154/6
4. कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु प्रतिक्षपं हर्म्यतलेषु यत्र।
   उच्चैरधः पातिपयोमुचोऽपि समूहमुहुः पयसां प्रणाल्यः।। - शिशु. 3/44
5. शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा
   स्निग्ध समा न सुषिरा च महीनराणाम्।
   अप्यध्वनि श्रमविनोदमुपागतानां
   धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु।। - बृ.सं. 53/86
   त्रिपञ्चसप्तरात्रेण यत्ररोहयन्ति तान्यपि। ज्येष्ठोत्तमा कनिष्ठा भूर्वर्ज नीयेतरोमता।। - म.पु. 253/15, 16, 17, 18
6. पूर्वादिं गृह्वीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः।
   वास्तुसामूहिकोनाम दीप्यते यस्तु सर्वशः।
   शुभदः सर्ववर्णानाम प्रसादेषु गृहेषु च।
   हलकृष्टेऽथवा देशे सर्वबीजानि वापयेत।।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

महाकवि माघ ने तृतीय सर्ग में वर्णन किया है कि सारथि द्वारा बलपूर्वक लगाम खीचें रहने पर भी रथ सहित अश्व ढालू भूमि से समतल भूमि पर आ गए।[7]

वास्तुशास्त्र में पाँच प्रकार की भूमि का वर्णन प्राप्त होता है। इनमें समतल, गजपृष्ठ, कूर्मपृष्ठ, दैत्यपृष्ठ तथा नागपृष्ठ भूमि आती है। इन पाँच प्रकार की भूमि का अलग-अलग फल बताया गया है। समतल भूमि सभी वर्णों के लिए शुभकारी होती है। दक्षिण पश्चिम व वायव्य कोण में उन्नत हो तो वह गजपृष्ठ भूमि होती है। इस प्रकार की भूमि पर वास करने से लक्ष्मी तथा आयु की वृद्धि होती है।[8] मध्य में सर्वोन्नत तथा चारों तरफ नीची भूमि हो तो उसे कूर्मपृष्ठ भूमि कहते हैं। इस भूमि पर निवास करना श्रेयस्कर नहीं होता।[9]

पूर्व-अग्नि व ईशान अर्थात् ईशान से अग्नि कोण तक विषम रीति से ऊँची हो तथा पश्चिम दिशा में निम्न हो तो वह दैत्यपृष्ठ भूमि कहलाती है। इस तरह की भूमि पर वास करने से लक्ष्मी का आवागमन अवरुद्ध होता है तथा धन धान्य एवं पशुओं की हानि होती है।[10] पूर्व-पश्चिम लम्बा, दक्षिण व उत्तर में उच्च भूमि नागपृष्ठ कही जाती है। इस भूमि पर वास करने से गृहस्वामी की मृत्यु, पत्नी, पुत्र की हानि व शत्रु वृद्धि होती है।[11]

भवन निर्माण सुख शान्ति तथा आत्म सन्तुष्टि के लिए किया जाता है। संभव है द्वारकापुरी महल का भी भूमि परीक्षण हुआ होगा तभी तो उस महल में सुख शान्ति और वैभव का साम्राज्य

---

7. शनैरनीयन्त रथात्पतन्तो रथाः क्षितिं हस्तिनखादखेदैः।
सयत्नसूतायतरश्मिभुग्नग्रीवाग्रसंसक्तयुगैस्तुरङ्गैः।। - शिशु. 3/68
8. दक्षिणे पश्चिमे चैव नैऋत्ये वायुकोणके।
एभिरूच्चे भवेद्भूमि गजपृष्ठो विधीयते।।
राजपृष्ठे भवेद्वासः सलक्ष्मीधनपूरितः।
आयुर्वद्धिकरी नित्यं जायते नात्र संशय।। - वा.सा.सं. 3/12-13
9. मध्येतु उच्चं भवेत यत्र नीचं चैव चतुर्दिशम्।
कूर्मपृष्ठा भवेद्भूमिस्तत्र वासो न कारयेत्।। - वा.सा.सं. 3/6
10. दैत्यपृष्ठे भवेद्वासो लक्ष्मी यायति मन्दिरे।
पश्चिमे च यदा नीचं दैत्यपृष्ठमभिधीयते।।
धनधान्य पशुनानं च हानिरेव न संशयः।
पूर्वाग्निशम्भुकोणेषु उन्नतिश्च यदा भवेत्।। - वा.सा.सं. 3/8-9
11. पूर्वपश्चिम योदीर्घा दक्षिणोत्तर उच्चता।
नागपृष्ठं विजानीयात् कर्तुरुच्चाटनं भवेत्।।
नागपृष्ठेभद्वासो मृत्यरेव न संशय
पत्नीहानि पुत्र हानिः शत्रुवृद्धि पदे पदे।। - वा.सा.सं. 3/10-11

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

था। बृहत्संहिता[12] तथा वास्तुरत्नाकर[13] में भी उत्तम भूमि का वर्णन प्राप्त होता है। वास्तुशास्त्र में भवन निर्माण की दिशाओं के अनुरूप स्थान निर्धारण एवं उनके देवता अधिपति का भी वर्णन है।[14] वास्तुशास्त्र में पाँच सिद्धान्त वर्णित हैं।[15] माघ द्वारा वर्णित पद्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें वास्तुशास्त्र का उत्तम ज्ञान था।

माघ द्वारा भूमि के प्रकारों का भी अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। तृतीय सर्ग में माघ ने राजाओं के निवास योग्य भूमि का वर्णन किया।[16] वास्तुसारसंग्रह[17] में वर्ण के अनुसार निवास योग्य भूमि का वर्णन प्राप्त होता है।

शिशुपालवधम् महाकाव्य में माघ ने तृतीय सर्ग[18] में महलों का वर्णन करते हुए सुवर्ण युक्त महल के स्तम्भों का वर्णन किया है जो शुभदायक थे। आचार्य वराहमिहिर ने स्तम्भों के प्रकार का वर्णन बृहत्संहिता[19] में किया है।

---

12. शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा स्निग्ध समा न सुषिरा च महीनराणाम्।
अप्यध्वनि श्रमविनोदमुपागतानां धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु।। – बृ.सं. 53/86
13. यत्र वृक्षाः प्ररोहन्ति शस्यं हर्षात्प्रवर्धते।
सा भूमिर्जीविता ज्ञेया मृता वाच्याऽन्यथा बुधैः।। – वा.र. 1/63
14. भवने वेश्म निवेशः दिगनुकूलं प्रकल्पनीयो भवति। ऐन्द्रकोणे स्थानगृहं (स्नानगृहं वा) आग्नेयकोणे पचनालयं याम्यशयनगृह, नैऋत्ये शस्त्र मन्दिरं, वारुणेभोजनगृहं, वायव्यकोणे धनमंदिरमुदीच्ये हटकयद्म, ईशाने देवमन्दिरं, पूर्वाग्नेययोर्मध्ये मथनगृहं, आग्नेयाम्ययोंमध्येधृतमन्दिरं यमनै ऋत्ययोर्मध्य रोदन मन्दिरं वायत्योत्तरयोर्मध्ये, कामोपभोगसदनं, उत्तरेशानयोर्मध्ये चिकित्सा मन्दिरं, पूर्वेशानयोर्मध्ये सर्ववस्तु संग्रहगृञ्च कल्पयेत्। अथवोत्तरस्यां भाण्डागारः भवेत्। अपरमता नुसारं उत्तरेजलस्थानं पूर्वस्यां श्रीगृहं कारयेत्। गवाक्षप्रकल्पनं पश्चिमेदक्षिणे च भवेत्। एवं वास्तु सौरख्ये विविधकक्ष्याणां स्थितिः वर्णिता। – वा.सौ., पृ. 11
15. वास्तुशास्त्रस्य मूलतः पञ्च सिद्धान्तः सन्ति। वास्तुशास्त्रविन्यासः दिक्सामुख्यं प्राचीनसाधना वा, मानम् आयादिषड्वर्गाः, पताकादिषट्छन्दासि च ग्रन्थे सर्व महद् विजृम्भिमस्ति।। –शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ – समरांगणीय भवन निवेश, पृ. 30
16. कृतस्पदा भूमिभृतां सहस्रैरुदन्वदम्भः परिवीतमूर्तिः।
अनिर्विदा या विदधे विधात्रा पृथ्वी पृथिव्याः प्रतियातनेव।। – शिशु. 3/34
विशां पीता च वैश्यानां कृष्णा शुभा तु शुद्राणाम्।
शूद्रेतराणामन्येषां कृष्णा चैवापि मिश्रिता।। – वा.सा.सं. 3/4
17. श्वेता शस्ता द्विजेन्द्राणां रक्ता भूमिर्महीभृताम्।
18. सावर्ण्यभाजां प्रतिमागतानां लक्ष्यैः स्मरापाण्डुतयाङ्नानाम्।
यस्यां कपोलैः कलधौतधामस्तम्भेषु भेजे मणिदर्पणश्रीः।। – शिशु. 3/47
19. समचतुरस्रो रुचको वज्रोऽष्टास्रिर्द्धिवज्रको द्विगुणः।
द्वात्रिंशता तु मध्ये प्रलीनको वृत्त इति वृत्तः।।
स्तम्भं विभज्य नवधा वहनं भागो घटोऽस्य भागोऽन्यः।
पद्मं तथोत्तरोष्ठं कुर्याद् भागेन भागेन। – बृ.सं. 53/28-29

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इसके साथ ही माघ ने बाहरी द्वार की देहलियों का वर्णन भी किया है जो मरकतमणि से बनी हैं तथा उसका वर्ण हरित है।[20] महलों की ऊँचाई का भी माघ ने प्रकारान्तर से वर्णन किया है। कवि ने महलों के परकोटे का वर्णन करते हुए कहा है कि उस परकोटे के शंख समूहों से व्याप्त होना मानो सुमेरू पर्वत के चारों ओर नक्षत्र का घूमना हो। यहाँ कवि प्रकारान्तर से परकोटे की ऊँचाई का वर्णन करते हैं।[21] त्रयोदश सर्ग में माघ ने रत्नों से बनी हुई दीवारों का भी वर्णन किया है।[22] साथ ही साथ इन्होंने सोने से बनी दीवारों का भी वर्णन किया।

इसके अतिरिक्त भित्तिचित्र के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत कर माघ ने अपने वास्तुशास्त्रीय ज्ञान को दर्शाया है। तृतीय सर्ग में द्वारकापुरी में भवनों की कपोतपालियों (कबूतर पालने के दरारों) पर चित्रित पक्षी समूह पर आक्रमण करने की इच्छा से झुके हुए निश्चल शरीर वाले विलाव को भी लोगों ने चित्रित ही माना।[23] चित्रांकन की अनुपम विधि को बताते हुए माघ कहते हैं कि द्वारकापुरी के महलों में अत्यन्त चिकना होने से चित्र बनाने में असमर्थ होते हुए युवकों ने स्वयं प्रतिबिम्बित होकर रत्नों की दीवारों को चेतना युक्त (जीवधारी) चित्रवाली बना दिया।[24]

राजाओं के महलों में भित्तिचित्र होते थे तथा उनमें पुराणादि की कथाएँ चित्रित होती थीं जैसा कि नैषधीयचरितम् महाकाव्य में श्रीहर्ष[25] ने वर्णित भी किया है, किन्तु इस तरह का वर्णन शिशुपालवधम् महाकाव्य में प्राप्त नहीं होता है। यहाँ तो कुत्रचित् ही भित्ति चित्र के उदाहरण मिलते हैं। शिशुपालवधम् महाकाव्य में प्राप्त वास्तुशास्त्रीय तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि माघ को इस विषय का ज्ञान था, तभी तो उन्होंने राजनिवास योग्य भूमि तथा दीवारों के प्रकारों का इतना सम्यक् वर्णन किया है। यद्यपि अलिन्द एवं दीवारों के परिमाप का स्पष्ट वर्णन इन्होंने नहीं किया है फिर भी प्रकारान्तर से वर्णित वास्तुशास्त्र के जो तथ्य शिशुपालवधम् महाकाव्य में प्राप्त होते हैं उन पर प्राचीन वास्तुविद् टोडरमल आदि का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

---

20. शुकाङ्कनीलोपलनिर्मितानां लिप्तेषु भासा गृहदेहलीनाम्।
यस्यामलिन्देष न चक्रुरेव मुग्धाङ्गना गोमयगोमुखानि।। – शिशु 3/48
21. यस्याश्चलद्वारिधिवारिवीचिच्छटोच्छलच्छङ्खकुलाकुलेव।
वप्रेण पर्यन्तचरोडुचक्रं सुमेरूवप्रोऽन्वहमन्वकारि।। – शिशु. 3/37
22. नवहाटकेष्टकचितं ददर्श स क्षितिपस्य पस्त्यमथ तत्र संसदि।
गगनस्पृशां मणिरूचां चयेन यत्सदनान्युदस्मयत नाकिना मपि।। – शिशु. 13/63
मार्जारमप्यायतनिश्चलाङ्ग यस्या जनः कृत्रिममेव मेने।। – शिशु. 03/51
23. चिक्रं सया कृत्रिमपत्रिपङ्क्तेः कपोतपालीषु निकेतनानाम्।
24. यस्यामतिश्लक्ष्णतया गृहेषु विधातुमालेख्यमशक्नुवन्तः।
चक्रर्युवानः प्रतिबिम्बिताङ्गाः सजीवचित्रा इव रत्नभित्तीः।। – शिशु. 3/46
25. नैषध. 18/20-21

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मापन विधान

श्री कन्हैया कुमार झा

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृता[1] वेदाङ्गज्योतिष के प्रणेता आचार्य लगध ने वेदों की उत्पत्ति यज्ञ के निमित्त स्वीकार की है। यज्ञ शब्द का अर्थ महर्षि कात्यायन ने **"द्रव्यं देवतात्यागः"**[2] किया है। अर्थात् अग्नि, इन्द्र वरुणादि देवताओं को उद्दिष्ट कर घृतादि द्रव्यों को अग्नि में देना ही यज्ञ कहलाता है। वस्तुतः यज्ञादि क्रिया हेतु उचित काल एवं स्थान की आवश्यकता होती है। वह काल व शुभ स्थान का विचार ज्योतिष और वास्तुशास्त्र ही कर सकता है। उसके पश्चात् उस स्थान पर किस प्रकार कि शाला, मण्डप, यज्ञवेदी आदि का निर्माण किया जाय इन सभी विषयों का विस्तृत विचार शूल्वसूत्रों में किया गया है। शुल्व शब्द का अर्थ रज्जू होता है अर्थात् रस्सी या डोरी **"रज्जू समासं वक्ष्यामः"**[3] सूत्र द्वारा क्षेत्रमापन की विधि का ज्ञान होता है।

वस्तुतः देखा जाय तो यज्ञवेदी आदि का निर्माण कार्य मापन प्रक्रिया से ही सिद्ध होता है। मानव के समग्र जीवन में महत्वपूर्ण स्थान भवन का होता है वह भी बिना मान (मापन) के पूर्ण नहीं हो सकता है। मान योजना से तात्पर्य भवन निर्माण कार्य में आवश्यक नाप से है। भवन निर्माण में नाप (मान) का कार्य स्थपतियों के साधनों से सम्पन्न होता है कोष ग्रन्थों में भी भारतीय वास्तु से सम्बन्धित मापन के सर्वोच्च स्थान का वर्णन मिलता है। यथा–

न मानेन विना युक्तिद्रव्याणां जायते क्वचित्।
अतः प्रयोगकार्य्याणां मानं मात्रोच्यते मया।।[4]

वास्तु में ही नहीं वरन भारतीय वाङ्मय का जो प्राचीनतम ग्रन्थ वेद है उसमें भी मान शब्द का अर्थ मापन ही होता है। **अवोचाम निवचनान्यस्मिन् मानस्य सुनुः सहमाने अगो। वयं सहस्त्रमृषिभिः सनेम विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम।।**[5] भारतीयों की यह पुरातन कल्पना रही है कि न केवल देवकार्य (वेदी रचना, प्रासाद, प्रतिष्ठा, मूर्तिकला निर्माण) में ही मानयोजना का सम्यक्

---

1. वेदाङ्ग ज्योतिष
2. कात्यायन श्रौ.सू. 1.2.2
3. कात्यायन श्रौ.सू. 1.1
4. शब्दकल्पद्रुम – पृ. 698
5. ऋग्वेद सातवेलकर सुबोध भाष्य, 1–189–8

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रतिपालन होना चाहिए वरन गृहनिर्माण, पुर निवेश तथा मार्गनिवेशादि में भी मान का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। अन्यथा वास्तु एवं दिशाओं का समन्वय वास्तुपद के विभिन्न स्थानों आदि का ध्यान तथा वास्तुकला का परिपाक (सामञ्जस्य) पूर्ण रूप से प्रकल्पित नहीं हो सकता। वास्तु में पद विन्यास से अभिप्राय मान योजना है जिस प्रकार आजकल हम किसी भी भवन निर्माण कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व प्रथम रेखाचित्र से निवेश योजना की स्थिति तथा उसकी विभिन्न दिशाओं के आकार प्रकार के साथ ही वातावरण के सभी बिन्दुओं का भी पूर्ण ध्यान रखना चाहते हैं उसी प्रकार प्राचीन स्थपति भी पद विन्यास से सारे मापन का कार्य सम्पादन करते हैं। यहाँ भेद केवल इतना है कि प्राचीन काल में मनुष्य के लिए यह कार्य अनिवार्य रूप में धार्मिक कर्त्तव्य के समान था और वर्त्तमान समय में मानव अपने सुविधानुकूल कार्य करते हैं। परिणामतः प्राचीन समय की अपेक्षा वर्त्तमान में अनेक सुख सुविधा के पश्चात् भी मानव कष्ट का ही अनुभव करते हैं। इसका यही कारण है कि सिद्धान्त विरुद्ध कार्य किसी भी क्षेत्र में स्वीकार्य नहीं है। समराङ्गणसूत्रधार में इसी बात की प्रतिपुष्टि करते हुए उद्धृत किया गया है[5] कि भारतीय वास्तुकला अत्यन्त प्रौढ़, विकसित एवं समुन्नत वैज्ञानिक रूप में अवस्थित है। महर्षि कात्यायन ने शूल्वसूत्र में मान शब्द को अनेक बार उद्धृत किया है। यथा **'शालामानम्, न क्षीयते मानम्'** आदि शब्दों से स्पष्ट होता है कि मान (नाप) का प्रयोग प्राचीन काल से ही प्रचलित हैं। उत्तरोत्तर समयानुक्रम से मान का प्रयोग होता आ रहा है।

मनुकाल- मनुकाल में भी मान (नाप-तौल) की पद्धतियाँ रही हैं, मनुस्मृति में राजा के लिए भी तुलादि मानों को सुनिश्चित कर राजकीय मुहर द्वारा मानों को सत्यापित किया जाता था।[6]

सिन्धुघाटी में मान (नाप) का स्थान-सिन्धुघाटी सभ्यता की पुरातात्विक खुदाई व नाप-तौल के विभिन्न अवशेषों से ज्ञात होता है कि ईसा पू. 3000-1500 में सिन्धुघाटी सभ्यता के निवासियों ने मानकीकरण की एक परिष्कृत प्रणाली विकसित कर ली थी। सिन्धुघाटी कि मान योजना (नाप-तौल) प्रणाली कितनी परिष्कृत थी यह इसी से पता चलता है कि उस काल में भवन निर्माण के लिए प्रयोग की जाने वाली ईंटों की लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊंचाई के माप सुनिश्चित थे जो कि 4:2:1 के अनुपात में होते थे।

मौर्य युग में नाप तौल का महत्त्व-आज से लगभग 2400 वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में भी माप (नाप) के लिए अच्छी प्रकार के परिभाषित पद्धति का प्रयोग किया जाता था। क्योंकि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मान की सबसे सूक्ष्म इकाई परमाणु के आधार पर मानों का

---

5. समराङ्गणसूत्रधार- 40/13
6. मनुस्मृति-8.403

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

विवरण मिलता है।[7]

मध्यकाल में मान–मौर्यकाल के बाद मध्यकाल के मानों (मापों) पर विचार करें तो मुगल बादशाह अकबर के समय में एक प्रणाली विकसित की गई थी जिसका प्रयोग सम्पूर्ण देश में किया जाता था। अबुल फजल रचित आईने अकबरी के अनुसार उस समय में भूमि मापने की इकाई 'ईलाही गज' हुआ करती थी और तौल की इकाई सेर हुआ करती थी। इससे स्पष्ट होता है कि मध्यकाल से ही 'गज' और 'सेर' का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था।

ब्रिटिश काल में मान योजना– ब्रिटिश काल में अंग्रेजों ने भी देशभर में नापतौल की एक प्रणाली विकसित की । तौल की इकाइयाँ मन, सेर, छटाँक, तौला, माशा और रत्ती थी। भूमि मापने के लिए मील, एकड़, गज, फुट, इंच का प्रयोग किया जाता था। जबकि वैदिककालीन भारतीय परम्परा पर दृष्टि डालें तो माप में हस्त का भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिलता है । 24 अङ्गुल का एक हस्त होता है। जबकि महर्षि कात्यायन ने अङ्गुल को ही परिमाण मानकर शङ्कु की स्थापना की है।

षड्ङ्गुलपरीणाहं द्वादशाङ्गुलमुच्छ्रितम्।
जरठं चाव्रणं चैव शङ्कु कुर्याद्विचक्षणः।।[8]

हाथ समस्त प्रकार की मापन व्यवस्था जैसे परिधि उदय विस्तार लम्बाई चौड़ाई में साधन के रूप में प्रयोग होता है। ब्रिटिशकालीन फुट के माप को मध्यम मान में निश्चित किया गया है। इसी प्रकार हस्त एवं अंगुल के प्रमाण को भी निश्चित किया गया परन्तु व्यवहार में प्रयुक्त हुआ नहीं दिखाई देता है।

हस्त-प्रमाण में काष्ठ एवं धातुओं का स्थान– वर्त्तमान में माप के लिए गज वाले उपकरण गज, फुट, मीटर आदि है जबकि प्राचीन समय में भूमि आदि का मापन हस्त एवं दण्ड से किया जाता था। प्राचीन काल में गज मीटर आदि से भी सूक्ष्म मापों का प्रयोग किया जाता था। हस्त दण्ड से मापने के लिए शास्त्रानुसार कुछ विहित वृक्षों की ही लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। यथा– खदिर (खैर) अञ्जनवंश (बाँस) सर्जपाद (सहजना) दारु (देवदारु) आदि वृक्षों की लकड़ी को मापने के उपयोग में लिया जाता था।[9] वास्तुमण्डन में भी समराङ्गण सूत्रधार के अनुसार ही मापन का विधान दिया गया है।[10]

---

7. अर्थशास्त्र 2/6-20
8. का0 शु0 सू0, श्लोक सं 7
9. समराङ्गण 9/11
10. वास्तुमण्डन 1.175

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मापने में जिन लकड़ियों को प्रयोग करने के लिए कहा है उन लकड़ियों के स्वरूपों से यह जान पड़ता है कि मापन में केवल सुडौल एवं सीधी वस्तुओं का प्रयोग करना चाहिए। इसलिये वर्तमान सन्दर्भ में लौहादि धातुओं से निर्मित मापन इकाइयों को उपयोग में लिया जाता है। लेकिन राजवल्लभ वास्तुशास्त्र में मापने वाले दण्ड पर पुष्प चिह्न बनाने का विधान किया गया है[11]। पुष्प चिह्न बनाने का अभिप्राय यह है कि मापने वाले का मन एवं बुद्धि पुष्प की तरह पल्लवित रहें। अपराजित पृच्छा में मापन सामग्री को तीन श्रेणियों में रखा गया है।[12] इसके अनुसार स्वर्ण दण्ड से माप लेना उत्तम, चाँदी के दण्ड से माप लेना मध्यम, ताम्र, लोह एवं लकड़ी के दण्ड से माप लेना अधम है।

मापक दण्ड कैसा होना चाहिए इस सन्दर्भ में कहा गया है कि वह चिकना तथा सुन्दर मनोरम तथा मजबूत होना चाहिए। जिस लकड़ी में गाँठ हो, छोटी हो, जली हुई हो, जीर्ण शीर्ण हो, फटी, कमजोर, पशु पक्षिओं के कोटरों वाली लकड़ी हो तो इन सब लकड़ियों का मापन में उपयोग नहीं करना चाहिए।

हस्त संज्ञा–भारतीय परिप्रेक्ष्य में हस्त ही मापन के लिये प्रयोग में लिया जाता रहा है।[13] 24 अङ्गुल का एक हस्त होता है जिस व्यक्ति के लिये जिस वस्तु का निर्माण होता था उस वस्तु को उसी व्यक्ति के हाथ की माप से तैयार किया जाता था। अङ्गुल 8 यवों के परिमाण से प्रकल्पित किया गया है। जिस हस्त की अङ्गुलियों के परिमाण 7 यव हो वह हस्त मध्यम (साधारण) नाम से जाना जाता है और तीसरी कोटि के हस्त परिमाण 6 यवों के मान से प्रकल्पित हस्त को कनिष्ठ संज्ञा से अभिहित किया गया हैं।[14] भारतीय स्थपतियों ने यव, अंगुल, हस्त एवं दण्ड से ही मापन प्रक्रिया को सम्पन्न किया।

हस्त योजना –किस हाथ के मान से किस-किस वस्तु की माप करनी चाहिए इस सन्दर्भ में आचार्यों का कहना है कि प्रायशः ज्येष्ठ हस्त का, पुर, खेट, ग्राम के निवेश में, विभाग, आयाम, विस्तार, परिखा (चाहरदीवार), द्वार, छोटी बड़ी सड़कें, सीमा, क्षेत्र, वन, उपवन, देशान्तर, विभाजन मार्ग मापन, क्रोश, गव्यूति (योजन) सभा भवन निवेश में प्रयोग किया जाता है।[15] इसी तथ्य को आचार्य भुवनदेव ने भी अपने ग्रन्थ अपराजित पृच्छा[16] में परिपुष्ट किया है। इसी प्रसङ्ग को धराधिप

---

11. राजवल्लभ 1.33
12. अपराजित पृ0 4/18
13. वास्तुमण्डन 1/174
14. समराङ्गण सू0 9.29-30
15. वास्तुमण्डन-1/184
16. अध्याय 41- श्लोक 20

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भोज ने समराङ्गण सूत्र[17] में उद्धृत किया है। मध्यम योजना में साधारण हस्त नाप का प्रयोग करने का उल्लेख मिलता है । तलों की ऊँचाई, मूलपाद (नीव आदि), भूमि के नीचे के जलमापन, धारा यन्त्र, पातयन्त्र (आधुनिक नल) तथा यन्त्रादि गुहामंदिर (शैलखात) सुरंग मार्ग आदि में मध्य हस्त का प्रयोग किया गया है।[18] साधारण हस्त माप के प्रसङ्ग में अपराजित पृच्छा[19] और वास्तुमण्डन में[20] प्रायः समानता है।

कनिष्ठ हस्त से आयुध, धनुष का दण्ड, यान, शय्या, आसन, कूप, वापी, हाथी, घोड़े, मनुष्य, इक्षुयन्त्र, शिल्पियों के औजार, नौकायें, छातें (छत्री), ध्वजायें, बाजें, रसोई के बर्त्तन एवं ढोलादि का निर्माण करना चाहिए।[21] कनिष्ठ हस्त मान के विषय में अपराजित पृच्छा[22] और राजवल्लभ वास्तुशास्त्र[23] में प्रायः समानता है।

हस्त देवता

हाथ के द्वारा मापन क्रिया सम्पन्न होती है इसलिए हाथ को देव की संज्ञा दी गयी होगी। भूमि मापने के जो काष्ठ एवं धातुओं से बना दण्ड ही मापक है और उस पर देवों का स्थान होता है, यह भारतीय चिन्तन है। समराङ्गण के अनुसार हस्त में देवताओं का स्थान होता है। समराङ्गणसूत्रधारकार ने हाथ में रुद्र, वायु, विश्वकर्मा, वह्नि, ब्रह्मा, काल, वरुण, कुबेर एवं विष्णु का वास कहा है।

राजवल्लभ वास्तुशास्त्र में हस्त के 23 स्थानों पर देवताओं का वास स्थान बताया गया है। हाथ में शिव, वायु, विश्वेदेवता, अग्नि, ब्रह्मा, सूर्य, रुद्र, यम, विश्वकर्मा, वसु, गणेश, वरुण, कार्तिकेय, इच्छा, क्रिया, ज्ञान, कुबेर, चन्द्रमा, जय, श्रीवसु, बलभद्र, काम, एवं विष्णु का स्थान बताया है।

देव पीडन

देव पीडन शब्द को सुनते ही आश्चर्य होता है कि क्या देवता भी पीड़ित होते हैं इस देव पीडन से अभिप्राय जो हस्त पर देव स्थान बताया गया है। उसको मापन के समय में स्थपति (इंजीनियर) के द्वारा दबना नहीं चाहिए दबने से अभिप्राय मापन के समय उस देव स्थान को छूना नहीं चाहिए अन्यथा अशुभ माना जाता है। हस्त के ऊपर जो 9 देवों का स्थान बताया है उस स्थान को छोड़कर मापक दण्ड उठाना चाहिए! इसके विपरीत विरुद्धाचरण से स्थपति एवं गृहस्वामी दोनों

17. समरङ्गण सूत्र, 9-31-33
18. समराङ्गण सू0 9/35
19. अपराजित पृच्छा (19 अध्याय 41. श्लोक 21)
20. वास्तुमण्डन, 20.1 185)
21. समराङ्गण सू0 9/36-39
22. समराङ्गण सू0 9.13-14
23. समराङ्गण सू0 9.19-25

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

के लिए अशुभ है। हस्त का कौन सा स्थान शुभ है तथा कौन सा स्थान अशुभ इसका समराङ्गण सूत्रधार में विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

पुरातन वास्तुपरम्परा में जिन जिन मानों (मापों) का प्रयोग होता था उनका मान अंगुलादि में निम्न तालिकाओं में स्पष्ट किया गया है। यथा-

1 अङ्गुल	=	1 मात्रा
2 अङ्गुल	=	1 कला
3 अङ्गुल	=	1 पर्व
4 अङ्गुल	=	1 मुष्टि
5 अङ्गुल	=	1 तल
6 अङ्गुल	=	1/4 हस्त
7 अङ्गुल	=	1 दिष्टि
8 अङ्गुल	=	1 तूणि
9 अङ्गुल	=	1 प्रादेश
10 अङ्गुल	=	1 शयताल
11 अङ्गुल	=	1 गोकर्ण
12 अङ्गुल	=	1 वितस्ति
14 अङ्गुल	=	1 पाद
21 अङ्गुल	=	1 रत्नि
24 अङ्गुल	=	1 अरत्नि
42 अङ्गुल	=	1 कष्कु
84 अङ्गुल	=	1 पुरुष
96 अङ्गुल	=	1 चाप या नाडीयुग
106 अङ्गुल	=	1 दण्ड
30 धनुष	=	1 नल्व
1000 धनुष	=	1 क्रोश
2000 धनुष	=	1 गव्यूति
4 गव्यूति	=	1 योजन

इस प्रकार विवेचन से पता चलता है कि वास्तु शास्त्र के आचार्य अत्यधिक ही सूक्ष्म मापों का प्रयोग करते थे। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भी से मानना हमारे लिए अत्यधिक ही उपयोगी एवं प्रयोगात्मक है। वर्तमान समय में बहुत सारे ग्रन्थों का निर्माण हुआ है जिसमें इन सूक्ष्म विवेचनों का अनुसरण किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शिक्षण में वास्तुशास्त्र का वैशिष्ट्य

श्री वीरेन्द्र सिंह चौधरी

शिक्षा का सामान्य परिचय :-

शिक्षा :- जब से इस पृथ्वी पर मानव जीवन का आरंभ हुआ है तभी से सीखने और सिखाने की प्रक्रिया किसी न किसी रूप में चली आ रही हैं। वास्तव में ज्ञान का मानव जीवन में बहुत महत्त्व है। ज्ञान ही वह साधन है जिसने आदि मानव को विकास की इस वर्तमान स्थिति तक पहुँचा दिया है। यही कारण है कि प्रत्येक माता-पिता अपने बच्चे को अच्छी से अच्छी शिक्षा दिलावाना चाहते है। ऐसा व्यक्ति जिसने शिक्षा प्राप्त नहीं की, पशु-तुल्य समझा जाता है। कहा भी गया है - **'विद्या विहीनः पशुः'**। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु ने तो यहां तक कह दिया है कि शिक्षित व्यक्ति ही वास्तव में जीवित है, अशिक्षित तो जीवित भी मृत के समान है। "Educated men are much superior to the uneducated as are living to the dead."

ज्ञान को मनुष्य का तीसरा नेत्र कहा गया है वास्तव में शिक्षा ही वह साधन है जो मनुष्य को पशु के स्तर से ऊपर उठाकर उसे सच्चे अर्थो में मानव बनाती है परन्तु शायद ही कभी हमने सोचा हो कि वह शिक्षा है क्या? जिसे हम इतना महत्वपूर्ण एवं आवश्यक समझते हैं। वास्तव में शिक्षा एक व्यापक एवं गतिशील प्रक्रिया है। इसका अर्थ विभिन्न युगों में भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से लगाते आए हैं।

शिक्षा का शाब्दिक या व्युत्पत्तिपरक अर्थः-

1. शिक्षा शब्द संस्कृत की 'शिक्ष्' धातु से बना है जिसका अर्थ है सीखना, सिखाना। इस प्रकार शिक्षा का अर्थ हुआ सीखने और सिखाने की प्रक्रिया (Teaching and Learning Process)

2. शिक्षा के लिए अंग्रेजी भाषा में Education शब्द का प्रयोग किया जाता है। Education शब्द लेटिन भाषा के शब्द Educatum से बना है यह Educatum शब्द पुनः दो

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शब्दों से मिलकर बना है E+ Duco1 E का अर्थ है अन्दर से (out of) और Duco का अर्थ है बाहर निकालना (to lead)। इस प्रकार Educatum शब्द का अर्थ हुआ अन्दर से बाहर निकालना (to lead out or to bring out).

Education

↓

Educatum

E Duco

out of to lead

3. शिक्षा के लिए संस्कृत भाषा में विद्या शब्द का प्रयोग होता है यह विद्या शब्द विद् धातु से बना है जो ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार विद्या शब्द का अर्थ है जानना (to know) परन्तु प्रश्न यह उठता है व्यक्ति क्या जाने?

मुख्य रूप से जानने में दो बातें सम्मिलित हैं-

(i) बाहर से आरोपित ज्ञान जानना। दूसरे शब्दों में अध्यापक जो बच्चों को बता रहा है उसे जानना।

(ii) ज्ञान व्यक्ति के भीतर स्थित है प्राचीन भारतीय दार्शनिकों का मानना था कि आत्म ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। इसी कारण उस शिक्षा को ही सार्थक माना जा सकता था जो व्यक्ति को आत्मज्ञान प्रदान कर उसे मोक्ष की और ले जाएँ- **'सा विद्या या विमुक्तये।'**

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्युत्पतिपरक दृष्टि से शिक्षा

- एक सीखने सिखाने की प्रक्रिया है।
- यह व्यक्ति के अन्दर छिपें गुणों को बाहर प्रकट करने वाली प्रक्रिया है।
- यह व्यक्ति को एक पूर्ण - विचारित साँचे में ढालने की प्रक्रिया है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

– यह अध्यापक द्वारा आरोपित ज्ञान तथा भीतर स्थित ज्ञान को जानने की प्रक्रिया है।

शिक्षा का संकुचित अर्थः-

यदि किसी सामान्य व्यक्ति से शिक्षा शब्द का अर्थ पूछा जाए तो वह यही कहेगा कि वह ज्ञान जो बच्चा स्कूल, महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में प्राप्त करता है शिक्षा है। दूसरे शब्दों में विद्यालयीकरण (Schooling) ही शिक्षा है इस प्रकार संकुचित दृष्टि से बच्चा जो भी एक निश्चित ज्ञान, एक स्थान, जो पहले से ही निश्चित किया गया है, पर (विद्यालयों, महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों) निश्चित व्यक्तियों द्वारा (अध्यापकों) निश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार निश्चित अवधि में प्राप्त करता है वह शिक्षा है।

इस प्रकार की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बच्चे को विभिन्न विषयों का सैद्धान्तिक ज्ञान प्रदान करके उनका मानसिक विकास करना होता है इसी कारण कुछ विचारक संकुचित अर्थ में शिक्षा को 3R की शिक्षा भी कहते है।

ये तीन R हैं– i- Reading ii- Writing iii. Arithmetic

इस प्रकार संकुचित अर्थ में शिक्षा का अर्थ है विद्यालय में दी जाने वाली पुस्तकीय शिक्षा।

शिक्षा का व्यापक अर्थः-

शिक्षा के व्यापक अर्थ में औपचारिक, अनौपचारिक तथा निरौपचारिक पक्ष आ जाते है शिक्षा को आजीवन चलने वाली प्रक्रिया माना जाता है जो गर्भ से लेकर मृत्यु तक चलती है।

व्यापक अर्थ में शिक्षा का उद्देश्य केवल मानसिक विकास करना ही नहीं है। इस अर्थ में शिक्षा व्यक्ति के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों का विकास करने वाली प्रक्रिया है। इसी कारण कुछ विचारक इसमें 4 एच सम्मिलित करते हैं।

ये चार एच है– i-Head ii- Heart iii. Hand iv. Health.

इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यापक अर्थ में शिक्षा :-

1. व्यक्ति के सर्वांगीण विकास से संबंधित है।
2. यह गर्भ से लेकर मृत्युपर्यन्त निरन्तर चलती है।
3. इसे व्यक्ति कहीं भी किसी से भी किसी भी रूप में प्राप्त कर सकता है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शिक्षा की कुछ परिभाषाएं:-

* उपनिषद् - "शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण है।"

(Education is that whase and product is salvation)

* गांधी के अनुसार - "शिक्षा से मेरा अभिप्राय है बच्चे तथा मनुष्य के शरीर, मन तथा आत्मा से सर्वोत्तम तत्त्वों को प्राप्त करना।"

(By Education I mean and all round drawing out of the best in child and man-body, mind and spirit.)

* जॉन डीवी - "शिक्षा व्यक्ति की उन सभी क्षमताओं का विकास है जो उसे अपने वातावरण को नियंत्रित करने व अपनी सम्भावनाओं को पूरा करने की योग्यता प्रदान करती है।"

(Education is the development of all those capacities in the individual which enable him to control his environment and fulfit his possibilities)

शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Edcuation) शिक्षा के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं:-

शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान का अर्जन करना है। साथ ही बालक का शारीरिक विकास, चरित्र निर्माण एवं उसका सांस्कृतिक विकास करना है। जीविका उपार्जन के योग्य बनाना है। शिक्षा का उद्देश्य बालक को एक अच्छा नागरिक बनाना है। साथ ही अवकाश-उपयोग करने के योग्य बनाना है। बालक का व्यक्तिगत विकास, सामाजिक विकास, सर्वांगीण विकास करना है।

वास्तुशास्त्र :- सामान्य परिचय:-

वास्तुशास्त्र ज्योतिष की एक समृद्ध एवं विकसित शाखा है। इन दोनों में अङ्ग-अङ्गिभाव संबंध है जैसे शरीर का अपने विविध अंगो के साथ सहज एवं अटूट संबंध होता है, ठीक उसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र का अपनी सभी शाखाओं -सामुद्रिकशास्त्र, प्रश्नशास्त्र, अंकशास्त्र, मुहूर्तशास्त्र, स्वरशास्त्र एवं वास्तुशास्त्र आदि से अटूट सम्बन्ध है। ज्योतिषशास्त्र व वास्तुशास्त्र दोनों का एक समान लक्ष्य मानव जाति को सुविधा और सुरक्षा देना है।

इस शास्त्र का वर्णन चारों वेदों में, लगभग 11 पुराणों में, वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत में मिलता है इसके अलावा इस विषय में संस्कृत में शताधिक ग्रन्थों की रचना हुई है।

मनुष्यों के निवास एवं कार्य करने योग्य भूमि एवं भवन को वास्तु कहते हैं, और जिस शास्त्र में भूमि एवं भवन में निवास तथा कार्य करने वाले लोगों को अधिकतम सुविधा प्राप्ति के

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सिद्धान्तों, नियमों, विधियों एवं प्रविधियों को प्रतिपादन किया जाता हैं, उस शास्त्र को वास्तुशास्त्र कहते हैं। यह शास्त्र पंचमहाभूतों के तालमेल एवं प्राकृतिक शक्तियों गुरुत्वशक्ति, चुम्बकीय शक्ति एवं सौर ऊर्जा के प्रबन्धन द्वारा मानवजीवन एवं उसके क्रियाकलापों में उसको सुविधा एवं सुरक्षा देने के लिए प्रयत्नशील दिखलाई देता है।

इस शास्त्र की सबसे बडी विशेषता यह है कि यह शास्त्र पंचमहाभूतों से निर्मित मानव के जीवन में इन्हीं महाभूतों से निर्मित वातावरण के साथ उसका सामंजस्य स्थापित करने को सर्वोच्च प्राथमिकता देता है। वस्तुतः पृथ्वी एवं इसके ऊपर रहने वाले प्राणियों में एक विशेष प्रकार की समानता यह है कि इन सब की रचना पंचमहाभूतों के मिश्रण से हुई है। वास्तुशास्त्र इस तथ्य को ध्यान में रखकर यह प्रतिपादित करता है कि मनुष्य को अपने आवास एवं अन्य कार्यों के लिए निर्मित भवनों में इन पंचमहाभूतों का कैसे उपयोग करना चाहिए? ताकि मनुष्य को अपने जीवन के क्रियाकलापों में ऊर्जा, स्फूर्ति एवं सन्तुष्टि मिल सके।

वस्तुतः भारतीय वास्तुशास्त्र की मूल संकल्पना है – i- पंचमहाभूतों के साथ मानवजीवन की गतिविधियों का सामंजस्य और ii- प्राकृतिक शक्तियों का प्रबन्धन। वास्तुशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हैं, आवास के लिए, व्यवसाय के लिए, धार्मिक या सामाजिक कार्य के लिए किसी भी प्रकार के भवन का निर्माण हो वह चाहे ऋषियों के आश्रम, मुनियों के स्थानक, भिक्षुओं के विहार, या श्रद्धालुओं के मन्दिर हो, चाहे वह राजाओं के महल, सेठ साहूकारों के बंगले या आम लोगों के मकान अथवा फ्लैट हो, चाहे वह दुकान, शोरूम, व्यवसाय केन्द्र या औद्योगिक क्षेत्र हो, चाहे वह होटल, रेस्त्रां या रसोई हो अथवा सरकारी या गैर सरकारी दफ्तर, जनकल्याण के स्थान या शिक्षासंस्थान हों। इन सबके निर्माण के नियमों का प्रतिपादन इस शास्त्र का महनीय लक्ष्य है। यहाँ हम बात करेंगे शिक्षा एवं शिक्षण में वास्तु की महत्ता या शिक्षा का भवन कैसा बना हो, भूमि कैसी हो, कक्षा शिक्षण में किस प्रकार शिक्षण हो आदि।

शिक्षण में वास्तुशास्त्र की महत्ता

शिक्षण में वास्तु की महता का अध्ययन हम दो बिन्दुओं से कर सकते है, जो निम्नलिखित हैं:-

1. विद्यालय का वास्तुशास्त्रः-

सर्वप्रथम विद्यालय स्थापित करने से पहले भूमि या मिट्टी की गुणवत्ता का विचार करना चाहिए। जहाँ दोष रहित, चिकनी एवं ठोस मिट्टी हो वहाँ उचित आकार के भूखण्ड पर विद्यालय बनाना चाहिए। वास्तुशास्त्र में भवन निर्माण के लिए भूमि को चार श्रेणियों में बांटा गया है,

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

i. ब्राह्मणी ii. क्षत्रिया iii. वैश्या iv. शूद्रा ।

इनमें विद्यालय भवन निर्माण के लिए ब्राह्मणी भूमि श्रेष्ठ मानी गयी है। विद्यालय भवन स्थापित करने से पहले भूमि परीक्षण कर लेना चाहिए। प्राचीन वास्तु ग्रन्थों में मिट्टी के घनत्व का परीक्षण करने की अनेक विधियाँ बतलायी गयी हैं जिनमें से महत्वपूर्ण एवं सरल विधि इस प्रकार हैं:-

विश्वकर्मा प्रकाश में बतलाया गया है कि भू-स्वामी के हाथ की नाप से भूखण्ड के बीच में एक हाथ लम्बा, एक हाथ चौडा और एक हाथ गहरा गड्ढा खोदकर उसको मिट्टी से भर देना चाहिए। यदि गड्ढे को अच्छी तरह भरने के बाद भी मिट्टी बच जाय तो वह भूमि विद्यालय बनाने के लिए उत्तम होती है। यदि उस मिट्टी से गड्ढा भर जाय और मिट्टी न बचे तो भूमि मध्यम होती है। और यदि गड्ढा भरने में मिट्टी कम पड जाय तो उस भूमि पर निर्माण नहीं करना चाहिए।[1]

खातं भूमिपरीक्षणे करमितं तत्पूरयेत्तन्मृदा। हीने हीनफलं समे समफलं लाभो रजोवर्द्धने॥

भूमि परीक्षण के बाद भूमि का ढलान देखना चाहिए। यदि भूमि का ढलान पूर्व एवं उत्तर की और हो तो शुभ होता है, विद्यालय भवन की भूमि का ढलान पूर्व की और होना चाहिए वह विकास एवं वृद्धिदायक होता है।

विद्यालय भवन निर्माण के लिए आयताकार भूखण्ड अत्यन्त शुभ होता है। विद्यालय का मुख्यद्वार पूर्व दिशा की ओर होना चाहिए। तथा जल स्त्रोत ईशान कोण में होना चाहिए। खेल का मैदान वायव्य कोण में हो तो शुभ रहता है। इसके साथ ही अतिथि कक्ष भी वायव्य कोण में ही होना चाहिए। प्रार्थना स्थल ईशान कोण में हो तथा प्रार्थना सभा के दौरान छात्रों का मुख उत्तर या पूर्व की तरफ होना चाहिए। तथा विद्यालय पूर्ण रूप से वास्तुशास्त्रानुसार स्थापित होना चाहिए।

2. छात्र के अध्ययन कक्ष का वास्तुशास्त्र :-

घर के अन्दर छात्रों के अध्ययन - कक्ष व विद्यालय में कक्षा-कक्ष की व्यवस्था वास्तु निम्नलिखितानुसार होना चाहिए:-

1. घर में छात्र का अध्ययन कक्ष पूर्व और उत्तर पूर्व में स्थित होना चाहिए। यह दिशा छात्रों के लिए बहुत शुभकारी तथा छात्रों के शैक्षिक कौशल और उनके अध्ययन में अधिक ध्यान में सहायक है।
2. **अध्ययन कक्ष का स्थान :-** अध्ययन मेज का व्यवस्थापन बहुत महत्वपूर्ण है, अध्ययन मेज का मुख पूर्व या उत्तर की तरफ सुनिश्चित करे ताकि जब छात्र अध्ययन करे तो छात्र

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इस दिशा का सामना करें। अध्ययन मेज दीवार के सामने नही होनी चाहिए तथा छात्र के सामने खुला स्थान होना चाहिए जो नवीन और ताजा विचारों को बढाता है तथा नीरसता को तोड़ता है।

3. छात्र को अपना सिर पूर्व की ओर करके सोना चाहिए।

4. माता सरस्वती की प्रतिमा या फोटो छात्रों के लिए बहुत लाभकारी होती है। इसलिए अध्ययन कक्ष में सरस्वती जी की प्रतिमा लगी होनी चाहिए। और छात्रों को उनका आशीर्वाद रोज लेना चाहिए।

5. किसी खम्भें के नीचे नहीं पढना चाहिए।

6. छात्रों का अध्ययन कक्ष उत्साहवर्द्धक और प्रसन्नतापूर्ण होना चाहिए। कक्ष में काले ओर गहरे रंगों का प्रयोग नही करना चाहिए तथा पीले, नारंगी, हरा रंग का प्रयोग करना चाहिए।

7. अध्ययन कक्ष में चित्र और पेंन्टिग का ध्यानपूर्वक इस्तेमाल करना चाहिए। जैसेः- दौडता हुआ घोड़ा, उगता सूरज तथा दौडती हुई कार को छात्र के कक्ष में लगाना चाहिए इनसे छात्र को ऊर्जा मिलती है ताकि वो अध्ययन में बेहतर प्रदर्शन कर सके। उदासीन चेहरे के चित्र, युद्ध के चित्र नहीं लगाने चाहिए।

8. किताबें बुक शेल्फ में रखनी चाहिए न कि मेज पर इससे छात्रों पर अत्यधिक दबाव पडता है और उनमें तनाव बढता है।

9. पेन, पेन्सिल प्रयोग के लिए तैयार होनी चाहिए, जो पेन चलते न हो, बिना छिली हुई पेन्सिल, फटी किताबे नकारात्मक ऊर्जा उत्पन्न करती है उन्हें वहाँ से हटा देना चाहिए।

10. सरस्वती यंत्र का प्रयोग करना चाहिए तथा बिस्तर के पास रखना चाहिए। जिससे उन्नत ध्यान बन सके या एकाग्रता बन सके।

11. छात्रों की अध्ययन मेज साफ और धूल मुक्त होनी चाहिए।

12. छात्रों को 30-45 मिनट का अन्तराल दिन में दो तीन बार लेना चाहिए। उस समय का प्रयोग शारीरिक क्रियायों में किया जाना चाहिए।

13. माता-पिता को अपने बच्चों को समय प्यार और सहारा देना चाहिए।

14. बच्चों को प्रातः योग करना चाहिए जिससे उनका ध्यान केन्द्रित हो तथा शरीर स्वस्थ रहें।

15. खेल और पढाई में जीते गये सर्टिफिकेट और ट्रॉफी दक्षिण दीवार पर होनी चाहिए।

16. बच्चों के कमरे में या कक्षा-कक्ष में तेज रोशनी होनी चाहिए। प्राकृतिक रोशनी और हवा अध्ययन कक्ष में होनी चाहिए। पढ़ते समय बच्चे की छाया अध्ययन मेज पर नहीं पढ़नी चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

17. खम्भे, तीखे धार वाले फर्नीचर को सीधा किया जाना चाहिए क्योंकि इससे एकाग्रता में बाधा उत्पन्न होती है।
18. कभी भी टॉयलेट की तरफ मुहँ करके या उसकी तरफ पीठ करके नही पढना चाहिए।
19. अध्ययन कक्ष का दरवाजा घड़ी की सूई की दिशा के अनुसार खुलना चाहिए।
20. अध्ययन कक्ष या कक्षा कक्ष में मेज चौकोर या आयताकार होना चाहिए।
21. अध्ययन मेज के नीचे जूते - चप्पल कभी भी नहीं रखने चाहिए।

सारांशतः हम कह सकते है कि यदि वास्तुशास्त्र के अनुसार शिक्षण भवन हो तथा कक्षाकक्ष हो और उसके नियमों को ध्यान में रख कर शिक्षणकार्य किया जाये तो छात्रों से चमत्कारिक परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि प्राचीन काल में ऋषि मुनि गुरुकुलों में वास्तु के अनुसार अध्ययन अध्यापन करते थे तो जिस कारण श्री राम, अर्जुन, एकलव्य, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, रामदेव आदि विशिष्ट क्षमतावान विद्यार्थी गुरुकुलों से ही निकले है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :-

1. सिंह, डॉ.एम.के. (2009), शिक्षा के दार्शनिक व सामाजिक आधार, इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाऊस, मेरठ।
2. पाण्डेय, डॉ. रामशकल (2007) 'शिक्षा के दार्शनिक व समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. पाठक, पी.डी. शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
4. शर्मा, आर.ए., 'सफल शिक्षण कला' विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
5. ओड, एल.के., शिक्षा के दार्शनिक समाजशास्त्रीय पीठिका।
6. त्रिपाठी, डॉ. देवीप्रसाद (2006), 'वास्तुसार' परिक्रमा प्रकाशन, शाहपुरा, दिल्ली।
7. जोशी, पं. केवल आनन्द (2007) सम्पूर्ण वास्तुशास्त्र, मनोज पब्लिकेशन्स, दिल्ली।
8. द्विवेदी, श्री विन्ध्येश्वरी प्रसाद, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी।
9. चतुर्वेदी, प्रो. शुकदेव, भारतीय वास्तुशास्त्र, अमर प्रिंटिग प्रैस विजय नगर, दिल्ली।
10. डॉ. विद्याधर (2010), भारतीय वास्तुशास्त्र का इतिहास, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली।
11. जुगनू, डॉ. श्री कृष्ण, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

देवीप्रतिमा विमर्श

कु. रितिका अग्रवाल

समराङ्गणसूत्रधार में वास्तुशास्त्र के आठ अङ्ग माने है जिनमें प्रथम सामुद्रिक शास्त्र, द्वितीय गणितशास्त्र, तृतीय ज्योतिष शास्त्र, चतुर्थ छन्दशास्त्र, पञ्चम दकार्गल, षष्ठ शिल्पशास्त्र, सप्तम यन्त्रशास्त्र तथा अष्टम विधि (समस्त प्रकार की विधियां) हैं।[1] सामान्यतः वस्तुतः वास्तुशास्त्र को तीन भागों में विभक्त माना गया है 1. वास्तु 2. शिल्प 3. चित्र।

देववास्तु, राजवास्तु एवं जनवास्तु को वास्तु के, प्रतिमा आदि धातु एवं पाषाण निर्माणशिल्प के तथा समग्र भित्तिचित्रों को आलेख के अन्तर्गत समाहित किया गया। 'मानसार' और 'मयमतम्' में केवल भवनों एवं प्रतिमाओं से सम्बन्धित विषयों का ही प्रतिपादन किया गया है। प्रमाण, लक्षण, रंग, द्रव्य, ताल-वर्ण, आयुध, आसन, वाहन आदि न केवल शुभ प्रतिमाओं के शुभ फलों की प्राप्ति की दृष्टि से अपितु शिल्पविद्या की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। यह विषय विष्णुधर्मोत्तरपुराण, शिल्परत्नम्, रूपमण्डन, देवतामूर्तिप्रकरण, वास्तुमञ्जरी, अपराजित पृच्छा आदि में भी आया है।

किसी भी सभ्यता में प्रतिमाएं धार्मिक विश्वास को परिलक्षित करती हैं। प्रतिमाओं के स्वरूप को देखकर हमें धार्मिक आस्था एवं धर्म के रूप का बोध होता है[2]। साथ ही मूर्तियां तो कला के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं, प्रतिमाओं का अध्ययन मन्दिर की मूर्तियों तक सीमित न होकर मानव जीवन के प्रत्येक पहलू से सम्बद्ध रखता है। इन प्रतिमाओं के अध्ययन से हमारी संस्कृति, हमारा गौरवशाली इतिहास जीवन्त हो उठता है[3]। चित्रकला प्रतिमा के अध्ययन का दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत है। प्राचीन चित्रकला द्वारा हम तत्कालीन देवी-देवताओं के स्वरूप के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं। उपासना के स्तर पर हम इस भक्ति भाव को किसी देवी-देवता के प्रति विशेष आसक्ति से भी प्रदर्शित कर सकते है[4]। प्रतिमापूजन का स्रोत निश्चित रूप से भक्ति

1. सामुद्रं गणित चैव ज्योतिषं छन्द एव च।
   सिरा ज्ञानं तथा शिल्पं यन्त्र कर्मणि धिस्तथा।।
   एतान्यंगानि जानीयाद् वास्तुशास्त्रस्य बुद्धिमान्।
   शास्त्रानुसारेणाभ्युदय लक्षणानि च लक्षयेत्।। समरांगणसूत्रधार 44/03-04
2. भारतीय प्रतिमाविज्ञान अध्याय-1 पृष्ठ 18,19
3. भारतीय प्रतिमाविज्ञान अध्याय-2 पृष्ठ 21
4. भारतीय प्रतिमाविज्ञान अध्याय-3 पृष्ठ 29

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मार्ग के प्रतिपादन के साथ-साथ ही उभरा। भक्ति मार्ग के प्रतिपादन का श्रेय उपनिषदों को ही देना चाहिए। देवी-देवताओं की शुभ प्रतिमा के लक्षण में नेत्र नीलकमल की आभा के समान कान्ति वाली, जो किनारे पर लालिमा युक्त हो (रक्तान्त) और आंख की पुतली काली हो, प्रसन्न मुद्रा में हो, दीर्घ (आयत, लम्बा, बडा) पक्ष्म (आँख की बरौनी) अर्थात् आंख की बरौनियाँ लम्बी विकसित हों[5], रुचिर हो, मनोहर हो। नेत्र गाय के दूध के समान उज्ज्वल हो, स्निग्ध (चिकने) हो, प्रसन्न मुद्रा हो ऐसे लक्षण वाली प्रतिमा लक्ष्मी और सुख दोनों को प्रदान करने वाली होती है। देवी-देवताओं की ऊबड़-खाबड़ (आडी-तिरछी) प्रतिमाएं मरण की कारक होती हैं। क्रोधित रूप के लक्षण वाली प्रतिमा विनाश को दर्शाती है। प्रमाणहीन और शुभ लक्षणों से रहित प्रतिमाएं हानि की सूचक होती हैं। प्रमाणहीन प्रतिमा में अथवा निषिद्ध प्रतिमा में सर्वदा पिशाच, दैत्य और दानव निवास करते हैं[6]। देवी-देवताओं की प्रतिमा चित्र के सभी लक्षणों से युक्त होनी चाहिए, देवी की प्रतिमा में चित्र के जितने लक्षण शुभ हो, वो मिले ऐसी उत्तम अथवा अतिश्रेष्ठ प्रतिमा सदैव प्रशंसनीय (व्यापक) होती है और आयु, यश, धन-धान्य में वृद्धि करने वाली होती है[7]।

ऋग्वेद में इन्द्राणी, वरुणानी, रुद्राणी आदि देवियों का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण, आरण्यक एवं संहिताएं देवी का उल्लेख अम्बिका, दुर्गा, काली इत्यादि रूप में करते हैं। भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में संग्रहीत देवी की स्तुतियां देवी स्वरूप की दिव्य दृष्टि प्रस्तुत करती हैं। दुर्गा देवी, लीला, महालक्ष्मी, सरस्वती, कालिन्दी (यमुना) सावित्री, कात्यायनी जैसी भगवती की मूर्तियाँ अष्टताल मानानुसार तैयार की जानी चाहिए[8]।

देवीलक्ष्मी लक्षण- सभी लोकों की शोभा लक्ष्मी से है। लक्ष्मी की मूर्ति का वर्णन दो स्थानों पर किया गया है। विष्णु की मूर्ति का विवरण देते हुए उनके पार्श्वदेवी के रूप में उल्लेख मिलता है। ये हाथ में कमल धारण किये हुए हैं।[9] लक्ष्मी के सुन्दर मनोरम रूप ने समस्त ब्रह्माण्ड को आकर्षित कर रखा है। विभिन्न सम्प्रदाय के लोग लक्ष्मी की किसी न किसी रूप में पूजा करते है। समुद्र मंथन भी तो लक्ष्मी को प्राप्त करने की भावना से किया गया था। लक्ष्मी समुद्र से प्रकट

---

5. चित्रसूत्र (वि.ध. पुराण में चित्रकला) अध्याय-5 पृष्ठ 63
6. चित्रसूत्र (वि.ध. पुराण में चित्रकला) अध्याय-5 पृष्ठ 69
7. चित्रलक्षणसंयुक्तं प्रशस्तं सर्वमुच्यते।
   आयुष्यं च यशस्य च धनधान्यविवर्धनम्।। चित्रसूत्र (वि.ध. पुराण में चित्रकला) अध्याय-2 पृष्ठ 14
8. दुर्गालीला महालक्ष्मीर्लक्ष्मीर्या तु सरस्वती।
   कालिन्दी चैव सावित्री नदन्दा पद्मावती तथा।
   कात्यायनी समाख्याता भगवत्यष्टकालतालका।। म.पु. 258.12 उद्धृत हिंदू देवप्रतिमा विज्ञान
9. भारतीय प्रतिभा विज्ञान अ. 3 पृ. 30

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

हुई और विष्णु की सहभागिनी हो गई। पद्म पर आसीन है और अपने दोनों हाथों में कमल धारण करती है, उनके गले में कमल का हार सुसज्जित रहता है, वे विभिन्न आभूषणों से सुसज्जित रहती हैं। दोनों और खड़े हाथी प्रायः उन्हें स्नान कराते हुए चित्रित किए जाते हैं। कमल से उनके अभिन्न सम्बन्ध के कारण उन्हें कमला या पद्मा के नाम से भी जाना जाता है।

विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार- उनका वर्ण श्याम है। अंशुमदमेदनागम के अनुसार[10]- लक्ष्मी को रत्नजड़ित स्वर्ण आभूषणों से सुसज्जित होना चाहिए। कमल के समान नेत्र, सुन्दर भौंहे और उभरे हुए वक्षस्थल, उनके सिर पर अनेक आभूषण, उनके दाहिने हाथ में कमल तथा बाएं हाथ में बिल्वफल है। सुन्दर वस्त्र तथा उनकी कमर पर सुन्दर अलंकृत करधनी होनी चाहिए। शिल्परत्न के अनुसार[11]- लक्ष्मी श्वेत वर्ण है। उनके बाएं हाथ में कमल तथा दाहिने हाथ में बिल्वफल है। रत्नों के हार से देवी सुशोभित होती है। दो स्त्रियां उनके ऊपर चंवर डुलाती है। विष्णुधर्मोत्तर लक्ष्मी की सुन्दर झांकी प्रस्तुत करते है। देवी आठ पंखुड़ियों वाले कमल सिंहासन पर विराजमान है। उनके ऊपर दाहिनी भुजा में बड़ी नाल वाला कमल, ऊपर के बाएं हाथ मे अमृत घट, नीचे के दाहिने हाथ मे बिल्वफल तथा बाएं हाथ मे शंख है। वह केयूर एवं कंकण से सुशोभित होती है। उनके पीछे दो हाथी उन्हें अभिषेक कराते है। अग्निपुराण के अनुसार- लक्ष्मी जी को चार भुजाओं वाली बताया गया है। उनके बाएं हाथ में गदा और कमल तथा दाहिनें हाथ में चक्र और शंख होना चाहिए। इस अग्निपुराण में ही उन्हें दो भुजावाली भी कहा गया है। उनके दाहिने हाथ में कमल तथा बाएं हाथ में बिल्वफल होना चाहिए। लक्ष्मी को जब विष्णु के साथ प्रदर्शित किया जाता है तो वह प्रायः गौरवर्ण तथा श्वेत वस्त्र धारण करती है।

लक्ष्मी देवी चतुर्भुजा[12] व सिंहासन पर बैठी हो, लक्ष्मी देवी का सिंहासन सुंदर कमल का हो।[13] लक्ष्मी देवी के सिंहासन वाले कमल मे आठ पंखुड़ी हो तथा उसे विनायक की तरह आसीन बनाया जाना चाहिए।[14] लक्ष्मी देवी की प्रतिमा में बायीं ओर अमृत का मनोहर कलश स्थित हो, उनकी दोनों वाम भुजाओं में बिल्वफल और शंख हो[15]। लक्ष्मी देवी के पृष्ठ भाग में अमृत पूरित कलश से अभिषेक करते हाथी होते हैं। और शीर्ष पर पद्म राशि सुन्दर प्रतीत होती है[16]।

10. अग्नि पुराण अंशुमदभेदागम उद्दत भारतीय प्रतिभाविज्ञान पृ. 56
11. शिल्परत्न वि.ध. उद्धृत भारतीय प्रतिमा विज्ञान अ. 6 पृ. 56,57
12. देवता मूर्ति प्रकरण अ. 8 पृ. 114
13. प्रथमा चतुर्भुजा कार्या देवी सिंहासने शुभो।
सिंहासनं प्रकर्त्तव्यं कमलं चारूकर्णिकम्।। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 114 श्लो. 106
14. वामेऽमृतघटः कार्यस्तथा तस्या मनोहरः।
तस्याः सव्यौ करौ कार्यो विल्वशंखधरौ क्रमात्।। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 114 श्लो. 109
15. अष्टपत्रं महाभागा कर्णिकायान्तु संस्तिथा।
विनायकवदासीना देवी कार्या महाभुजा।। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 114 श्लो. 107

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उदाहरण- लक्ष्मी देवी का प्रदर्शन सांची बोधगया और अमरावती में भी कहीं-कहीं देखने को मिलता है। यहां लक्ष्मी बैठी या खड़ी हुई अवस्था में प्रदर्शित की गई है। उनके हाथों में कमल है। दो हाथी उन्हें अभिषेक करा रहे है।

देवीसरस्वतीलक्षण- सरस्वती को विद्या एवं ज्ञान की देवी माना जाता है[17]। श्वेत वर्णा, अक्षमाला, वीणा, अंकुश एवं पुस्तक धारण करने वाली सरस्वती सहज में ही सबका मनमोह लेती है। ऋग्वेद में सरस्वती के नाम का वर्णन है। महाभारत उन्हें श्वेत कमलासीन, श्वेतवर्णा, करों मे अक्षमाला, पुस्तक एवं वीणा धारण किए हुए दर्शाता है। स्कन्द पुराण के अनुसार सरस्वती के सिर पर जटाजूट मस्तक पर अर्धचन्द्र, तीन नेत्र एवं नीलकण्ठ है। वह कमलासीन है। सरस्वती के इस स्वरूप के आधार पर ही शायद विद्वान उन्हें शिव से जोड़ते है। जटाजूट, अर्धचन्द्र, तीननेत्र, चन्द्रमा के समान शीतलता, उनके त्रिकालदर्शी होने का संकेत करते है जबकि नीलकण्ठ होना दूसरों के विष को पीकर उन्हें अमृत पिलाने का बोध कराता है। गुणों के आधार पर सरस्वती ब्रह्मा और शिव दोनों के करीब है। सरस्वती कमल पर विराजमान होती है और वीणा बजाती हुई दिखाई जाती है। भारतीय संगीत की पावन धारा सरस्वती के पवित्र चरणों से शुरू होती है। हंस उनका वाहन है जिनके श्वेत आभायुक्त पंख उज्ज्वलता एवं पवित्रता का बोध कराते हैं।

सरस्वती की प्रतिमाएं एक मुख वाली, चार भुजा वाली, सिर पर मुकुट विराजित, प्रभामण्डल वाली, कुण्डलों से सुशोभित शिरोभूषण वाली हैं[18]। कुल बारह सरस्वती देवियों के प्रकार है।[19]

अक्षमाला, कमल, वीणा तथा पुस्तक को अपनी चारों भुजाओं में क्रमानुसार धारण करने वाली देवी महाविद्या है[20]। अक्षमाला, पुस्तक, वीणा तथा पद्म को अपनी चारों भुजाओं में क्रमानुसार धारण करने वाली देवी महावाणी है।[21] वरद मुद्रा, अक्षमाला, कमल तथा पुस्तक को अपनी चारों भुजाओं में क्रमानुसार धारण करने वाली देवी भारती है।[22] वरदमुद्रा, माला, कमल तथा पुस्तक को अपनी चारों भुजाओं में क्रमानुसार धारण करने वाली देवी सरस्वती है। अपनी भुजाओं में वरदमुद्रा,

---

16. आवर्जितघटं कार्य तत्पृष्ठं च करद्वयम्।
देव्याश्च मस्तके पद्मं तथा कार्यं मनोहरम्।। भारतीय प्रतिभा विज्ञान अ. 6 पृ. 58
17. ऋग्वेद महाभारत स्कन्दपुराण उद्धृत। भारतीय प्रतिमा विज्ञान अ. 6 पृ. 58
18. देवता मूर्ति प्रकरण पृ. 110 श्लोक 83
19. एक वक्त्राः चतुर्भुजा मुकुटेन विराजिताः।
प्रभामण्डलसंयुक्ताः कुण्डलान्वितशेखराः।। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 110 श्लो. 83
20. अक्षं पद्मं वीणापुस्तकं महाविद्या प्रकीर्त्तिता। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 110 श्लो. 84
21. अक्षं पुस्तकं वीणा पद्मं महावाणी च नामतः। दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 110 श्लो. 84
22. वराक्षपद्मपुस्तकं शुभावहा च भारती
वराक्षं पुस्तकं पद्मं आर्या नाम प्रकीर्तिता।। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 110 श्लो. 85

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अक्षमाला, कमल तथा पुस्तक को धारण करने वाली आर्या देवी का नाम सरस्वती है[23]। वरद् पुस्तक, माला तथा पद्म को धारण करने वाली ब्राह्मी नामक देवी है। वह सुख प्रदायिनी है। वरद् मुद्रा, कमल, वीणा तथा पुस्तक को चारों भुजाओं में धारण करने वाली महाधेनु नामक देवी सरस्वती है[24]। वरदमुद्रा, पुस्तक, वीणा तथा कमल को धारण करने वाली वेदगर्भा नाम की देवी सरस्वती है। अक्षमाला, अभयमुद्रा, कमल तथा पुस्तक को धारण करने वाली ईश्वरी नामक देवी सरस्वती है[25]। अभयमुद्रा, अक्षमाला, पुस्तक तथा कमल को धारण करने वाली महालक्ष्मी नामक देवी सरस्वती है। अक्षमाला, कमल, पुस्तक तथा अभय को धारण करने वाली महाकाली नाम की देवी सरस्वती है[26]। अक्षमाला, पुस्तक, अभयमुद्रा तथा पद्म को धारण करने वाली देवी महासरस्वती है[27]।

अंशुमदभेदागम के अनुसार सरस्वती श्वेतवर्णा है। एवं श्वेत वस्त्रों से सुसज्जित श्वेत कमल पर आसीन होती है। उनका एक दाहिना हाथ अक्षमाला धारण किए हुए तथा दूसरा दाहिना हाथ व्याख्यान मुद्रा में है। उनके बाएं हाथों में पुस्तक और सफेद कमल है। उनके सिर पर जटा मुकुट शोभायमान होता है और वह विभिन्न आभूषणों से अलंकृत हो रही है[28]। विष्णुधर्मोत्तर सरस्वती को श्वेत कमल पर खड़ी और अपनी चार भुजाओं में से दाहिने दोनों हाथों में अक्षमाला एवं पुस्तक, बाएं हाथों में कमण्डल तथा वीणा लिए हुए बताते हैं। कमलासीन सरस्वती वीणा, अक्षमाला, पुस्तक एवं कमण्डल धारण करती हैं। कंकाली टीला से प्राप्त सरस्वती प्रतिमा सुन्दर आभूषणों से सुसज्जित है[29]।

देवी दुर्गा लक्षण- दुर्गा की उपासना अनेक रूपों में होती रही है। कल्प के अन्तर्गत दुर्गा अनेक रूपों में प्रदर्शित की गयी है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में दुर्गा आठ भुजाओं वाली सिंह पर आरूढ़ कही गयी है। वे अपने एक हाथ में चन्द्र-बिम्ब को धारण करती है- उनके अन्य तीनों हाथों में शूल, चक्र तथा कपाल रहता है। आगम ग्रन्थों में दुर्गा चार, आठ या उससे अधिक भुजाओं वाली

---

23. वराम्बुजाक्षपुस्तकं सरस्वती प्रकीर्तिता। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 111 श्लो.
24. वरपुस्तकाक्षपद्मं ब्राह्मी नाम सुखावहा।
वरपद्मवीणापुस्तकं महाधेनुश्च नामतः।। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 111 श्लो. 86
25. वरञ्च पुस्तकं वीणां वेदगर्भा तथाऽम्बुजम्।
अक्षं तथाऽभयं पद्मं पुस्तकेनेश्वरी भवेत्।। देवता मूर्ति प्रकरण पृ.111 श्लोक 85-89
26. अभयाक्षं +1 पुस्तकं च महालक्ष्मीस्तथोत्पलम्।
अक्षं पद्मं पुस्तकं च महाकाल्यमभयं तथा।। +1 पाठांतर- अक्षं पध्यं तथा (असपप्तं) दे.मू.प्र. 111 श्लो. 88
27 अक्षपुस्तकमभयं पद्मं महासरस्वती।। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 111 श्लो. 89
28 अशुंमदमेदागम उद्धृत भारतीय प्रतिमा विज्ञान पृ. 59
29 विष्णुधमोत्तर उद्धृत भारतीय प्रतिमा विज्ञान पृ. 60
वि.ध. 115 (17-19 उद्धृत प्रतिमा विज्ञान अ. 4 पृ. 176-177)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

रहती है तो आगे का दाहिना हाथ अभय मुद्रा में एवं पीछे के हाथ में चक्र रहता है। आगे के बाएं हाथ मे खेटक तथा पीछे के बाएं हाथ में शङ्ख पकड़े रहती है[30]। वे पद्मासन पर खड़ी हुई या महिष की पीठ अथवा सिर पर बैठती है। उनका वक्षःस्थल लाल वस्त्र के द्वारा ढ़का रहता है[31]। सुप्रभेदागम इन्हें विष्णु की छोटी प्रिय बहिन बतलाता है। ये आदि शक्ति से निकली हुई आठ भुजा वाली है। आठों हाथों में शङ्ख, चक्र, शूल, धनुष, बाण, खड्ग, खेटक तथा पाश रहता है। इनके नीलकण्ठी, क्षेमकरी, हरसिद्धि, रुद्रांशदुर्गा, वनदुर्गा, अग्निदुर्गा, विन्ध्यवासिनी दुर्गा, रिपुहारिदुर्गा ये नव रूप है जिनका आगम ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन हुआ है। दुर्गा देवी पद्म के आसन पर विराजमान है। दुर्गा के आठ हाथ हैं जिनमें शक्ति, बाण, शूल, खड्ग, चन्द्रबिम्ब, खेटक तथा कपाल आदि आयुध है। वे महिष के सिर पर खड़ी हुई बनी होती हैं।

नवदुर्गा में आदि रूपेण महालक्ष्मी, नंदा, क्षेमकरी, सर्वती, महरण्डा, भ्रमणी, सर्वमंगला, रेवती और हरसिद्धि ये नव नाम है[32]।

महालक्ष्मी वरद मुद्रा, त्रिशूल, ढाल तथा पानपात्र को धारण करने वाली है। इस प्रतिमा में नीलकण्ठ (शिव) व नाग भी बनाया जाना चाहिए[33]। नंदा देवी अक्षमाला, खड्ग, ढाल तथा पानपात्र को धारण करने वाली है। वह सुख प्रदायिका है, अतः पूजनीय है[34]। वरद मुद्रा, त्रिशूल, पद्म तथा पानपात्र को धारण करने वाली देवी क्षेमकरी है। वह कल्याण तथा आरोग्य प्रदान करती है[35]। कमण्डलु, चक्र, ढाल, तथा पानपात्र को धारण करने वाली देवी का नाम सर्वती है। सर्वसिद्धि प्रदायिनी है[36]। खड्ग, त्रिशूल पानपात्र को धारण करने वाली देवी महरण्डा है। वह देवता द्वारा

---

31 सौम्य पीताम्बरोपेता सर्वाभरणभूषिता।
नागेन्द्रेण स्तनबद्ध्वा रक्तकञ्चुकधारिणी।। अंशु.आ.आ. 31

32 आद्यौ तत्र महालक्ष्मीर्नन्दा क्षेमङ्करी तथा।
सर्वती महरण्डा च भ्रमणी सर्वमंगला।। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 116
रेवती हरसिद्धिश्च नवदुर्गाभिधानकम्।
पृथगे कैकस्यानुक्रमं कथयिष्याम्यनुक्रमात्।। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 106, 107

33 वरदं त्रिशूलं खेटं च पानपात्रं च विभ्रती।
नागं नीलकण्ठमध्ये महालक्ष्मी प्रकीर्त्तिता।। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 106 श्लो. 52

34 अक्षसूत्रं खड्गखेटं पानपात्रं तथोत्तमम्।
नन्दा नाम1 समाख्याता पूज्यते नन्दहेतवे।। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 106 श्लो. 53

35 वरदं त्रिशूल पद्मं च पानपात्रं विधृत्करे।
क्षेमंकरी तथा नाम क्षेमारोग्यप्रदायिनी।।
सर्वती च तदा नाम सर्वसिद्धि प्रदायिनी।। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 106 श्लो. 54

36 कमण्डलुं चक्रखेटं पानपात्रे तथोत्तरे। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 106 श्लो. 55

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वन्दनीय है[37]। खड्ग, डमरु, ढाल तथा पाश को उत्तम भुजाओं में धारण करने वाली देवी भ्रमणी है। वह दुष्टों को भ्रम में डालने वाली है[38]। अक्षमाला, वज्र, घण्टा तथा पानपात्र को धारण करने वाली सर्वमंगला है। वह मंगलकरणी तथा सर्वविघ्नों का नाश करने वाली है[39]। दण्ड, त्रिशूल, खट्वाङ्ग तथा पानपात्र को धारण करनेवाली देवी का नाम रेवती है। वह सर्वशान्ति प्रदायिनी[40] है। कमण्डलु, खड्ग, डमरु तथा पानपात्र को धारण करने वाली देवी हरसिद्धि है। वह सभी की सिद्धि की हेतु है[41]। दुर्गा शक्ति एवं शौर्य का प्रतीक है। वह दुष्टों का संहार कर अपने भक्तों की रक्षा करती है।

प्राचीन काल से ही देवी के इस अद्भुत रूप की बड़े-बड़े शूरवीरों ने आराधना की है और विजयलक्ष्मी प्राप्त की है। दुर्गा देवी को संरक्षक देवी के रूप में प्रतिष्ठापित कर राजा-महाराजाओं ने अपने राज्य की रक्षा करने की केवल शक्ति ही नहीं प्राप्त की अपितु उनकी अनुकम्पा से अनेक संग्रामों में विजयलक्ष्मी हासिल कर अपने राज्य का विस्तार भी किया। यही कारण है कि अनेक प्राचीन सिक्कों एवं मुद्राओं पर देवी के किसी न किसी स्वरूप का अंकन देखने को प्राप्त होता है। आठ भुजाओं वाली प्रतिमा के हाथों में शंख, चक्र, शूल, धनुष, बाण, खड्ग, खेटक और पाश होना चाहिए। विष्णुधर्मोत्तर में दुर्गा के स्वरूप का बड़ा मनोरम चित्रण है। देवी सिंहासनारूढ है और उनकी आठ भुजाएं हैं। उनके दाहिने हाथों में बाण तथा शूल, खड्ग, एवं चक्र है तथा वह अपने बाएं हाथ में शूल, चक्र, कपाल तथा चन्द्रबिम्ब लिए हुए है। आगम ग्रन्थों में दुर्गा के चार, आठ या बहुत से हाथ हैं। उनके त्रिनेत्र हैं और उनका वर्ण श्याम है और शरीर को सुडौल एवं सुन्दर दर्शाया जाना चाहिए और विभिन्न आभूषणों से अलंकृत होना चाहिए। देवी के सिर पर करण्ड मुकुट सुशोभित होता है। जब उन्हें चतुर्भुजी दर्शाया जाए तो उनका सामने का दाहिने हाथ में चक्र होना चाहिए। सामने का बायां हाथ में करट मुद्रा में तथा पिछले बाएं हाथ में शंख होना

---

37 खड्ग तथा त्रिशूलं च घण्टापात्रं तथोन्नतम्।
महरण्ड तथा नाम वन्दिता त्रिदशैरपि।। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 106 श्लो. 56

38 खड्ग डमरुखेटपाशं विभ्रती च करोत्तमैः।
भाम्रणी च तदा नाम भ्रामयेद् दुष्टचेतसः।। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 106 श्लो. 57

39 अक्षसूत्रं तथा वज्रं घण्टापात्रं तथोत्तमम्।
सर्वमंगला मङ्गल्या सर्वध्निविनाशिनी।। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 106 श्लो. 58

40 दण्डं त्रिशूलं खट्वाङ्ग पानपात्र च विभ्रती।
रेवती च तदा नाम सर्वशन्तिप्रदायिनी।। –दे.मू.प्र. अ. 8 पृ. 107 श्लो. 59

41 कमण्डलु तथा खड्गडमरूं पानपात्रं तथा शुभम्।
हरसिद्धिस्तदा नाम सर्वस्य सिद्धिहेतवे।। अपरजितपृच्छा 1345-1347

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

चाहिए। वह पद्मासन पर सीधी खड़ी दिखाई जाती है या भैंसे के सिर पर खड़ी दिखाई जा सकती है, या सिंह पर सवार हो सकती है। यह लाल रंग की चोली धारण करती है जिसे सर्प बांधे रहते हैं। भारत के विभिन्न दुर्गा मन्दिरों में देवी को सिंहारूढ दिखाया गया है। वह प्रायः लाल रंग की साड़ी तथा विभिन्न आभूषणों से सुसज्जित होती है। उनके सिर पर मुकुट तथा आठ हाथों में से सात हाथों में खड्ग, त्रिशूल, चक्र, कमल, धनुष, गदा और शंख होते हैं। उनका आठवां हाथ वरद मुद्रा में होता है उनकी पूजा भारत में आदिकाल से श्रद्धा एवं विश्वास से होती आई है। नव दुर्गा की पूजा वर्ष में नौ दिनों तक उपवास रखकर की जाती है। उनकी भक्ति में जागरण किए जाते हैं। ऐसी मान्यता है कि नव दुर्गा की पूजा से विभिन्नफल प्राप्त होते हैं और शारीरिक एवं आत्मिक शक्ति की वृद्धि होती है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

Energy Conservation and Open Spaces in Buildings

Dr. Sharma Munish

Energy plays a very important role in today's life. It doesn't mean that energy was not important earlier for older generations but it means that earlier life was depended of energy on smaller scale but now the scale has enhanced. Most of the day to day human activities, the life style is not possible without availability of plenty of energy. Energy generally is available from various natural resources like fossil fuel, Hydro, wind and solar energy. Energy is known as a 'strategic commodity' and any uncertainty about its supply can threaten the living and functioning of the human society of the day[1]. Buildings are major consumers of the energy, it represent **32%** of total final energy consumption.[2] Throughout the life cycle of buildings; it consumes energy via a series of interconnected human activities and natural processes.

India is one of the warmest countries in the world. The spiraling urban growth, the number of buildings, energy consumption and the resultant carbon emission is on a rise in the country. **As per the 17th Electrical Power Survey (EPS)**[3] of the Central Electricity Authority, the electricity demand is likely to increase by 39.7% in 2011-12 as compared to 2006-07, by another 43.7% in 2016-17 as compared to 2011-12 and by yet another **37.5%** in 2021-22 as compared to 2016-17. With a near consistent 8% rise in annual energy consumption in the residential and commercial sectors, building energy consumption has seen a increase from 14% in the 1970s to nearly 33% in 2004-05. Electricity use in both residential and commercial sectors is primarily for lighting, space conditioning, refrigeration, appliances and water heating.

---

1. Energy Statistics **2013**
2. International Energy Agency- https://www.iea.org/aboutus/faqs/energyefficiency/
3. Sustainable Buildings and Construction for India: Policies, Practices and Performance, UNEP (2007)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

As per the report (Environment and energy sustainability: An Approach for India)[4] there is likely increase in energy consumption from 140 TWh in 2005 to 1200 TWh by 2030. This increase in consumption will be due to increase in demand of air-conditioning as affordability and power supply increases. By 2030 over 60% of commercial spaces likely to be air-conditioned.

Considering the fact of high consumption of energy in the present and in the future there is a need to change the approach towards designing and usage of buildings and open spaces. During the Eleventh Five Year Plan, nearly 55,000 MW of new generation capacity was created, yet there continued to be an overall energy deficit of 8.7 per cent and peak shortage of 9.0 per cent. Being building as one of the major consumer of energy, that came majorly from fossil fuel as in case of India, there is dire need to promote saving of energy by various means and architects can play a role in that.

II. NEED OF ENERGY SAVING

The increasing demand for power has led to considerable fossil fuels burning which has in turn had an adverse impact on environment. In this context, efficient use of energy and its conservation is of paramount importance. It has been estimated that nearly 25,000 MW can be saved by implementing end-use energy efficiency and demand side management measures throughout India. Efficient use of energy and its conservation assumes even greater importance in view of the fact that one unit of energy saved at the consumption level reduces the need for fresh capacity creation by 2.5 times to 3 times.[5]

There are numerous ways to energy saving i.e. by one is Energy Conservation and another is Energy efficiency.

Energy Conservation means performing the energy consuming activity for less number of time/duration resulting saving of energy. On the other hand, Energy efficiency means performing the energy consuming activity by using various techniques to consume less energy, resulting saving of energy.

Considering the fact of high consumption of energy in buildings in present and in the future, there is a need to change the approach towards designing and

---

4. McKinsey & Company, Environmental and Energy Sustainability: An approach for India
5. http://www.mahaurja.com/PDF/needec.pdf

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

usage of buildings and open spaces. There are various different possibilities to it, one is by reduction in energy consumption (energy conservation and energy efficiency) and another is by generation of energy. It can also be demonstrated as Sustainable approach by restoration and regeneration of natural resources using open spaces in and around the buildings on site.

III. ENERGY SAVING: BUILDINGS AND OPEN SPACES

Sustainable approach is an approach which generally describes environmentally conscious design techniques to minimize the negative environmental impact of buildings by enhancing energy efficiency and conservation through the use of materials, techniques and open spaces in and around the buildings.

While considering any site there are two things, One is Building and another is Open Space surrounding the building and/or within the building. Although these are of equal importance but the built form in general enjoy a little preference over the open spaces. But these are the open spaces which actually promote & help in energy saving in the buildings. It may be considered because of its functioning the built forms are primarily energy consumers and on the other hand the Open spaces are energy producers (as it is said Energy saving is energy producing). Provision of open spaces like streets, pathways, court yards, terraces/balconies of suitable sizes and at proper locations not only provide good and healthy living conditions to the inmates but also help in achieving energy saving through light & ventilation.

Vaastu and Open spaces : Indian culture and civilization has survived thousand of years because it is based on the strong foundation of the wisdom known as "Vedas"[6]. The use of Vaastu which is rooted in Hinduism philosophy dates back to the Vedic period.

Vaastu, Shastra being an ancient, knowledge of architecture, also defined the importance of Open spaces. It clearly explains the importance of arrangement of built forms and open spaces on the plot/site respectively. Vaastu Shastra tells the Building placements w.r.t. the Eight Cardinal Directions like N,S,E,W,NE,NW,SE,SW, which not only enhance the functionality of building

6. http : // www.theijhss.com

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

but also help in energy conservation. Vaastu is the scientific study of directions, which aims at utilizing the natural energies. As a science, it extracts the positive energy from the natural elements of the universe –the panchbhootas, namely - earth, water, air, sun and sky.[7] As per Vaastu the placement of Open spaces add to the quantity and quality for energy conservation. The Vaastu explained the areas to be kept open on site not only control the flow of cosmic, global and telluric energies but also enhanced the potential of being utilized and conserved through various methods.

Orientation (The Doctrine of orientation-Vaastu principal): Vaastu Shastra being evolved while keeping in mind the influence of Sun and the magnetic fields of earth on living beings. The Sun rays being rich of Vitamin D being vital substance for life on earth, the early morning eastern rays with more light and less heat are best in view of comfort of living and freshness for the day. Precision of equinoxes- UTTARAYAN and DAKSHINAYAN are of great scientific importance so Vaastu recommend.

* More windows and more open spaces/areas in East & North-East direction, which allow the vitamin-D rich U/V rays to penetrate in to the house.

* Solid and Thicker Walls/masses in the west & south West direction stopping and reducing to considerable extent the Infra-red rays which are detrimental to health while sun moving to west in day hours/afternoon.

The positioning of structures (or) buildings with respect to natural (Surrounding) thing like the solar radiation, wind flow is said to be 'Orientation'. For Energy conservation point of view orienting the building according the function and type of the building keeping in mind the location of site, so that it provide maximum use of Sun during the period it is needed and avoid it when cooling in necessary. Building components must be designed with a view to a collect solar heat through windows and brick walls to store heat or cool and give it when required. In winter, thick walls allow solar radiation to penetrate the building where it is stored then released during periods of low or negative solar gain. Thick walls cool the room during the day by retarding the flow of heat. The Solar heat gain is maximum in December in Dakshinayan i.e West and south-

7. http : // www.ajast.net/data/uploads/00028.pdf

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

west and is very less in the month of June. i.e. Uttrayan. So it is evident as per vaastu sayings that the orientation of function/activity based spaces and vice-versa in building with opening at suitable sizes reduces the consumption of electric power, as a result it saves the natural recourses of electric production (i.e. fossil fuel, water etc.) which is nothing but energy conservation. Now it is important to mansion here that functioning of openings in buildings will only work if there is suitable open space outside of feed the opening in terms of light and ventilation. The opening placed in most suitable place can be used to produce eletric energy by installing such arrangements.

Technology: Today very advanced technologies are available in terms of Photo Voltaic cell panels for walls, window pans, PVC roof tiles, Solar street lights, Solar cooking and heating equipments, Wind power. All such technologies can be applied to the buildings which not only save the cost factor but also help in saving the energy at a whole. Such technology will only function in the open area to feed from sun light and wind velocity. So the open spaces play a silent but important role in the efficient function of all technologies of the modern world.

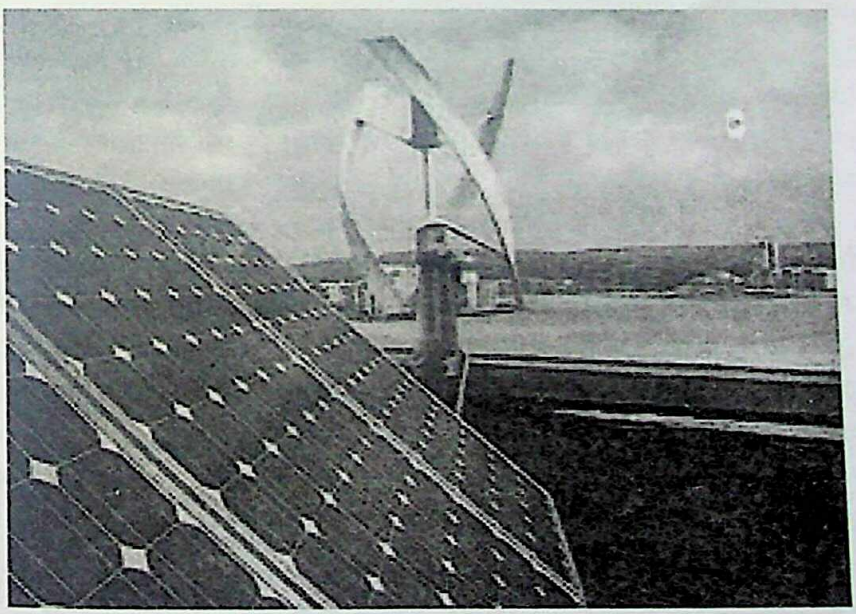

Fig. 1. Photo Voltaic cell panels installation on Open Roof Top

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

Rain Water Harvesting: It is another technique which must be applied to the building, in which roof top and run of rain water is stopped, stored, channelized to lower ground to enhance the lower ground water lable of the region. By doing this, The energy consumption to pump water from lower ground is reduced as the water is easily available at lesser depth and require lower power pumping unit, which is nothing but saving of energy and restoration of natural water resource.

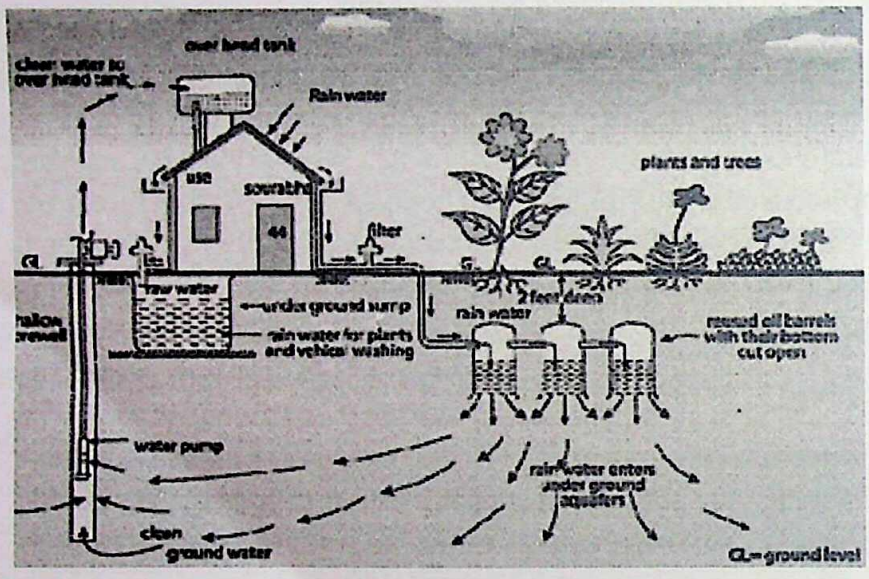

Fig. 2 Basic Rain water Harvesting Mechanism

Micro Climate: The open spaces also help in maintaining the micro climate of the sites not only by regular landscape but also through roof top agriculture. The landscape elements and roof top agriculture help in controlling the temperature in various seasons, wind speed and the aesthetics. The micro climate developed in such a way reduces the consumption of energy for heating during winters and cooling during summers, as s result increases energy conservation.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

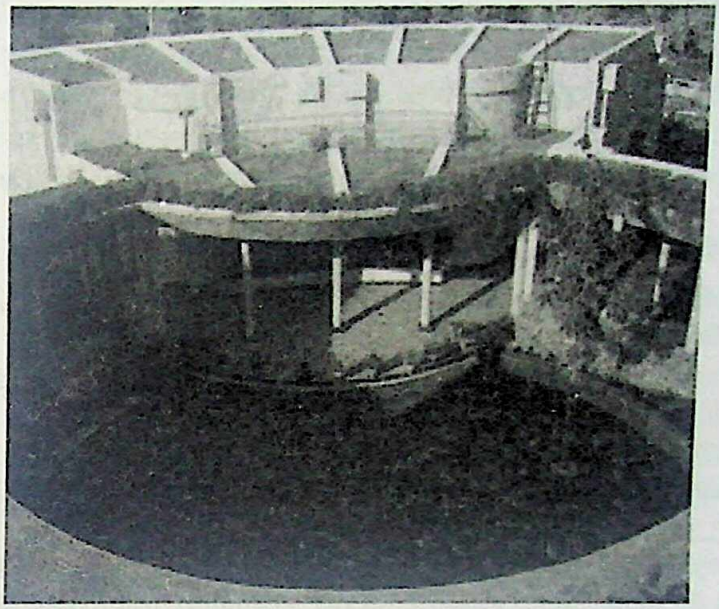

Fig. 3 Terrace Agriculture on Roof tops

Following the sustainable design approach and using the open spaces in and around the building to the maximum possible extent not only have distinct advantages in terms of saving money on energy costs but also reduction of adverse impact on the environment through the reduced consumption of resources, use of fossil fuels, increased comfort levels achieved through effective use of natural light and ventilation, restoration of natural resources of site.

IV. CONCLUSION

In a scenario where India tries to accelerate its development process and cope with increasing energy demands, conservation and energy efficiency measures are to play a central role in our energy policy. A national movement for energy conservation can significantly reduces the need for fresh investment in energy supply systems in coming years. It is imperative that all-out efforts are made to realize this potential. Energy conservation is an objective to which all the citizen in the country can contribute. Whether a household or a factory, a small shop or a large commercial building, a farmer or an office worker, every user and producer of energy can and must make this effort for his own benefit,

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

as well as that of the nation.[8] In such efforts the building design and the open spaces in and around building play significant role, so must be taken care off. At the end of this paper another key note is that saving of energy is only possible through educating the general public and increasing the public participation by one to one teaching-learning program at various societal levels and increasing the factor of responsibility to various stack holders of the Indian society.

V. REFERENCES

[1] Ministry of statistics and programme implementation, Govt. of India, *Energy Statistics 2013*, 20th ed. New Delhi, 2013.

[2] International Energy Agency [Available Online] https://www.iea.org/aboutus/faqs/energyefficiency

[3] Teri, *Sustainable Buildings and Construction for India: Policies, Practices and Performance*, UNEP 2007, [Available Online] www.teriin.org/events/DSDS/Sus_bldg_paper.pdf

[4] McKinsey & Company Inc. *Environmental and Energy Sustainability: An approach for India,* New Design Australia, Magnum Custom Publishing, New Delhi, 2009.

[5] (2011) Maharashtra Energy Development Agency, *Need of Energy Efficiency in India*, [Available Online] http://www.mahaurja.com/PDF/needec.pdf.

[6] Sayeed, P.M. Minister of Power's article, *Energy Conservation in India*, 2005, [Available Online] http://powermin.nic.in/whats_new/pdf/Ministers_artical.pdf

[7] Koenigsberger O.H., Ingersoll T.G., Mayhew A. and Szokolay S.V., *Manual of Tropical Housing and Building climate Design,* Orient Longman Pvt. Ltd., Chennai,1975.

[8] The Rio Declaration on Environment and development, 1992.

[9] Jong-Jin Kim, *Introduction to Sustainable Design*, National Pollution Prevention Center for Higher Education, Ann Arbor, 1998.

[10] Norma Khoury-Nolde, *Rainwater Harvesting*, Zer0M,Germany.

[11] Latini,G., Grifoni, R. Cocci , Tascini,S., *Thermal Comfort and Microclimates in Open Spaces*, Ashrae, 2010.

[12] Nina Morris, *Health, Well-Being and Open Space* , Literature Review, Edinburgh, 2003.

[13] Gupta Vinod, *Conservation in office building*, ARCHITECTURE+DESIGN May-June , 1992.

[14] Dr. Chetankumar. J Lad, *A Role of Energy Efficient System in Textile Industry of India*, Volume : 2 , Issue : 3, March 2013.

8. http://powermin.nic.in/whats_new/pdf/Ministers_artical.pdf

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली - 110016

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri Research Academy